गांधी
वैष्णव जन

नरसी मेहता के सुप्रसिद्ध भजन 'वैष्णव जन' के आधार पर आदर्श पुरुष गांधीजी की मान्यताओं, आदर्शों एवं विचारों पर प्रकाश डालनेवाले संस्मरण, विचारपूर्ण लेख तथा लघु कथाएं

डा० जाकिर हुसैन
राष्ट्रपति, भारतीय गणराज्य
के
'दो शब्द' सहित

संपादक
हरिभाऊ उपाध्याय
यशपाल जैन

१९६९

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

पहली बार १९६९

●●

मूल्य
सचित्र
सजिल्द साढ़े सात रुपये

अजिल्द चार रुपये

●●

मुद्रक
नया हिन्दुस्तान प्रेस,
दिल्ली

प्रकाशकीय

प्रस्तुत संग्रह में उन रचनाओं का संकलन किया गया है, जो 'वैष्णव जन' के गुणों पर प्रकाश डालती हैं। 'वैष्णव जन' गांधीजी का अत्यन्त प्रिय भजन था और इसे वह प्राय: अपनी प्रार्थना में सुना करते थे। इसमें मानव की उन विशेषताओं का वर्णन है, जो उसे श्रेष्ठता प्रदान करती हैं। समाज-रचना की बुनियाद में गांधीजी इन्हीं विशेषताओं को प्रतिष्ठित करना चाहते थे।

इस संग्रह में पाठकों को ऐसी रचनाएं भी पढ़ने को मिलेंगी, जो गांधीजी के स्वयं के जीवन में उन गुणों को दर्शाती हैं। वस्तुत: गांधीजी सच्चे अर्थों में वैष्णव जन थे।

इन सब रचनाओं के साथ-साथ पाठक इस संग्रह में मानवीय धरातल की कविताएं तथा लघु कथाएं भी पढ़ेंगे। ये कविताएं तथा कथाएं हमें अच्छा मनुष्य बनने की प्रेरणा देती हैं।

कुल मिलाकर यह संग्रह न केवल उपयोगी है, अपितु चरित्र-निर्माण की प्रेरणा देनेवाला भी है।

इस पुस्तक की सामग्री के संकलन में 'जीवन-साहित्य' के 'वैष्णव जन' अंक से विशेष सहायता ली गई है।

हमें हर्ष है कि इस पुस्तक का प्रकाशन गांधी जन्म-शताब्दी वर्ष में हो रहा है। विश्वास है कि इसका सभी क्षेत्रों में स्वागत होगा।

—मन्त्री

वैष्णव जन बापू का प्यारा भजन है। उस में यह बताया गया है कि सच्चा वैष्णव जन तो वही है जो पराये की पीड़ा को समझे, जो हरेक से मुहब्बत करे, चाहे वह किसी भी जाति, मजहब व रंग का क्यों न हो। इस माने में गांधी जी सच्चे वैष्णव जन थे। उनकी जिन्दगी का हर पहलू अनोखा था और उनकी हर बात अनमोल थी। उनके बताये रास्ते पर चलने और उनकी बातों पर अमल करने की यदि हम कोशिश करें तो देश का भला होगा।

राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-४

जाकिर हुसैन

विषय सूची

वैष्णव जन की कसौटी और गांधी-चरित्र

साधना के सोपान

वैष्णव जन

वैष्णव जन

वैष्णव जन

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड पराई जाणे रे,
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोकमां सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे,
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे।
समदृष्टी ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे,
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहीं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे।
रामनामशुं ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे।
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे,
भणे नरसैयो तेनुं दरसन करतां, कुल एकतेर तार्या रे।

—नरसी महेता

वैष्णव जन कौन ?

मो० क० गांधी

नरसिंह महेता[1] ने वैष्णव के जो लक्षण बताये हैं, उनसे हम देखते हैं कि वह :

१. परदु:ख-भंजक होता है।
२. फिर भी निरभिमानी होता है।
३. सबकी वन्दना करता है।
४. किसीकी निन्दा नहीं करता।
५. वाचा दृढ़ रखता है।
६. आचार दृढ़ रखता है।
७. मन दृढ़ रखता है।
८. वह समदृष्टि होता है।
९. वह तृष्णारहित होता है।
१०. एक पत्नी-व्रत पालता है।
११. सत्यव्रत पालता है।
१२. अस्तेय पालता है।
१३. मायातीत होता है।
१४. वीतरागी होता है।
१५. रामनाम में तल्लीन होता है।
१६. पवित्र होता है।
१७. लोभ-रहित होता है।
१८. कपट-रहित होता है।
१९. काम-रहित होता है।
२०. क्रोध-रहित होता है।

इसमें वैष्णव शिरोमणि नरसिंह महेता ने अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है अर्थात् जिसमें प्रेम नहीं वह वैष्णव नहीं है। अपनी प्रभाती में उन्होंने सिखाया है कि 'वेद' पढ़ने से, वर्णाश्रम-धर्म का पालन करने से, कंठी पहनने से अथवा तिलक लगाने से कोई वैष्णव नहीं हो जाता। ये सब पाप के मूल हो सकते हैं। पाखण्डी भी माला पहन सकता है, तिलक लगा सकता है, 'वेद' पढ़ सकता है, मुख से रामनाम का जाप कर सकता है, लेकिन पाखण्डी रहते हुए सत्याचरणी नहीं बना जा सकता, पाखण्डी परपीड़ा का निवारण नहीं कर सकता और पाखण्ड के रहते हुए चंचल चित्त को निश्चल नहीं रखा जा सकता।

१. १४१४-१४७८, गुजरात के सन्त कवि। इनका यह भजन आश्रम में प्रार्थना के समय गाया जाता था।

गांधी-चरित्र : 'वैष्णव जन' का भाष्य

काका कालेलकर

●

'वैष्णव जन तो तेने कहिये' इस भजन का गांधीजी की धर्म-साधना में असाधारण महत्व है। उनकी नित्य की प्रार्थना में तो इस भजन को स्थान था ही, लेकिन जब-जब उन्होंने अपने जीवन-कार्य में अथवा राष्ट्र की स्वराज्य-साधना में महत्व का उद्यम उठाया, तब-तब उन्होंने भक्ति-नम्र होकर इसी भजन को गाया।

गांधीजी के सर्व-धर्म-समभाव के सिद्धान्त का स्मरण करते याद आता है कि जब कभी किसी उच्चपदस्थ ब्रिटिश राज्यकर्ता से खास काम के लिए मिलने का अवसर आता था और पेचीदा मामला सुलझाने की आवश्यकता अनुभव होती थी, तब गांधीजी अचूक ईसा मसीह के 'गिरि प्रवचन' को याद करते और उसे पढ़कर ही मुलाकात के लिए जाते थे। विरोधियों के प्रति विरोधी भावना मन में उठने न देना, विरोधियों के हृदय में रहनेवाले नारायण को याद करके उसकी सहायता लेना और विरोधियों के मन में का सद्भाव जाग्रत करने की पराकाष्ठ करना, यही थी उनकी सत्याग्रही नीति और मैं तो कहूंगा कि विरोधियों के हृदय में और जीवन में जो नारायणतत्व बसा हुआ है, उसपर विश्वास करके चलना, यही थी उनकी आस्तिकता की कसौटी। विरोधी व्यक्ति के हृदय पर अगर कुछ भी असर नहीं हुआ तो उसके प्रति निराश होने की जगह वह अपनी ही तपस्या की खामी या कमी मानते थे और आत्मनिरीक्षण, चिंतन और तपस्या के द्वारा वह अपनी कमी को दूर करने की कोशिश करते थे। 'तपसा किल्विषम् हन्ति' इस सिद्धान्त पर उनका पूरा विश्वास था। इसीलिए आत्मनिरीक्षण करते वह अनेक बार गाते थे—

तुज संगे कोई वैष्णव भाये तो तु वैष्णव साचो।
तारा संग नो छंद न लागे त्या सुधी तु काचो॥

गांधीजी की इस मनोवृत्ति को और धर्मसाधना को ध्यान में लाकर अगर हम भक्तकवि नरसी मेहता के 'वैष्णव-जन तो तेने कहिये' वाले भजन पर विचार करेंगे तो उसमें हमें नये-नये अर्थ मिलते जायंगे।

कई लोग यह भजन पढ़कर उसमें बताये हुए वैष्णव सद्गुण गांधीजी पर कैसे चरितार्थ होते हैं, यह देखने की कोशिश करते हैं। वह अच्छा तरीका है, बोधक और लाभदायक है। मैंने भी इसी तरह से गांधीजी का जीवन-चरित्र देखने की कोशिश की है। अब उस क्रम को उलटाकर गांधीजी के जीवन को ही इस भजन का उत्तमोत्तम भाष्य समझकर गांधीजी के आध्यात्मिक जीवन के द्वारा इस भजन का अर्थ समझने का प्रयत्न करता हूं तब दुगुना आनन्द आता है।

एक दिन महादेवभाई और मैं खुशी में आकर गांधीजी का जीवन और नरसी मेहता का गाया हुआ 'वैष्णव जन' का आदर्श, दोनों की तुलना करते थे।

महादेवभाई ने कहा, "पहले मैं मानता था कि वैष्णव जन के सब लक्षण गांधीजी में पूरे-पूरे पाये जाते हैं, लेकिन 'राम-नाम शुं ताळी रे लागी' वाला लक्षण उनमें पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होता है, लेकिन अब देखता हूं कि उनकी साधना बढ़ी है 'राम-नाम शुं ताळी रे लागी' अधिकाधिक प्रकट होता जाता है।"

मैंने कहा, "हमारी भक्तमण्डली में नामसंकीर्तन का जोश इतना बढ़ता है कि लोग आपे से बाहर हो जाते हैं। उसमें एक तरह का कुफ्र होता है और मनुष्य धर्मध्वजी बनकर अपनी भक्ति का मानो प्रदर्शन करने में आनन्द लेता है। शास्त्रकारों ने और सन्तों ने जगह-जगह कहा है कि धर्मध्वजी बनना, अपनी धार्मिकता का और भक्ति का प्रदर्शन करने के लिए झण्डा लेकर चलना दोष है। संयमधन

बापूजी अपनी नाम-साधना को प्रकट नहीं करते होंगे, अथवा धर्मसाधना की परणति के कारण उनकी नाम-साधना अब उत्कट हो रही होगी। लेकिन आपका निरीक्षण सही है। उनकी साधना इतनी तेजी से बढ़ रही है कि उनका असर मैं उनके चेहरे पर भी देख रहा हूं। गांधीजी के जो पुराने फोटो उस समय मुझे यथार्थ लगते थे, आज कुछ फीके से लगते हैं। गांधीजी को पूरी तरह से व्यक्त नहीं करते, ऐसा थोड़ा-सा असन्तोष रह जाता है।"

गांधीजी की धर्म-साधना में दूसरी एक मौलिकता है —निरभिमानिता और नम्रता की। यह साधना देखने में आसान लगती है, लेकिन जीवनशुद्धि और साधनाशुद्धि के बारे में जो लोग अत्यन्त कुशल और सतर्क होते हैं, वे जानते हैं कि नम्रता की साधना करना टेढ़ी खीर है।

इस चीज को थोड़ा स्पष्ट करना जरूरी है।

भारत लौटते ही जब गांधीजी ने अपना एक आश्रम खोलने का विचार किया तो उन्होंने अपनी कल्पना छापकर भारत के प्रमुख विचारकों के पास सलाह-सूचना के लिए भेजी। उसमें आश्रम के व्रत भी दिये थे। बंगाल के एक विख्यात शिक्षा-शास्त्री ने योजना को पसन्द करते हुए लिखा कि ग्यारह व्रतों में एक विशेष व्रत बढ़ाने लायक है—नम्रता।

इस सूचना की चर्चा करते गांधीजी ने समझाया कि "व्रत वह चीज है, जो हम सतत् प्रयत्न से, अपने जीवन में लाते हैं। सजग रहकर उसकी साधना करनी पड़ती है। नम्रता को मैं व्रत नहीं कहूंगा। नम्रता अच्छी चीज है, वह आप-ही-आप आनी चाहिए। बाकी के व्रतों का पालन निष्ठापूर्वक किया तो व्रतपालन की कठिनाइयां समझनेवाला नम्र बनेगा ही।"

लेकिन अगर हम नम्र बनने का खास प्रयत्न करने गये तो प्रयत्न कृत्रिम होगा। वह दम्भ का रूप लेगा और मामला बिगड़ जायगा। इसलिए मैं नम्रता को पसन्द तो करता हूं, लेकिन उसे व्रत के रूप में विशेष स्थान नहीं दूंगा। यह सारा किस्सा विनोबाजी जानते थे, इसलिए उन्होंने आश्रम के व्रतों के श्लोकों की रचना करते समय आखरी पंक्ति बनाई—

विनम्र व्रत-निष्ठा से ये एकादश सेव्य हैं।

नम्रता की बात करते गांधीजी ने एक बार विनोद में कहा था—"अगर मैं पचास वर्ष का हूं तो क्या नम्रता धारण करने के लिए कहूं कि मैं ४५ वर्ष का या ४६ वर्ष हूं? नम्रता का सत्य के साथ मेल बैठना ही चाहिए।"

सच्चा भक्त जीवन-साधना करते अपनी कमजोरियों को इतना पहचान लेता है कि जो कुछ भी सफलता मिली, भगवान की कृपा के कारण ही मिली, ऐसा समझता है और नम्र बनता है। अभिमान उसे छू नहीं सकता। एक ओर आत्मविश्वास, उसके साथ व्रत-पालन की दृढ़ निष्ठा और दूसरी ओर नम्रता। ऐसी साधना जहां चल रही है, वहां अभिमान, गर्व और घमण्ड को स्थान ही नहीं रहता। निरभिमानता भक्त का लक्षण है, किन्तु वह उसकी साधना का अंग नहीं है। एक महाराष्ट्री भक्त ने भगवान से ही प्रार्थना की है कि अहंकार की हवा विष्णु दासों को कभी छुई ही नहीं।

अहंकाराचा वारा न लागो राजसा।
माझिया विष्णुदासा विष्णुरूपा॥

सब भक्त जानते हैं कि अहंकार से बचना बड़ा कठिन है। इसीलिए वे विष्णु रूप होने पर भी उसीकी मदद की याचना करते हैं।

भारत के धर्म-इतिहास में, बल्कि दुनिया के धर्म-इतिहास में, सबसे श्रेष्ठ स्थान है भक्ति का। ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, उपासना-योग, अनासक्ति-योग ये सब उत्तम योग हैं। लेकिन सब योगों में योग—शिरोमणि है भक्तियोग। सब धर्मों की सन्त-वाणी में से अगर भक्ति का हिस्सा निकाल दिया जाय तो बाकी क्या रहेगा? अद्वैतवादी ज्ञानयोगी शंकराचार्य कहते आये हैं—"**ज्ञानात् एव तु कैवल्यम्**। तो भी उन्होंने कहा है—**मोक्ष-कारण-सामग्र्यो भक्तिरेव गरीयसी**। मोक्ष के जो अनेक साधन हैं, उन सबमें भक्ति ही श्रेष्ठ है।"

भक्ति का यह माहात्म्य स्वीकार करते हुए और 'भक्ति ही जीवन-साधना का सर्वस्व है' इतना जानते हुए कहना पड़ता है कि भक्ति कोई अलग साधना हो नहीं सकती। भक्ति असल में जीवन-योग की स्वाभाविक सुवास ही है। हम अपनेको 'ईश्वर का दास' मानें, 'ईश्वर का पुत्र' मानें,

'परमात्मारूपी अग्नि की एक चिनगारी' मानें अथवा अनुभव करें कि 'आखिरकार ईश्वर से हम भिन्न हैं नहीं' तो भी जीवन-साधना तो करनी ही पड़ती है और जीवन-साधना में मुख्य हिस्सा है कर्मयोग का। कर्म अन्धा न बने, बाधक न बने, गिरानेवाला न बने इसलिए कर्म को ज्ञान-पूत बनाना चाहिए। ज्ञान को मजबूत बनाने के लिए ध्यानयोग की जरूरत है। कर्म करते, विश्व की सेवा करते, हम विश्व-स्वामी को भूल न जायं, इसलिए कर्म मात्र को उपासना का रूप देना आवश्यक है। यही तो जीवन-साधना है। ऐसी साधना सिद्ध होते ही उसमें से आप-ही-आप भक्ति की सुगन्ध निकलने लगती है। मैंने एक बार महात्माजी से कहा था कि "आपकी निष्काम सेवा इतनी उत्कट होती है कि उसमें से अद्भुत सुगन्ध निकलती है और इसीलिए लोभी दुनिया सुगन्ध प्राप्ति के लिए आपकी सेवा लेते यह ध्यान ही नहीं रखती कि आपका शरीर थक जाता होगा और आपकी आयु क्षीण होती होगी। पवित्र सुगन्ध के लोभी लोग धूप को जलने ही देते हैं।"

नरसी महेता ने वैष्णव जन का वर्णन करते मानो यही धूप का जलना और उसमें से सुगन्ध का निकलना दुनिया को समझाया है।

सचमुच गांधीजी का उत्कट जीवन ही 'वैष्णव जन' वाले स्तोत्र का जीवित भाष्य है।

पहले इसे नाश्ता कराओ

एक रात की बात है। आश्रम के रसोईघर में एक चोर घुस आया। वह भूखा था या उसका उद्देश्य कुछ और था, यह कोई नहीं जान सका। परन्तु कुछ व्यक्तियों ने उसे पकड़ लिया और एक कोठरी में बन्द कर दिया।

सबेरा हुआ। नित्य कर्मों से निबटकर गांधीजी नाश्ता करने बैठे, तब उस चोर को उनके सामने पेश किया गया। किसने पकड़ा और कैसे पकड़ा, यह सबकुछ सुनने के बाद उन्होंने पूछा, "इसको नाश्ता कराया या नहीं?"

आश्रमवासी ने उत्तर दिया, "नहीं, बापू।"

गांधीजी ने कहा, "तो पहले इसे नाश्ता कराओ, फिर मेरे पास लाओ।"

आश्रमवासी ने अचरज से कहा, "चोर को नाश्ता कराऊं?"

"हां।" गांधीजी ने उत्तर दिया। गांधीजी का आदेश था, इसलिए नाश्ता कराना पड़ा, पर चोर भी मनुष्य है, उसे भी भूख लग सकती है और जो व्यक्ति हमारे बन्धन में है, उसे खाने-पिलाने का दायित्व भी हमारा है—यह बात उस आश्रमवासी के मन में नहीं आई। लेकिन गांधीजी इस बात को कैसे भूल सकते थे? जब वह चोर फिर उनके सामने आया तो उसे बड़े प्रेम से समझाते हुए उन्होंने कहा, "भाई, तुम्हें चोरी नहीं करनी चाहिए। चोरी करना पाप है। गरीबी के कारण अगर तुम्हें चोरी करनी पड़ती है तो ऐसा कहो, मैं तुम्हारे लिए आश्रम में काम की व्यवस्था कर दूं।"

वह प्रेमल ज्योति

महादेव देसाई

जबसे महात्मा गांधी का प्रथम प्रदर्शन हुआ तबसे आज तक मैंने उनके चरणों में यही प्रार्थना की है कि 'असतो मा सद्गमय' (असत्य से मुझे सत्य की ओर ले जा), 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' (अंधकार से मुझे प्रकाश में ले जा), 'मृत्योर्मा अमृतं गमय' (मृत्यु से मुझे अमृत में ले जा), क्योंकि अनेक प्राणियों की तरह मेरा जीवन जिस असत् में बीत रहा था, जिस अंधकार में बह रहा था और जो प्रत्येक क्षण मृत्यु में बीत रहा था, उसको देखने के लिए उन्होंने पहले-पहल मेरी दृष्टि खोल दी। आज समस्त जगत को वह यही दृष्टि दे रहे हैं और यह मेरा विश्वास है कि सारा जगत आज जान में या अनजान में, इच्छा से या अनिच्छा से, मेरी ही तरह प्रार्थना कर रहा है।

१९१७ में बलिया में उन्होंने मेरे जीवन को बनाना शुरू किया। यही दिन मेरा जन्मदिन था। सुबह आज्ञा मिली कि मुझे रोटी बनाना होगा। मैं कभी चूल्हे के पास बैठा भी न था। मैंने कहा, "मुझसे कैसे बनेगी ?" गांधीजी ने कहा "बेलन, आटा और पानी है, फिर क्यों न बनेगी ?" मैंने आटा गूंधना शुरू किया। पास एक शख्स खड़े थे। उनकी मदद से आटा गूंधा। इस तरह चोरी से आटा गूंधने का काम हो रहा था कि इतने में स्नान कर गांधीजी आ पहुंचे। उन्होंने कहा, "यह क्या हो रहा है ? मैं तो तुमसे आटा गुंधवाना चाहता था, मुझे तो तुमसे रोटी बनवानी थी।" गांधीजी के इन वाक्यों में एक खास सख्ती थी। मुझसे न रहा गया। मेरे आंसुओं से आटा भीगने लगा। मैं सोच में पड़ गया था कि गांधीजी खुद बैठ गए और रोटी बेलने का पदार्थ पाठ सिखाने लगे, फिर मुझसे भी रोटी बिलवाई और कच्ची-पक्की जैसी भी रोटी बनी, उन्होंने बड़े चाव से खाई। बड़े आनन्द से वे रोटियां खाकर उन्होंने मानो अपने शब्दों की सख्ती को धो दिया।

"मउ मेणाहूनि आम्हीं विष्णुदास कठिण वज्रास भेदूं ऐसे" मोम से भी मुलायम और बज्र को भी छेद डालने-वाला अपना स्वरूप उन्होंने मुझे उस प्रथम दिन ही दिखा दिया। मैंने गांधीजी से कहा—"आज मेरा जन्मदिन है।" उन्होंने कहा—"सच है, तुम्हारा जन्म आज से शुरू हुआ है।" उसी दिन से उन्होंने मेरी अपंगता दूर करना शुरू किया। मुझे कपड़े धोना सिखाया, पाखाना साफ करना सिखाया और मूंग की दाल बनाते समय उसके छिलके निकालना सिखाया। छोटी-से-छोटी बात उत्तम प्रकार से करने का पाठ पहले-पहल उन्होंने मुझे पढ़ाया। एक दिन लिफाफे पर ठीक जगह टिकिट नहीं लगा था। उन्होंने उसे निकलवाकर ठीक जगह लगा दिया। एक मर्तबा कागज के टुकड़े ठीक जगह पर नहीं डाले गए थे, वे उठवाकर ठीक जगह पर डलवा दिये। कहा, "छोटे काम भी उत्तम प्रकार से करने पर ध्यान न दोगे तो बड़े कामों में भी तुम लापर-वाह रहोगे। **"योगः कर्मसु कौशलम्"** का यही अर्थ है, दूसरा नहीं। बिना एकाग्रता के यह नहीं हो सकता। जिस समय जो काम कर रहे हो, बस तन्मय हो जाना चाहिए। तभी यह कौशल प्राप्त होता है।"

बहुत दिनों की बात है। तबतक गरीबों के साथ एक-जीवी होने के साधन के तौर पर चरखा उत्पन्न नहीं हुआ था, अर्थात् गांधीजी ने चरखे का प्रचार शुरू नहीं किया था, हम लोग पटना से दिल्ली से जा रहे थे। मुगलसराय स्टेशन पर टिकट बदलवानी थी। बड़ा जाड़ा था। इसलिए मैंने गरम पतलून और ओवरकोट पहना था। पतलून पहनने के लिए मैंने आज्ञा ले ली थी। स्टेशन आने पर मैं टिकट बदलवाने गया और फौरन बदलवा लाया। गांधीजी ने पूछा—

"इतनी जल्दी टिकिट किसके पास से लाये ?" मैंने

खुलासा किया। थोड़ी देर तक सोचकर उन्होंने कहा—"अंग्रेजी में बातचीत की थी या हिन्दी में ?" मैंने कहा—"अंग्रेजी में"। बस, फिर क्या था। उनकी विषाद-युक्त वाग्धारा चलने लगी—"मैं जानता ही था। ओवरकोट और पतलून का रौब तो था ही और अंग्रेजी में बात की। फिर कहना ही क्या ! वह जल्दी टिकिट दे दे तो उसमें आश्चर्य की बात ही क्या है। लेकिन क्या तुमको यह खबर नहीं कि मेरे जैसा कोई गरीब आदमी यदि टिकिट लेने जाय तो उसे आध-आध घंटे तक राह देखना पड़ती है और कभी-कभी तो उसकी गाड़ी भी छूट जाती है ? तुम्हें यह समझना चाहिए कि हम लोग, जो तीसरे दरजे में सफर करते हैं, वे गरीबों के दुख और तकलीफें देखने के लिए और उनकी इन तकलीफों में साथी बनकर उपाय ढूंढ़ने के लिए ही करते हैं। गरीबों की तरह यदि हम भी चलें, उन्हींकी भाषा में बोलें तो वे हमारे साथ भी वैसा ही बर्ताव करेंगे जैसा कि गरीबों के साथ बिना किसी प्रकार की जवाबदेही के करते हैं, और ऐसा होने पर हम उन्हें भविष्य में गरीबों के साथ अच्छी तरह बर्ताव करना सिखा सकते हैं।

गांधीजी को बिना तन्मयता के एक भी काम करते हुए मैंने कभी नहीं देखा। गोरखपुर में एक बड़ी सभा थी। इतनी बड़ी सभा मैंने कभी नहीं देखी। एक लाख आदमी होंगे। गांधीजी से पहले मौ० शौकतअली, मुहम्मदअली या किचलू कौन व्याख्यान दे रहा था, याद नहीं है। शोर-गुल खूब हो रहा था। उस समय गांधीजी 'यंग इंडिया' के लिए एक अद्भुत लेख लिख रहे थे। शोर-गुल के कारण या सिर्फ पांच मिनट के बाद मुझे बोलना होगा, इस ख्याल से भी उनकी तन्मयता कुछ भी न्यून न होने पाई थी। गांधीजी कहा करते हैं—"मैंने बिना तन्मयता के एक भी काम नहीं किया है।" इस प्रकार जिनकी प्रत्येक हलचल विचारमय है, जिनका एक भी कार्य बिना उद्देश्य के नहीं होता, उनके जीवन के एक दिन के कार्यों पर भी बड़े-बड़े वार्तिक लिखे जा सकते हैं। मेरे कहने या लिखने के बनिस्बत तो यही अच्छा है कि जो असंख्य मनुष्य उनके सम्पर्क में आये हैं वे अपने-अपने अनुभव याद रखें और उन्हें सुरक्षित करदें।

महात्मा गांधी के जीवन से जो आशा का अमर-संदेश प्रकट हो रहा है उसीको यदि हम न माने तो उनका जीवन समझा न समझा देखा न देखा ही हो जाय। जिन्हें यह देखने और समझने का मौका मिला है वे बड़भागी हैं। ऐसे अनेक बड़भागियों के साथ इस दीन लेखक का सिर इस प्रेमल ज्योति के स्मरण में झुक जाता है और स्वभावतः मुख से यह उद्‌गार निकल पड़ते हैं :

ओ अकुलेर कुल, ओ अगतिर गति;
ओ अनाथर नाथ, ओ पतितेर पति ;
ओ नयनेर आलो, ओ रसनार मधु;
ओ रतनार हार, ओ परानेर बन्धु ॥

पूजा-गीत

उनको भी सद्‌बुद्धि राम दो।
जो भूले हैं धाम तुम्हारा,
जो भूले हैं नाम तुम्हारा,
उनको भी दुख में विराम दो।
सत्य भूल उलझे माया में,
भटक रहे केवल छाया में,
उनको भी गति-मति प्रकाम दो।

—सोहनलाल द्विवेदी

मानव-कल्याण के संदेश-वाहक

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

अशांति और कलह से जर्जर आधुनिक मानव-समाज को शान्ति, प्रेम, सद्भाव और कल्याणकारी मानव-मूल्यों की खोज में लगातार भटकना पड़ रहा है। लेकिन राष्ट्रों के आपसी स्वार्थ विवेक के स्वरों को दबाकर बैठ गए हैं। विश्व में सर्वत्र कलह और घोर अशान्ति के दर्शन हो रहे हैं। परम्परागत मूल्य नष्ट हो रहे हैं और उनके स्थान पर नए मूल्यों की स्थापना नहीं हो पा रही है। मानव-मूल्यों का यह संकट ही आधुनिक काल की सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या के समाधान के लिए एक प्रबल स्वर भारत-भूमि से उठा था। विश्व-कल्याण के लिए प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील धर्म-भूमि भारत ने पुनः एक ऐसे महापुरुष को जन्म दिया था, जो संसार को विनाशकारी विग्रहों से मुक्त करने का संकल्प लेकर प्रस्तुत हुआ। यह महात्मा गांधी थे। महात्मा गांधी आधुनिक युग में विश्व को भारत की सबसे बड़ी देन हैं। उनके कल्याणकारी स्वर आज भी वायुमण्डल में गूंज रहे हैं और हम इन्हें अनसुना करके व्यापक विनाश को ही आमन्त्रित कर रहे हैं।

गांधीवाद गांधीजी का कोई सर्वथा नवीन आविष्कार नहीं है। हमारे प्राचीन सनातन धर्म के सिद्धान्त ही गांधी-वाद की बुनियाद हैं। गांधीजी ने हिन्दु धर्म के प्राचीन सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन या संशोधन नहीं किया, बल्कि उन्हें नए सिरे से, आधुनिक समाज की आवश्यकतानुसार चुनकर एक व्यवस्थित रूप में पेश किया। अहिंसा, सत्य, प्रेम और सद्भाव ऐसे सिद्धान्त हैं, जो थोड़े-बहुत हर धर्म में मिल जाते हैं। ये शाश्वत और सनातन मूल्य हैं, जिनके विकल्प न हैं और न हो सकते हैं। गांधीजी ने इन मूल्यों के प्रति आम जनता की उदासीनता को दूर करने का प्रयास मात्र किया और यह कोई मामूली बात नहीं थी।

गांधीजी के लिए अहिंसा मात्र साधन नहीं, साध्य थी। अहिंसा में उनका विश्वास कभी नहीं डिगा। कई निराशाओं और विफलताओं ने उनकी आस्था की अग्निपरीक्षा ली, जिसमें वह हमेशा खरे उतरे। ब्रिटिश दासता के विरुद्ध संघर्ष में जब कुछ लोग गांधीजी की अहिंसा की अन्तिम सफलता में संदेह करने लगे थे तब भी गांधीजी अपने मार्ग से च्युत नहीं हुए थे। उनका विश्वास था कि अहिंसा कभी विफल हो ही नहीं सकती। आज लोगों में ऐसे अटूट विश्वास का सर्वथा अभाव है। इस विश्वास ने ही गांधीजी को महान बनाया, अन्यथा उनमें और साधारण मनुष्य में कोई अंतर नहीं रहता। हममें से कितने लोग ऐसे हैं, जो गांधीजी के प्रति भौतिक निष्ठा अभिव्यक्त करने में तो कोई कसर बाकी नहीं रखते, पर व्यवहार में अहिंसा के प्रति पूर्ण आस्था रखने का दावा कर सकते हैं? हमारी गांधीवादी सरकार ने गांधीजी की अहिंसा को कब विश्वास-योग्य समझा? जन-प्रतिरोध का दमन करने के लिए लाठियों और गोलियों का सहारा लिया और यह भुला दिया गया कि जन-असंतोष दमन से नहीं, अहिंसक मार्ग से ही शांत किया जा सकता है। हम केवल कथनी में विश्वास करते हैं, करनी में नहीं।

लेकिन यहां यह स्मरण रहे कि गांधीजी की अहिंसा कायरों के लिए नहीं थी। वह लाचारी का पर्याय कदापि नहीं थी।

इसी प्रकार सत्य के प्रति गांधीजी की निष्ठा भी अटूट थी। उन्होंने कहा भी था कि "मैं स्वराज्य के लिए सत्य का सौदा नहीं कर सकता।" सत्य उनके लिए सर्वोपरि था। भारत की स्वाधीनता उनको प्यारी थी, लेकिन सत्य उससे भी ज्यादा प्रिय था। सिद्धांत बदलते रहने के लिए नहीं होता।

हमारे धर्म में सत्य की अंतिम विजय (सत्यमेव जयते)

पर विश्वास करने को कहा गया है। सभी प्राचीन शास्त्र और साहित्य सत्य की विजय प्रमाणित करते हैं। हमारी पौराणिक कथाओं में सत्य के लिए भारी कष्ट भोगने के विवरण मिलते हैं और अंत में सत्य और धर्म की विजय दिखलाई जाती है। गांधीजी धर्म के मूल तत्व को समझ चुके थे।

शांति और सद्भाव परस्पर सम्बद्ध हैं। सद्भाव के बिना शांति असम्भव है। इसीलिए गांधीजी ने साम्यवाद के वर्ग-संघर्ष सिद्धांत का तिरस्कार किया था। उन्होंने हमेशा वर्ग-सहयोग पर बल दिया। गांधीजी का ट्रस्टी-शिप का सिद्धान्त इसीपर आधारित था। श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक मिलता रहे और उद्योगपति अपने-आपको समाज का ट्रस्टी मानें, यह उनका कहना था। सामाजिक न्याय की स्थापना में गांधीजी का क्रांतिकारी योगदान था। वह निजी उद्यम के पक्ष में थे और उद्योग क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप को हिंसा के तुल्य मानते थे। इसीलिए उन्होंने कन्ट्रोल और राशनिंग का विरोध किया था। कन्ट्रोल और राशनिंग लागू करने का अर्थ यह होता है कि सरकार जनता की नीयत पर संदेह करती है। यह अविश्वास, अशांति, असंतोष और द्वेष को जन्म देता है। हमारी सरकार गांधीजी के इस बुनियादी सिद्धांत को भूल गई है। उसे जनता की ईमानदारी में विश्वास नहीं रहा है। लोकतंत्र जनता पर विश्वास का प्रतीक होता है। इसीलिए कन्ट्रोल और राशनिंग अलोकतांत्रिक माने जाते हैं। गांधीजी, इस दृष्टि से, सबसे बड़े लोकतंत्रवादी थे।

सहनशीलता का फल

एक फकीर थे। एक दिन वह कहीं जा रहे थे। रास्ते में देखते क्या हैं कि एक नौजवान हाथ में तम्बूरा लिये बैठा है और गंदे-गंदे गीत गा रहा है।

फकीर वहां जाकर रुक गया। चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा, "अल्लाताल्ला, तू सबसे बड़ा है। तू ही सबका परवरदिगार है। बिना तेरे इस दुनिया का पत्ता भी नहीं हिल सकता।"

नौजवान मस्ती में गा रहा था। उसने फकीर को चिल्लाते देखा तो उसे बड़ा गुस्सा आया। उसने चीखकर कहा, "चुप हो जा, क्या बकता है ?"

फकीर ने उसकी बात सुनी-अनसुनी कर दी। बोला, "हे खुदा, तू बेअकलों को अकल दे।"

नौजवान ने आव देखा, न ताव, हाथ का तम्बूरा लेकर फकीर के सिर पर दे मारा। तम्बूरा टूक-टूक हो गया। फकीर मुस्कराया और बिना एक शब्द के आगे बढ़ गया।

अपनी झोंपड़ी पर आकर फकीर ने अपने शागिर्द को सब हाल सुनाया और कहा, "तू उस नौजवान के पास जा और उसे तम्बूरे की कीमत दे आ। एक थाली में मिठाई भी। गुस्सा बहुत बुरी चीज है। मुझे अफसोस है कि मेरी वजह से उसे इतना गुस्सा आया।"

शिष्य तम्बूरे का दाम और मिठाई लेकर वहां गया और उससे कहा, "ये चीजें फकीर साहब ने तुम्हारे लिए भेजी हैं।"

इतना सुनते ही नौजवान की आंखें खुल गईं। वह दौड़ा-दौड़ा फकीर के पास आया और अपनी करनी के लिए मांफी मांगने लगा।

फकीर ने बड़े प्यार से उसे सीने से लगा लिया।

उन्होंने सुप्त आत्मा को जगाया

मोरारजी देसाई

गांधीजी की मृत्यु के दो दशकों के भीतर ही, हम देखते हैं, अधिकांश व्यक्ति जीवन में आदर्शवाद के प्रति उदासीन हो गये हैं और उनकी शिक्षाओं को उतना महत्व नहीं देते, न वैसा श्रेयस्कर ही मानते हैं, जैसा उनके समय करते थे। जबकि कुछ लोग महसूस करते हैं कि हम उनके दिखाये हुए मार्ग से बिछुड़ गये हैं, दूसरों को यह भय है कि निकट भविष्य में ही हम कहीं उससे बिल्कुल उल्टी दिशा में न चलने लगें। इसलिए यह आवश्यक है कि उस आधार पर हम विचार करें, जिससे सामान्य व्यक्ति जीवन के बुनियादी मूल्यों को स्वीकार करता है। अधिकांश व्यक्ति जब भौतिक समृद्धि की ही आकांक्षा करते हैं, कुछ ऐसे भी होते हैं जो इन मूल्यों का इनके महत्व की दृष्टि से ही पालन करते हैं। मैं उन लोगों में से हूं जो यह मानते हैं कि गांधीजी ने जीवन का जो उदाहरण प्रस्तुत किया तथा जो शिक्षा प्रदान की वह हमारी जीवन-पद्धति के लिए इतनी मौलिक और श्रेष्ठ थाती है कि उसकी उपेक्षा कर हम खतरा मोल लिये बगैर नहीं रह सकते। भारत को सुदृढ़, समृद्ध और सुखी बनाने के लिए हम चाहे जो तरीका अपनाएं, अपने ही हित में, हमारे लिए अपने आदर्शों को उनके द्वारा प्रदत्त सन्देश के अनुरूप ही रखना होगा।

गांधीजी ने जो कुछ कहा या किया, वह केवल एक युग या अकेली भारतीय जनता के लिए ही नहीं था। उनका सन्देश तो सभी काल और सारी मानव-जाति के लिए है। इसी दृष्टिकोण से हमें गांधीजी के चमत्कार को देखना होगा। सौ साल का समय किसी राष्ट्र के इतिहास में चाहे बहुत महत्व न रखता हो, लेकिन भारत के इतिहास में तो पिछले सौ साल का बड़ा महत्व है। वह न केवल इसलिए कि इस काल में भारतीय राष्ट्र ने प्रगति करते हुए सदियों की गुलामी से अन्ततोगत्वा मुक्ति प्राप्त कर ली, बल्कि इसलिए भी कि इस बीच गांधीजी हमारे बीच रहे और उन्होंने स्वतन्त्रता के लिए इस तरह से काम किया, जिससे इस काल में मानव-जाति की आशाओं को नया रूप और बल मिला।

गांधीजी सन् १८६९ में पैदा हुए थे। उस समय भारत एक गरीब और शोषित देश था। भारतवासी अशक्त, विनम्र, आज्ञापालक, अन्धविश्वासी और भीरु थे। भारतीय समाज संकीर्ण स्थानीय भावनाओं में ग्रस्त था। लोगों में देशभक्ति का अभाव था और आपस में एक होकर रहने की भावना बिल्कुल नहीं थी। सन् १८८८ में गांधीजी ने इंग्लैण्ड के लिए समुद्र-यात्रा की। उस समय विश्वविद्यालय की शिक्षा का यहां धीरे-धीरे विस्तार हो रहा था। समाज-सुधार के आन्दोलन लोकप्रिय होने लगे थे और शहरों में राजनैतिक चेतना भी बढ़ने लगी थी। भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की स्थापना भी १८८८ में हो चुकी थी। दक्षिण अफ्रीका में शर्त्तबन्द कुलीप्रथा के विरुद्ध लड़ाई में सफलता प्राप्त कर १९१५ में जब गांधीजी भारत लौटे तो यहां उन्हें काफी राजनैतिक चेतना मिली। नरम, गरम, अराजकवादी जैसे कई राजनैतिक दल भी तबतक बन चुके थे। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि कुल मिलाकर भारतीय जनता वैसी ही भीरु और विनम्र आज्ञापालक है, भारतीय समाज भी इसी तरह विभक्त और अंध-श्रद्धाग्रस्त है, वैसा ही गरीब और शोषित है तथा गांव भी पहले की तरह ही उपेक्षित और बीरान हैं।

गांधीजी ने अनुभव किया कि भारत की समस्या राजनैतिक या सामाजिक ही नहीं, बल्कि बहुमुखी है। सदियों की गुलामी से लोगों में दासता की जो मनोवृत्ति घर कर गई है उससे उन्हें मुक्त करने के लिए उनमें साहस और आत्मसम्मान की भावना पैदा करना जरूरी है। साथ ही

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि मौजूदा स्थिति को बदलना है तो शिक्षा, समाज-सुधार, अर्थनीति और राजनीति में ऐसे परिवर्तन करने होंगे, जिससे वे इस देश की परिस्थिति के अनुकूल बनें। अगले तीन दशक में इसके लिए गांधीजी ने बराबर अपने प्रयत्न जारी रखे और ऐसा करते हुए उन्होंने देश में शांत क्रांति ही कर दी। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए उस समय लोग आतंकवादी तरीका अपनाए हुए थे, उसकी जगह उन्होंने एक व्यावहारिक उपाय प्रस्तुत किया, जिसके फलस्वरूप सुदूरवर्ती गांवों तक में राजनैतिक चेतना फैल गई। इससे आजादी की लड़ाई का आधार बड़ा व्यापक हो गया। शिक्षा में नया अर्थ और प्रयोजन मिला। सामाजिक जीवन अधिक स्वतन्त्र और बन्धनमुक्त हुआ। वातावरण में नैतिकता की लहर छा गई। इस तरह उन्होंने हमें धूल से उठाकर सचमुच के मनुष्य बना दिया। उस समय तक स्थिति यह थी कि स्वराज्य की आकांक्षा तो बराबर जोर पकड़ रही थी, पर उसे प्राप्त करने का तरीका किसीने नहीं बताया था। गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में असहयोग और सविनय आज्ञाभंग का औजार ईज़ाद किया था, उसीको भारतीय राष्ट्रीय महासभा की मार्फत उन्होंने स्वराज्य-प्राप्ति के शस्त्र के रूप में राष्ट्र को प्रदान किया।

स्वराज्य की लड़ाई के इस काल में गांधीजी नैतिकता और अध्यात्म की इतनी ऊंचाई पर पहुंचे, जिससे अधिक की कोई मानव आशा नहीं कर सकता। बचपन में जहां वह एक सामान्य भीरु बालक थे वहां अब वह अपने युग के सबसे बड़े आदमी बन गए। अपने मानव बन्धुओं की सेवा करते हुए उन्होंने कई खोजें कीं। सत्य इनमें सर्वप्रथम है। 'सत्' का अर्थ परमेश्वर है, जबकि सत्य का अर्थ है, 'जिसका अस्तित्व है।' तार्किक दृष्टि से देखें तो सत्य के सिवा कुछ है ही नहीं, क्योंकि और सब तो अस्तित्वहीन है? सत्य ही सब प्रवृत्तियों का आधार होना चाहिए, यह शिक्षा पहले तो अपने बाल्यकाल में उन्हें अपनी मां से मिली और उसके बाद जवानी में गहरे चिन्तन के फलस्वरूप उन्हें यह बोध हुआ।

अहिंसा उनकी दूसरी खोज थी, जिसका अर्थ है सभी जीवधारियों के प्रति प्रेम का भाव। गांधीजी के प्रयत्न और प्रयोग जैसे-जैसे आगे बढ़े, उन्होंने अनुभव किया कि मनुष्यों के बीच पारस्परिक व्यवहार का अहिंसा ही एकमात्र प्रभावकारक तरीका है और मानव-सम्बन्धों की लगभग प्रत्येक समस्या का इससे समाधान हो सकता है। अहिंसा का विचार एक स्थिर विचार है और शक्ति के रूप में यह हिंसा की शक्ति से श्रेष्ठ है। इसमें यह निहित है कि सभी मनुष्य समान हैं और सभीके प्रति प्रेम और सम्मान की भावना मनुष्य में होनी चाहिए। गांधीजी ने सभी परिस्थितियों में सत्य और अहिंसा के उपाय का सहारा लिया तथा दूसरों के प्रति घृणा और संदेह से ऊपर उठने की कोशिश की। इस तरह उनका जीवन उनके सजातीयों यानी सभी मनुष्यों के लिए जीवन के सभी क्षेत्रों में स्फूर्ति का गहन स्रोत बन गया है।

जनसाधारण के लिए गांधीजी को समझना आसान था, क्योंकि वह उन्हींकी भाषा में बोलते थे और उन्हीं की तरह बिल्कुल सादा जीवन बिताते थे। ऐसा करके ही उन्होंने आज़ादी की लड़ाई में उनका योगदान प्राप्त करने में सफलता पाई। जनसाधारण को उन्होंने जाग्रत किया, कार्यकर्त्ताओं को अपने आसपास जुटाया और नेताओं का निर्माण किया। लोगों से सीधे सम्पर्क और सीधी बातचीत के द्वारा ही उन्होंने आज़ादी की लड़ाई में इतना व्यापक एकमत कायम किया जैसा इससे पहले नहीं था।

यह सच है कि आजादी के लिए हमें देश के विभाजन की कीमत चुकानी पड़ी, उनकी इच्छा के विरुद्ध हमने देश का बंटवारा मंजूर किया, क्योंकि हमने यह अनुभव किया कि जो स्थिति है उसमें इसके सिवा कोई चारा नहीं है। इसीलिए आज़ादी के समय वह बहुत दुखी थे। पाकिस्तान में हिन्दुओं और सिखों पर जो अत्याचार हुए तथा भारत के कुछ भागों में भी प्रतिशोध स्वरूप जो कुछ हुआ उसे बर्दाश्त करना उनके लिए बहुत मुश्किल था। उनको उससे हार्दिक पीड़ा हुई। वह चाहते थे कि अत्याचारों का हम अहिंसात्मक ढंग से सामना करें, लेकिन इसके लिए जितना नैतिक साहस चाहिए, उतना हममें नहीं था।

भारत के लिए स्वतंत्रता-प्राप्ति तो उनकी सफलता का बाह्य प्रदर्शन मात्र है। उनकी वास्तविक सफलता तो इसमें है कि उन्होंने हमारी सोई हुई आत्मा को फिर से जगा

दिया, हमारे हृदयों का अज्ञान दूर कर उन्हें ज्ञान से प्रकाशमान किया और हमारे अन्दर नैतिक साहस भर दिया। भौतिक प्रगति तो हम कर सकते हैं, लेकिन उससे अगर हमारी नैतिकता को आंच आती है तो उसका कोई लाभ नहीं। कारण स्पष्ट है। सम्पन्न समाज तो अनेक हैं, पर सुखी उनमें कुछ ही मिलेंगे, क्योंकि भौतिक समृद्धि ही सुख नहीं है। सुख तो आन्तरिक संतोष से प्राप्त होता है, जिसके लिए मनुष्य को नैतिकता पर आधारभूत और आध्यात्मिक आकांक्षा से परिपूर्ण ऐसा जीवन व्यतीत करना चाहिए जिसमें लालसाओं का संघर्ष न हो।

प्रगति का मूल्यांकन गांधीजी मानव-सुख से करते थे। उन्होंने न तो अधिकतम लोगों के अधिकतम हितवाले उपयोगितावादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया और न सम्पन्न समाजवाले आधुनिक विचार को, जिसमें उन्नति का एकमात्र मापदण्ड भौतिक समृद्धि ही है। वह तो ऐसी सामाजिक व्यवस्था के पक्ष में थे, जिसमें सभीका अधिक-से-अधिक हित-साधन हो। इसीको उन्होंने सर्वोदय का नाम दिया। इससे उनका मतलब ऐसे समाज से था जिसमें प्रत्येक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के समान समझा जाय, प्रत्येक को आगे बढ़ने के समान अवसर उपलब्ध हों तथा उन्नति करने की स्वतंत्रता सभीको एक समान हो। आर्थिक प्रगति के साथ-साथ सामाजिक न्याय की भी उपेक्षा न हो, ऐसे समाज की उनकी कल्पना थी। ऐंद्रिय सुखों पर नियंत्रण के लिए उन्होंने कहा, क्योंकि ऐसे सुखों की हमारी जानकारी में कहीं कोई सीमा नहीं है।

गांधीजी ने दुनिया को बताया कि शारीरिक शक्ति या सैनिक बल मनुष्य की आत्मा को परास्त नहीं कर सकते, क्योंकि आत्मा अदम्य है। भौतिकता से नैतिकता का महत्व अधिक है और स्वार्थ तथा संग्रहवृत्ति से सेवा तथा त्याग की शक्ति कहीं ज्यादा है। सत्य के सौन्दर्य और आत्मा के गौरव का भी उन्होंने हमें भान कराया।

भौतिक उन्नति के गांधीजी विरुद्ध नहीं थे, न उन्होंने यही कहा कि यंत्रों का उपयोग किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए। उनकी मान्यता तो यह थी कि यंत्रों से समय और श्रम की जो बचत होती है उसका लाभ मानव जाति के इस या उस हिस्से को नहीं, बल्कि सभीको मिलना चाहिए। आदमी यंत्रों का गुलाम बन जाय और अपना व्यक्तित्व खो बैठे, यह वह नहीं चाहते थे। उनका कहना तो यह था कि यंत्रों के लिए मनुष्य नहीं, बल्कि मनुष्यों के लिए यंत्र होने चाहिएं।

सामाजिक न्याय की उनकी मान्यता में धन और सत्ता के एकीकरण की कोई गुंजाइश नहीं। पर साथ ही वह यह भी जानते थे कि धन और सत्ता का समान वितरण नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने ऐसे निष्पक्ष वितरण का प्रतिपादन किया, जिसमें आर्थिक असमानताओं और राजनैतिक अयोग्यताओं का अंतर कम-से-कम हो। इसके लिए उन्होंने 'ट्रस्टीशिप' यानी अपनी सम्पत्ति को धरोहरस्वरूप मानने की कल्पना प्रस्तुत की, जिसके द्वारा पूंजीवादी समाज को उन्होंने समाजवादी समाज में बदलने का प्रयत्न किया। ट्रस्टीशिप की उनकी कल्पना पूंजीवाद की समर्थक नहीं है, लेकिन पूंजीपतियों को कुचलने के बजाय उसमें उन्हें अपने दृष्टिकोण को सुधारने का अवसर दिया गया है। गांधीजी चाहते थे कि पूंजीपति अपनी सम्पत्ति को धरोहर की तरह रखें और अपने निजी सुख के लिए ही उसका उपयोग न कर सामाजिक हित के लिए उसे खर्च करें।

एक ओर जब यह माना जाता है कि समृद्धि में गरीबी की गुंजाइश नहीं है, दूसरी ओर ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं कि अब जब किसीकी सफलता या असफलता का मापदण्ड उसके सम्पत्तिशाली या सम्पत्तिहीन होने से ही किया जाता है तो लोग बस कमाई की ही फिक्र में रहते हैं और उसके लिए किसी भी तरीके को बुरा नहीं समझते। इस मापदण्ड से उन्नत कहे जानेवाले अनेक देशों ने निश्चय ही प्रगति की है। लेकिन सवाल यह है कि धन या सम्पत्ति से क्या मनुष्य का सुख बढ़ा है? सचाई तो यह है कि मानवजाति को विनाश का जितना खतरा आज है उतना इससे पहले कभी नहीं था। आणविक शास्त्रों की ईजाद से आज मानवजाति के सम्पूर्ण विनाश का खतरा उपस्थित है। अंधाधुंध यंत्रीकरण से आर्थिक शक्ति के कुछ ही व्यक्तियों के पास केन्द्रित हो जाने की सम्भावना है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य उनके उपयोग का आर्थिक औजार मात्र रह जायगा। खतरा यह है कि मनुष्य का या तो अस्तित्व ही नहीं रहेगा या वह अपने मानव व्यक्तित्व को खो देगा।

मनुष्यों को सुखी बनाना है तो इन खतरों को दूर करना होगा। अतएव हम अंधेरे में भटकते नहीं रह सकते; रोशनी के जो भी साधन उपलब्ध हों उन्हींका उपयोग कर इस अंधेरे को हमें मिटाना होगा।

भौतिक समृद्धि की वह परिसीमा होती है जब आनन्द के नये साधनों की उपलब्धि पर मनुष्य का उल्लसित या उत्तेजित होना बन्द हो जाय। पश्चिम की आज कुछ ऐसी ही स्थिति है जहां सुविधा बढ़ाने के नये साधनों या घर-गृहस्थी के काम को और सुविधापूर्ण बनाने के नये सामान की ईजाद पर मनुष्यों में कोई उत्तेजना नहीं होती। इस तरह जीवन नीरस बनता है और जीने का उत्साह क्षीण होता है। अतः हमें इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि भौतिक आनन्द के ही पीछे दौड़कर कहीं हम अपने मानव-व्यक्तित्व को न खो बैठें। पेचीदा औद्योगिक जीवन में अनिवार्य तनावों से हमें बचना चाहिए। सुख के लिए मनुष्य को अपने अन्दर और बाहर शान्ति कायम रखनी चाहिए और वह केवल लाक्षणिक रूप में नहीं, बल्कि जीवन की पद्धति के रूप में। आधुनिक समाज के लिए आधुनिक जीवन की जटिलताओं से समन्वय करना और तालमेल बैठाना मुश्किल हो सकता है, लेकिन हमारा राष्ट्र तो अभी प्रगति के रास्ते में है, इसलिए हमें उसी गलती का शिकार होने से बचना चाहिए। अपने भविष्य की योजना बनाते समय सुख की गांधीजी की मान्यता को हम सामने रखें तभी ऐसा सम्भव है।

गांधीजी ने कहा है कि मनुष्य को अपने आन्तरिक सन्तोष के लिए जीवन में सत्य और अहिंसा को अपनाना चाहिए। ऐसा करनेवाला व्यक्ति कोई भी ऐसा काम नहीं कर सकता, जो नैतिक दृष्टि से ठीक न हो, भले ही वह उसके लिए कितना ही लाभकर क्यों न हो। उनकी दृष्टि में लक्ष्य की सिद्धि सफलता की कसौटी नहीं थी। लक्ष्य-सिद्धि से भी अधिक महत्व वह लक्ष्य-सिद्धि करने के लिए ग्रहण किये जानेवाले साधनों को देते थे। लेकिन दुर्भाग्य-वश यही मनोवृत्ति कायम रही कि सफलता-प्राप्ति के लिए जो भी साधन काम में लाये जा सकें वही ठीक। लक्ष्य-सिद्धि से भी उसके लिए काम लाये जानेवाले साधनों की शुद्धि का आग्रह करनेवाले शायद वह अकेले ही थे। उन्होंने तो जीवन की शुरुआत में ही, दक्षिण अफ्रीका की अपनी लड़ाई के बीच ही, साधन शुद्ध रखने की आवश्यकता को महसूस कर लिया था और उत्तरोत्तर उसपर अधिकाधिक जोर देते रहे। आजादी की हमारी लड़ाई में किसी अशुद्ध साधन से काम न लिया जाय, इसपर उन्होंने हमेशा आग्रह किया। शुद्ध साधनों का आग्रह चाहे तत्काल लाभकर न लगे, लेकिन सच्चा सुख तो अन्ततोगत्वा हम शुद्ध साधनों को अपना कर ही पा सकते हैं, अनैतिक साधनों से नैतिक लक्ष्य सिद्ध नहीं किये जा सकते। गांधीजी ऐसा मानते थे कि शुद्ध साधनों से हम लक्ष्य सिद्ध न कर सकें तो भी उनपर जमे रहने से मनुष्य को न केवल सन्तोष प्राप्त होता है, बल्कि उसका गौरव भी बढ़ता है। यों उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि साधन शुद्ध रखने पर लक्ष्य-सिद्धि अनिवार्य हैं।

सभी नये लोकतन्त्रों को, जो स्वस्थ सार्वजनिक जीवन विकसित कर लोकतन्त्रीय परम्परा को सुदृढ़ करना चाहते हैं, गांधीजी के इस सन्देश और प्रयोग से लाभ उठाना चाहिए। ऐसा करके वे ऐसी नैतिक समाज-व्यवस्था कायम कर सकते हैं, जिसकी नींव नैतिकता पर होगी।

गांधीजी अपने पीछे गांधीवाद का कोई निश्चित सिद्धांत नहीं छोड़ गये, लेकिन उनका जीवन उनके तत्व-दर्शन का निदर्शक है और वह तत्वज्ञान जीवन के लिए ऐसा आधारभूत है कि प्रत्येक मानव-हृदय को आकर्षित करता है। यह सम्भव है कि शहरों में रहनेवाले बुद्धि-वादी लोग उनके आर्थिक सिद्धान्त या रचनात्मक कार्य-क्रम से सहमत न हों, लेकिन उनका जीवन और तत्वज्ञान समय और स्थान की सीमाओं को लांघकर लाखों-करोड़ों के हृदयों में प्रवेश पा चुका है और आम लोग उससे निश्चय ही प्रेरणा पायंगे।

मेरा अपना विचार तो यह है कि उससे अच्छा कोई विकल्प ही हमारे पास नहीं है। आणविक शस्त्रों की ईजाद ने हमारे पृथ्वी ग्रह पर मानव-जाति के लिए विनाश का खतरा पैदा कर दिया है और सृजनात्मक अभिव्यक्ति का अवसर न रहने की भावना ने मनुष्य को व्यग्र बना दिया है। ऐसी हालत में स्वयं अपने अस्तित्व के लिए ही मनुष्य को गांधीजी की ओर देखना होगा। ●

ढाई अक्षर प्रेम के

उमाशंकर जोशी

●

गांधीजी जीवन के कलाकार थे। जीवन के शिल्पी थे। मनुष्य पूर्णता की ओर किस तरह प्रगति कर सकता है, इसका बढ़िया नमूना उनके जीवन से मिलता है। उनके जीवन में मुख्य प्रेरणा धर्म की मालूम पड़ती है। धर्म का अर्थ कोई सम्प्रदाय नहीं, बल्कि सभी धर्मों में जो आध्यात्मिक तत्व होता है वह। ऐसी आध्यात्मिक खोज गांधीजी के समग्र जीवन के साथ ओतप्रोत है।

गोलमेज परिषद् के समय किसीने सन्देश मांगा, तब गांधीजी ने कहा—"मेरे शरीर के एकाध अंग को काट दिया जाय तो मैं जिन्दा रह सकता हूं, लेकिन अगर मेरा धर्म मुझसे छीन लिया जाय तो मैं जिन्दा नहीं रह सकता।" इसमें अन्तर की प्रतीति की झंकार है।

गोलमेज परिषद् में जाने से पहले वह (गुजरात) विद्यापीठ में आकर रहे थे। उस समय गांधीजी के मुंह से मैंने अपने कानों से सुना वह ऐसा था, जिसे मैं कभी भूल नहीं सकता। उन्होंने कहा था—"परमेश्वर अवश्य है। नरसिंह, मीरा, सूरदास, तुलसीदास क्या गलत कह सकते हैं?" कोई वकील कह सकता है कि भला यह भी कोई दलील है? लेकिन यह तो उनके अन्तर की प्रतीति थी। इसीके फलस्वरूप दक्षिण अफ्रीका में गाड़ी के सींखचे को कसके पकड़ लिया और कहते हैं, "मैं तो बस भगवान से प्रार्थनाभर करता रहा।" सच तो यह है कि उनके पास और कोई साधन नहीं था। प्रार्थना ही उनका एकमात्र सहारा थी।

एक बार रात के डेढ़-दो बजे एकाएक नींद से जाग पड़े और कहने लगे, "मेरे ऋणदाता, तेरा आज मैंने स्मरण नहीं किया और प्रार्थना किये बगैर ही सो गया!" फिर लिखा—"मेरा सारा शरीर कांपने लगा। पसीने से मैं सराबोर हो गया।" प्रार्थना और ईश्वरनिष्ठा गांधीजी के जीवन में किस तरह जुड़ गई थी, यह इस वर्णन से स्पष्ट है। कोई इसे भ्रम कह सकता है और कोई आत्मप्रतारणा कहकर हँसी भी उड़ा सकता है, परन्तु उनका अपना अन्तर तो स्पष्ट था और इसकी पूरी गवाही देता था।

अन्तरनाद यानी अन्तरात्मा की आवाज का उन्होंने कई बार जिक्र किया है। "लौकिक बुद्धि के लिए अन्तरपट बन्द हों, फिर भी अन्दर से कोई प्रेरणा मिले, वही अन्तरात्मा की आवाज है।" यही क्षीण और अस्पष्ट आवाज उन्हें सुनाई पड़ती थी। एक बार उन्होंने यह भी कहा—"सत्य का तादृश साक्षात्कार ही अन्तरकार है।" हमारे लिए यह दीवार जितनी यथार्थ है उतनी ही ये सब वस्तुएं उनके लिए यथार्थ थीं। एक धर्म-पुरुष के रूप में इस तरह वह कठिनाइयों से पार हो जाते थे।

फिर उन्होंने कहा, "मेरे लिए तो धर्माचरण ही धर्म है।" गांधीजी बड़े व्यवहार-कुशल थे। नकद सौदे की चीज में विश्वास करते थे। मतलब यह कि जिस बात को ठीक समझें, वह अत्यन्त व्यवहार यानी आचरण में भी आनी चाहिए। उन्होंने लिखा है—"रायचन्दभाई हीरे-मोती के व्यापारी थे और हजारों-लाखों के मोती के सौदे करते थे, लेकिन ग्राहक के जाते ही तुरन्त अपने जीवन की अनुभूतियों को फिर से लेखबद्ध करने में व्यस्त हो जाते।" इन्हीं रायचन्दभाई से गांधीजी को धर्म-पुरुष यानी धार्मिक व्यक्ति की 'इमेज' मिली। उनपर से वह देख सके कि लोक और परलोक दोनों को इस तरह साधा जा सकता है। एक कली से शतदल कमल खिल सकते हैं, इसकी उन्हें भली भांति प्रतीति हो गई। फिर तो वह ईसाइयों के सम्पर्क में भी आये, लेकिन उनका धर्म ग्रहण करने के बजाय उन्होंने यही कहा, "मुझे अपने धर्म में ही सब-कुछ मिल रहा है।" और यह झूठी अस्मिता नहीं थी, बल्कि राय-

चन्दभाई जैसों से जो कुछ मिला, उसीके फलस्वरूप यह दृढ़ विश्वास था।

धर्म की उन्होंने जो साधना की, उसमें सत्य को प्रमुखता दी। सत्य और अहिंसा ये दो ऐसे शब्द हैं, जो बहुत प्राचीन काल से हमारे यहां चले आ रहे हैं। गांधीजी कहते थे, "इनके सम्बन्ध में मुझे नई बात कुछ नहीं कहनी, नई बात इनमें भला क्या होती है? अगर हो तो उसे ढूंढ़ निकालने और उसे अपनाने में ही पुरुषार्थ है। इस सत्य की सेवा के लिए ही मैं प्रयत्नशील हूं। अभी तो लगता है कि वह हिमालय की चोटी पर है, पर जो जानते हैं उनका घमण्ड दूर हो जाता है। मेरा तो कभी का दूर हो चुका है।"

सत्य की प्राप्ति का साधन उन्होंने अहिंसा को माना। गांधीजी ने अपनी गिनती अनेकांतवादियों में की है। एक ही मार्ग से सत्य को पहुंचा जा सकता हो, ऐसी बात नहीं। उसतक पहुंचने के तो अनेक मार्ग हैं। अहिंसा को गांधीजी एक सक्रिय और गतिशील वस्तु मानते थे। उनके मतानुसार तो वह प्रेम का अभिसरण है। अहिंसा के आस-पास वैर नहीं रहता। वह तो कहते थे, "अहिंसा का जाग्रत लक्षण प्रेम है। अहिंसा का पालन करनेवाला किसीसे वैर कर ही नहीं सकता। मुझे तो स्वप्न में भी किसीके प्रति वैर-भाव नहीं होता।"

सभी धर्मों को उन्होंने खुले मन से समझने का प्रयत्न किया। वैष्णव संस्कार तो उनमें जन्म से ही थे। जैनधर्म के बारे में भी बचपन से ही ध्यान होगा। श्रवण, हरिश्चंद्र आदि के नाटक देखे, तो उनके संस्कार आये। रम्भा ने 'राम' का नाम जीभ पर चढ़ा दिया था। इंग्लैण्ड में ईसाइयों के सम्पर्क में आये। दक्षिण अफ्रीका में मुसलमानों और ईसाइयों के विशेष निकट आये। इसपर से हम देख सकते हैं कि जिस तरह मधुमक्खी सभीसे रस चूसने का प्रयत्न करती है उसी तरह उन्होंने भी किया। ऐसा करते हुए उन्होंने सभी धर्मों के प्रति अपने अन्दर आदर की भावना पैदा की और धीरे-धीरे सर्वधर्म-समभाव पर आ गये। टाल्स्टाय फार्म में तो अपनी प्रार्थना में अन्य धर्मों की प्रार्थना का भी समावेश उन्होंने कर लिया था। सभी धर्मों में कितने शाश्वत तत्व विद्यमान हैं, यह गांधीजी जैसों के जीवन से जाना जा सकता है।

धर्म की उनकी भावना ऐसी नहीं थी कि सबसे पृथक् होकर जा बैठा जाय। उन्हें तो वही धर्म इष्ट था, जिसका लोक-व्यवहार करते हुए जीवन में पालन किया जा सके। कर्म करते हुए प्रभु के दर्शन करना उनका मार्ग था। अविरत कर्म द्वारा ही प्रभु को पाया जा सकता है, ऐसा वह मानते थे। सत्य को पकड़ा तब धीरे-धीरे सत्याग्रह का शस्त्र उनके हाथ आया। वह योंही उनकी जेब में आ पड़ा हो, ऐसी बात नहीं; पूरी तरह उसके उपयुक्त हो जाने पर ही वह उनके हाथ आया।

टाल्स्टाय को पुस्तिका भेजी तो उसमें 'आपका एक विनम्र शिष्य' लिखकर भेजी। गांधीजी में गिड़गिड़ाहट तो नहीं मिलेगी, पर विनम्रता उनके प्रत्येक वाक्य में झलकती है। साथ ही लिखते समय आत्मगौरव का पूरा ध्यान रखते थे। टाल्स्टाय से उन्हें जो चीज मिली वह यह कि "वैकुण्ठ स्वयं अपने ही हृदय में है।"

गांधीजी की चेतना में शब्द सर्जनात्मक रूप में सामने आते हैं। एक बार एक अंग्रेजी लेख का शीर्षक उन्होंने दिया 'डैथ डांस' और गुजराती में उसका अनुवाद किया 'पतंग-नृत्य', जो निश्चय ही पूर्ण सार्थक था। हम कवि लोग 'इमेज' मांगते हैं न? यहां गांधीजी ने एक ही शब्द में कितनी बड़ी 'इमेज' उपस्थित कर दी! शब्द को उन्होंने खूब कसा है। 'इंडियन ओपीनियन' के बारे में उन्होंने ठीक ही लिखा था, "मैं कह सकता हूं कि मैंने उसमें कभी कोई अतिशयोक्ति नहीं की और किसीको खुश करने की दृष्टि से कभी कुछ नहीं लिखा।"

सत्याग्रह के शस्त्र को भी गांधीजी ने बहुत प्रयत्नपूर्वक उन्नत किया। एक बार बा का स्वास्थ्य बिगड़ जाने पर बापू ने उनसे कहा, "तुम दाल और नमक खाना छोड़ दो।" बा ने जवाब दिया, "ये तो तुमसे कोई कहे तो तुम भी न छोड़ो।" बस, फिर क्या था, बापू को अपना प्रेम बताने का मौका मिल गया। उन्होंने कहा, "चलो, तुम छोड़ो या नहीं, पर मैं तो आज से ही एक वर्ष के लिए दाल और नमक छोड़ता हूं।" इसमें सत्याग्रह का मर्म निहित है। सत्याग्रही दूसरे को समझाने के लिए स्वयं सहन करता है। प्रेम का सेतु बनाने का यह तरीका है।

उपवास के शस्त्र का उन्होंने कई बार इस्तेमाल किया। उन्होंने बताया है कि उसमें "दो बार इस शस्त्र का इस्तेमाल करने में मैंने अतिरेक किया। एक तो अहमदाबाद के मजदूर-आन्दोलन के समय और दूसरी बार राजकोट में राष्ट्रीय शाला के उपवास के अवसर पर।" सच तो यह है कि उपवास जैसे शस्त्र का उपयोग तो गांधीजी जैसे ही ठीक तरह कर सकते हैं, क्योंकि यह ऐसा शस्त्र है जिसका मूल आत्मशुद्धि में ही है।

गांधीजी को धर्मपुरुष की कल्पना रायचन्द्रभाई से मिली और टाल्स्टाय से उन्होंने सीखा कि 'वैकुण्ठ अपने ही हृदय में है'। इनका अनुसन्धान करते हुए उन्होंने अहिंसा और सत्याग्रह को पाया। तीसरे गुरु रस्किन से उन्हें 'सर्वोदय' की कल्पना मिली। हेनरी पोलक यात्रा के समय गाड़ी में पढ़ने के लिए एक किताब दे गये—'अनटू दिस लास्ट'। उस पुस्तक को पढ़कर गांधीजी विचारों में ऐसे खोये कि रातभर सो न सके, मानों चारों ओर दीप जल उठे और हृदय के कपाट खुल गये। उन्हें लगा, इस पुस्तक में जिस तरह बतलाया गया है वैसा ही जीवन-व्यवहार होना चाहिए।

बस, फिर क्या था! गांधीजी ने दरिद्रनारायण को अपनी सारी प्रवृत्ति का केन्द्र बना लिया। गांधीजी को अगर मैं कवि कहूं तो उसे आप मेरी निरी कवि-कल्पना न मानें। उन्होंने दरिद्रनारायण पर एक काव्य-कल्पना की थी—'दीड भंगी की तरह...' जैसे सामान्य मनुष्य छोटी-सी झोंपड़ी में रहता है, तू टूटी-फूटी झोंपड़ी में बैठा है। शरीर पर पूरे वस्त्र भी नहीं हैं। और वह महाविनम्र न हो तो काम ही कैसे चले?" इस प्रकार हरएक में वह परमेश्वर को देखते थे।

१९३४ में उन्होंने कहा था "हिन्दूधर्म का सार तत्व अगर कोई मुझसे पूछे तो मैं ईशावास्य उपनिषद् का प्रथम श्लोक बताऊंगा।" वह सारा श्लोक ईश्वरमय है। गांधीजी को क्षण-क्षण में ऐसी प्रतीति का अनुभव होता था। सत्य की पूजा, दरिद्रनारायण की सेवा, यह सब इस प्रतीति से ही प्रकट हुए। उन्हें व्यक्त करने के लिए सामाजिक आदर्श उन्होंने 'सर्वोदय' की कल्पना में दिया। इससे छोटा आदर्श मानव-जाति की रक्षा नहीं कर सकता, ऐसी उनकी मान्यता थी।

गांधीजी के साथ मुझे श्रीकृष्ण की याद आती है। सेवा में श्रीकृष्ण बड़े पारंगत थे। कंसवध किया, पर स्वयं गद्दी पर नहीं बैठे। गांधीजी ने भी किसी पद को स्वीकार नहीं किया। अन्त में तो वह कांग्रेस के चवन्नी-सदस्य भी नहीं रहे। श्रीकृष्ण १८ अक्षौहिणी सेना के बीच भी निःशस्त्र रहे थे। समाधानवृत्ति की भी उन्होंने प्रतिष्ठा बढ़ाई। एक बार जरासन्ध से श्रीकृष्ण ने कहा था, "तू राजाओं को इस तरह पकड़कर कैद में रखता है। मेरे जिन्दा रहते तू ऐसा कैसे कर सकता है? मेरे जैसा आदमी जिन्दा हो उस समय कोई ऐसा अन्याय और अत्याचार करे, यह नहीं हो सकता।"

गांधीजी ने भी अपनी पूर्ण विनम्रता के साथ लगभग ऐसा ही वाक्य लिखा है। जोहानिसबर्ग में भारतीय अमुक जगह रिश्वत देकर ही रह सकते थे। उस सन्दर्भ में गांधीजी ने लिखा था, "यह भ्रष्टाचार दूर न हो तो मेरा ट्रांसवाल में रहना व्यर्थ ही होगा।" कहने की जरूरत नहीं कि श्रीकृष्ण के कथन में जो बल है, जो भाव है, वही इस वाक्य में है।

यह बल अंततोगत्वा प्रेम का ही बल है, आत्मा का बल है। अपने जीवन द्वारा गांधीजी इसका व्याकरण प्रदान कर गये हैं।

मेरी भक्तिपूर्ण खोजने मुझे 'ईश्वर सत्य है' के प्रचलित मन्त्र के बजाय 'सत्य ही ईश्वर है' का अधिक गहरा मन्त्र दिया है। —मो० क० गांधी

वैष्णव जन

विष्णु प्रभाकर

(प्रारम्भिक सुमधुर भक्ति संगीत की ध्वनि के साथ-साथ वैष्णव जनवाला गीत उभरता हुआ पास आता है।)

गायक : वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड पराई जाणे रे,
परदु:खे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे,
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे।

(गीत के ये स्वर धीरे-धीरे पृष्ठभूमि में जाते हैं और सूत्रधार का गम्भीर स्वर उभरता है।)

सूत्रधार : वैष्णव जन ईश्वर का वह दीवाना है, जो अपने प्रभु को न तो शब्द से प्राप्त करता है, न शास्त्र से। सत्य के सहारे प्रेम के मार्ग से ही उसकी खोज चलती है।

सूत्रधार : ये शब्द उस व्यक्ति हैं, जो आज से ९९ वर्ष पूर्व इस धरती पर पैदा हुआ था। कालान्तर में वही महात्मा गांधी के नाम से विख्यात हुआ। उसका नाम उसके जीवनकाल में ही एक व्यक्ति का पर्याय न रहकर वर्तमान दुखी संसार के लिए आदर्श जीवन का पर्याय बन गया था। जहां कहीं भी अन्याय और असत्य का बोलबाला होता था वहीं वह मनुष्य की पीर हरने के लिए पहुंच जाता था। दक्षिण अफ्रीका हो या भारत, उसने प्राणों की चिन्ता किये बिना मनुष्यों की मुक्ति के लिए अनथक प्रयत्न किये। अज्ञान और जड़ता से उसने कभी हार नहीं मानी और इन प्रयत्नों के लिए शक्ति ग्रहण की इसी भजन से। उसकी अन्तरवाणी मानों इसी भजन में प्रतिध्वनित होती थी। यह उसकी सच्ची मन:स्थिति का प्रतीक था।

(धीरे-धीरे 'वैष्णव जन' गान उभरता हुआ पास आता है)

गायक : वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड पराई जाणे रे
परदु:खे उपकार करे, तोए मन अभिमान न आणे रे

(गीत पृष्ठभूमि में जाता है और सूत्रधार का स्वर उभरता है)

सूत्रधार : वैष्णव जन वह है, जो परदुख-भंजक होता है, फिर भी निरभिमानी रहता है। गांधीजी से अधिक दूसरे के दुख-दर्द को समझनेवाला कौन है! हम उन्हें राष्ट्रपिता कहते हैं। मानते हैं, उन्होंने देश को स्वाधीन कराया, परन्तु उनका लक्ष्य था मनुष्य के दुख-दर्द को दूर करना। स्वाधीनता तो उस लक्ष्य को पाने का साधन-मात्र थी। उड़ीसा के प्रवास के समय वहां की दुर्दशा देखकर वह मर्माहत हो उठे थे।

स्वर : उन्होंने कहा था—कितना दारिद्रय और दैन्य है यहां। क्या किया जाय इन लोगों के लिए। जी चाहता है कि मरण की घड़ी में यहां आकर इन लोगों के बीच मरूं। उस समय जो मुझे यहां मिलने आयंगे वे तो इन लोगों की करुण दशा देखेंगे। किसी-न-किसी का तो हृदय पसीजेगा।

सूत्रधार : और किसीका दिल पसीजा हो या न पसीजा हो उनका दिल तो पसीजा ही। उन्होंने बार-बार मनुष्य का दुख-दर्द दूर करने के लिए प्राणों की बाजी लगाई। छोटे-से-छोटे व्यक्ति के लिए भी उन्होंने अपनी करुणा का स्रोत बहाया। सन् १९२२ में जब वह जेल में थे तो उनकी सेवा के लिए एक बद्दू कैदी उनके पास रहता था। वह उनकी भाषा तक न समझता था। सरकार ने उन्हें परेशान करने के लिए ही उसे रख छोड़ा था। एक दिन उसको बिच्छू ने काट लिया। रोता हुआ वह गांधीजी के पास आया। तब सहज भाव से उन्होंने घाव धोकर उसपर अपना मुंह लगा दिया और डंक खींच लिया। उस गरीब ने कभी ऐसा

प्रेम नहीं पाया था। वह उनका परम भक्त हो गया। यहींपर उनके एक साथी थे परचुरे शास्त्री। उन्हें कुष्ट हो गया। सबकुछ करने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ। अचानक वह एक दिन आश्रम में आ पहुंचे। सवेरे का समय था। गांधीजी सैर को निकल रहे थे। शास्त्रीजी कुछ कदम की दूरी पर जाकर उनके पास रुके। गठड़ी जमीन पर रख दी और श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया।

स्वर : बापू बोले, तुम्हारा पत्र मुझे मिल गया था, परन्तु मैंने सोचा था कि आने से पहले तुम मेरे पत्र की प्रतीक्षा करोगे।

शास्त्री : सो तो ठीक है, बापू, लेकिन वायसराय के साथ अपनी मुलाकात के बाद आपने जो वक्तव्य दिया, उसे पढ़कर मैं सिहर उठा। दो दिन आपके पास गुजारने की अनिवार्य इच्छा हो आई। मैं जानता हूं, आने से पहले मुझे आपके पत्र का इन्तजार करना चाहिए था। लेकिन मैं अपनेको रोक न सका। अब आपके दर्शन तो मैं कर ही चुका। आपको भेंट करने के लिए सूत इस गठड़ी में है। अब सामने के पेड़तले रात बिताकर सबेरा होते ही हरिद्वार लौट जाऊंगा।

स्वर : बापू ने पूछा, भोजन हुआ कि नहीं।

शास्त्री : हां, दोपहर को हुआ था। उसके बाद कुछ नहीं खाया।

सूत्रधार : बापू ने कनू गांधी को बुलाया और शास्त्रीजी के आतिथ्य का भार उनको सौंप दिया। फिर सदा की तरह सैर के लिए चल पड़े। इस समय वह बच्चों के साथ खेलते, हँसी-मजाक करते या ऐसी बातें करते जिनका गम्भीर समस्याओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता था। लेकिन उस दिन उनके चेहरे पर भयंकर द्वन्द्व की रेखाएं उभर आईं। शाम की प्रार्थना के बाद भी वह चुपचाप मालिश कराकर सो गये। लेकिन अन्तर-हृदय में संघर्ष का तुमुल नाद गूंजता रहा।

स्वर : क्या परचुरे शास्त्री को वापस लौट जाने दूं या आश्रम में रहने दूं। वह कोढ़ी हैं और आश्रम में दूसरे लोग भी रहते हैं। उनके स्वास्थ्य का दायित्व भी तो मुझपर है...लेकिन यह जो व्यक्ति मेरे द्वार पर आया है, ऐसा लगता है जैसे स्वयं प्रभु ही मेरे द्वार पर आये हैं...शास्त्रीजी को लौटाना ऐसा ही होगा न, जैसे प्रभु को द्वार से लौटा देना...नहीं-नहीं, प्रभु को लौटा देने वाला मैं कौन ? वह यहीं रहेंगे। वह वापस नहीं जायंगे।

सूत्रधार : और परचुरे शास्त्री फिर वापस नहीं गये। यह था बापू के सत्य का एक और प्रयोग। प्रेम के साथ सभीको, क्षुद्र-से-क्षुद्र को भी, यहांतक कि जिसे अछूत भी न छूयेगा ऐसे व्यक्ति को भी छाती से लगा लेने-वाली अहिंसा की अभिव्यक्ति। स्वाधीनता-संग्राम के गम्भीर क्षणों में भी शास्त्रीजी के कोढ़ के घाव उनके नेत्रों के सामने घूमते रहते थे। वह रोज अपने हाथों से उन घावों को साफ करते और शरीर की मालिश करते। एक बार वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की एक बहुत ही महत्वपूर्ण बैठक हो रही थी। बापू बीच में उठे।

स्वर : उन्होंने कहा—मुझे बहुत जरूरी काम से सेवाग्राम जाना है।

सूत्रधार : यह सुनकर जवाहरलाल कुछ खीझकर बोले—

जवाहरलाल : क्या स्वराज्य से बढ़कर जरूरी काम सेवा-ग्राम में है ?

स्वर : बापू ने कहा—हां, मेरे लिए वह स्वराज्य से बढ़-कर है।

सूत्रधार : सन् १९४७ में देश स्वतन्त्र हो गया। लेकिन अंग-भंग हो जाने के बाद ही। लाखों शरणार्थी घरों से उखड़कर इधर-से-उधर भागे। बापू का दिल टूट गया। भारत आनेवाले शरणार्थियों से वह प्रतिदिन दो से चार बजेतक मिलते थे। पर आनेवालों का कोई अन्त नहीं था। बापू थककर चूर-चूर हो जाते थे। कैसे-कैसे सवाल करते थे वे लोग :

(स्वर उभरते हैं)

स्वर : बापू, मुझे नौकरी चाहिए...बापू, मुझे मकान नहीं मिला...बापू, मेरे घर में चोरी हो गई, कोई सुनता नहीं...बापू मेरी बिल्टी नहीं छूटती, माल सड़ रहा है...बापू मेरा बच्चा खो गया......बापू मेरा परिवार कत्ल हो गया...

(स्वर एक दूसरे में उलझते हैं और उनके ऊपर 'राम' 'राम' का स्वर छा जाता है।)

स्वर : बापू कराह उठते, पुकारते—हे राम, हे राम, मैं क्या करूं। मेज पर कागजों का ढेर लगा है। कब उत्तर दूं ? कब सोऊं ?

चांदीवाला : तो मुलाकातें अब बन्द कर दूं।

स्वर : बापू कहते, नहीं मैं यहां इन लोगों के लिए ही तो पड़ा हूं। इन्हें मेरे पास आकर कुछ भी सन्तोष मिल सके तो अच्छा है।

(गीत फिर उभरता है)

गायक : वैष्णव जन तो तेने कहीए, जे पीड पराई जाणे रे,
सकल लोक मां सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे।
वैष्णव जन तो...

(गीत पृष्ठभूमि में जाता है। सूत्रधार का स्वर उभरता है)

सूत्रधार : जो सबकी वन्दना करता है अर्थात् जो सबके सामने नम्रता से झुकता है वही वैष्णव जन है।

स्वर : गांधीजी के लिए नम्रता का अर्थ था अहम्भाव का आत्यान्तिक क्षय। अहिंसा की भावना लाजमी तौर पर विनम्रता की ओर ले जाती है। विनम्रता जल्दी-से-जल्दी सफलता पा लेने का गुर है। गांधीजी ने जीवनभर इसी अहम्भाव से मुक्ति पाने का प्रयोग किया। श्रीकृष्ण ने पाण्डवों के यज्ञ में अपने लिए अतिथियों के चरण धोने का काम मांगा था। बापू ने आश्रम में बरतन मांजे, पानी भरा, मैला साफ करने तक से परहेज न किया। लाला लाजपतराय आये हैं, उन्हें खाना खिलाना है। कुत्ते परेशान कर रहे हैं, बापू खड़े हुए कुत्तों को भगा रहे हैं। हकीम अजमलखां साहब खाने पर बैठे हुए हैं। बा पका रही हैं और वह ला-लाकर परोस रहे हैं। खा चुकते हैं तो हाथ धुलाते हैं। रात को हकीमसाहब को रतौंधी आती है। इसलिए जाते समय आगे बढ़कर उनके जूते उठा लाते हैं और उनके पैरों के पास लाकर रख देते हैं। नोआखाली में अकेले घूम रहे हैं। उन संकरी पगडंडियों पर जहां-तहां थूक, मलमूत्र पड़ा दिखाई देता है। वह नंगे पैर चलते हैं और चलते-चलते आस-पास के सूखे पत्ते उठाकर अपने हाथों से मैला साफ करने लगते हैं।

सूत्रधार : और गांधीजी जीवनभर गन्दे को साफ ही बनाते रहे, शब्द से नहीं कर्म से। जो कर्म करता है वही वैष्णव जन है। वह किसीकी निन्दा नहीं करता। 'निन्दा न करे केनी रे।' एक दिन सूत कातने के बाद वह उसे लपेटे पर लपेटने जा रहे थे कि उन्हें किसी जरूरी काम से बाहर जाना पड़ा। जाते समय अपने स्टेनों श्री सुबैय्या से बोले—सूत लपेटे पर उतार लेना, तार गिन लेना और प्रार्थना के समय से पहले मुझे बता देना। नियम यह था कि प्रार्थना शुरू करने से पहले सबकी हाजिरी ली जाती थी। उसी समय प्रत्येक व्यक्ति अपने कते हुए तारों की संख्या भी बता देता था। सूची में सबसे पहला नाम गांधीजी का था। हाजिरी लेनेवाले ने पुकारा... 'गांधीजी।'

स्वर : गांधीजी ने कहा—'ओम।'

सूत्रधार : तभी याद आया कि सूत के तारों की संख्या तो सुबैय्या ने बताई ही नहीं। उन्होंने उसकी ओर देखा, सुबैय्या चुप, गांधीजी भी चुप। हाजिरी आगे बढ़ी। प्रार्थना शुरू हुई, समाप्त भी हो गई। बापू ने बातचीत शुरू की। तब उनके चेहरे पर गहरी वेदना उभर आई थी। दर्दभरे स्वर में वह बोले—

स्वर : मैंने आज भाई सुबैय्या से कहा था कि मेरा सूत उतार लेना और मुझे तारों की संख्या बता देना, लेकिन मेरी बड़ी भूल थी। मुझे अपना काम आप ही करना चाहिए था। मैंने नहीं किया। भाई सुबैय्या का इसमें कोई दोष नहीं। मेरा ही दोष है। मैंने क्यों अपना काम उनके भरोसे छोड़ दिया। मुझसे यह प्रमाद क्यों हुआ। सत्य के साधक को ऐसे प्रमाद से बचना चाहिए। आज की इस भूल से मैंने एक बहुत बड़ा पाठ सीखा। अब मैं फिर ऐसी भूल कभी नहीं करूंगा।

सूत्रधार : गांधीजी मानते थे कि कमी तो कहीं मुझमें ही है, जिसके कारण दूसरों से अपराध हुआ। मुझे उनकी निन्दा करने का कोई अधिकार नहीं। वैष्णव जन

किसीकी निन्दा नहीं करता। वैष्णव जन का एक और गुण है—

(पृष्ठभूमि में गायक का स्वर पास आता है)

गायक : वाछ काछ मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे।

सूत्रधार : जो वाचा दृढ़ रखता है, जो आचार दृढ़ रखता है, जो मन दृढ़ रखता है, उसकी जननी को धन्य है। वैष्णव जन न तो अशान्त हो सकता और न अस्थिर। वह सत्य को देख लेता है और फिर निश्चल हो जाता है। भयंकर-से-भयंकर संकट में भी डगमगाता नहीं, क्योंकि वह सत्य का संघर्ष है और सत्य का संघर्ष कठोर और लम्बा होता है। अफ्रीका में सत्याग्रह के समय उनके साथी केलनबैक जेब में पिस्तौल रखकर उनके साथ चलते थे। एक दिन उन्होंने देख लिया। बोले :

स्वर : चलो अब तो मैं पूरा निश्चित हो गया। मेरी रक्षा का सारा भार परमेश्वर से आपने ले लिया। जबतक आप मौजूद हैं, मुझे अपनेको सुरक्षित मानना चाहिए।

सूत्रधार : सुनकर बेचारे केलनबैक पानी-पानी हो आये। उन्होंने उसी क्षण पिस्तौल फेंक दी। लेकिन बापू की निश्चलता की परीक्षा तो उस दिन हुई जिस दिन असहयोग आन्दोलन के प्रथम चरण में अकस्मात् एक दिन चौरी चौरा में भयानक दुर्घटना घटित हो गई। अहिंसक होने के संबंध में देशवासियों के प्रति उनका विश्वास हिल गया।

तब यह बात सारी दुनिया के आगे निष्कपट भाव से प्रगट करने में उन्हें लेशमात्र भी दुविधा न हुई। अपनी भूल बारम्बार स्वीकार करके राजशक्ति के साथ शीघ्र होनेवाले तीव्र संघर्ष की सम्भावनाओं को उन्होंने क्षणभर में अपने हाथ से रोक दिया। केवल महात्माजी ही ऐसी स्थिति में सत्याग्रह स्थगित कर सकते थे, दुनिया में और कोई नहीं।

सूत्रधार : लेकिन वैष्णव जन के लिए केवल इतना ही तो काफी नहीं है। नरसी मेहता आगे कहते हैं :

(गायक का स्वर उभरता है)

गायक : समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी पर-स्त्री जेने मात रे, जिह्वा थकी असत्य न बोले, पर-धन नव-झाले हाथ रे।

स्वर : वैष्णव जन वह है जो सम-दृष्टि होता है, जो तृष्णा-रहित होता है। जो एक पत्नी-व्रत पालता है, सत्य-व्रत पालता है, यानी कभी असत्य नहीं बोलता और अस्तेय पालता है, यानी दूसरे के पैसे को कभी नहीं छूता।

सूत्रधार : जिस व्यक्ति ने अस्पृश्यता का कलंक धोने के लिए बार-बार अपने प्राणों की बाजी लगाई, वह सम-दृष्टि नहीं तो और क्या है। उन्होंने कहा—

स्वर : गीता में भी यह कहा गया है समदर्शी के लिए ब्राह्मण, श्वान, अन्त्यज सब एक जैसे हैं। नरसैया भी कहता है कि वैष्णव जन में सम-दृष्टि होनी चाहिए। वैष्णव जन अन्त्यज को सर्वथा अस्पृश्य मानते हुए उसके प्रति समदर्शी होने का दावा नहीं कर सकता। यदि मेरा पुनर्जन्म हो तो मैं अछूत होकर जन्मना चाहूंगा, ताकि मैं उनके दुख-दर्द में और उनके अपमान में भाग ले सकूं और अपने-आपको तथा उनको उस दयनीय अवस्था से छुड़ाने का यत्न कर सकूं।

सूत्रधार : उनकी इस अदम्य इच्छा-शक्ति और दुर्दमनीय प्रयत्नों के कारण ही तो स्वाधीन भारत ने युग-युग की इस लानत को कलम की एक नोक से एक क्षण में समाप्त कर दिया। जो सत्य का उपासक है, उसके लिए अपने एक-एक शब्द का अर्थ होता है और वह उस अर्थ को जीना जानता है। एक व्यक्ति ने आश्रम में राष्ट्रीय शाला का मकान बनवाने के लिए उन्हें चालीस हजार रुपये दिये, लेकिन इससे पहले कि मकान बन सकता, नगर में इन्फ्लुएन्जा आ गया। रोज सौ-सौ, दो-दोसौ आदमी मरने लगे। नगर में हाहाकार मच गया। तब बापू ने रुपये लानेवाले व्यक्ति से कहा—

स्वर : इस साल तो मकान नहीं बन सकता, इसलिए सोमा-लालभाई ने जो रुपये दिये हैं, वे उन्हें वापस कर दो।

व्यक्ति : लेकिन उन्होंने तो पैसे वापस नहीं मांगे।

स्वर : बापू बोले, तो भी क्या हुआ, जिस काम के लिए उन्होंने पैसे दिये वह तो अभी हो नहीं रहा, फिर

क्यों यह पैसे संभाले जायं। हम किसीके पैसे संभालकर रखने के लिए यहां थोड़े ही बैठे हैं।

सूत्रधार : ऐसा ही व्यक्ति तो वैष्णव जन हो सकता है और वही हो सकता है सत्य का उपासक। बापू के लिए सत्य सर्वोपरि था। सत्य ही उनके लिए भक्ति और मरकर जीने का मन्त्र था। इसी सत्य को उन्होंने अपने जीवन में समा लिया। जब वह अफ्रीका में थे तब वहां एक व्यक्ति ने अपने पड़ौसी का खून कर डाला, फिर अपनी रक्षा के लिए वह बैरिस्टर गांधी की शरण में आया। वह जानता था कि सत्य-निष्ठ गांधी उसकी वकालत करेंगे तो वह छूट जायगा। गांधीजी ने उसके मुकदमे का अध्ययन किया। उन्हें विश्वास हो गया कि इसने सचमुच खून किया है। तुरन्त बोले—

स्वर : मैं तुम्हारा बचाव नहीं कर सकता। तुमने खून किया है।

व्यक्ति : वह तो मैंने किया है। इसीलिए तो आपकी शरण में आया हूं। फीस के रूप में आपको एक हजार पौण्ड दूंगा।

स्वर : बापू ने हँसकर कहा, मैं पैसे के लिए वकालत नहीं करता, सत्य के लिए करता हूं।

सूत्रधार : और गांधीजी ने वह मुकदमा नहीं लड़ा। उस व्यक्ति ने एक हजार पौण्ड देकर तीन वकीलों को खड़ा किया। उन वकीलों ने दांव-पेच लगाकर उसे छुड़ा भी लिया। खुशी में वह फूला हुआ वह गांधीजी के पास आया।

व्यक्ति : आप समझते थे कि आपके सिवाय दूसरा कोई मुझे बचा नहीं सकता। देखिए मैं आपके सामने छूटकर आ गया या नहीं।

स्वर : गांधीजी बोले, भाई, क्या आप जानते हैं, आपको अपने छुटकारे के लिए कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है ?

व्यक्ति : आप एक हजार पौण्ड की बात कहते हैं। मैं इससे भी अधिक खर्च कर सकता था।

स्वर : गांधीजी बोले, मैं पैसे की बात नहीं करता। आपने सच्चाई और ईमानदारी का खून किया। यह आपने कोई मामूली कीमत चुकाई है ?

सूत्रधार : बचपन से ही वह सत्य के उपासक रहे थे। उन्होंने अपना सोने का कड़ा तोड़कर बेचा था। जबतक उन्होंने पिता के सामने जाकर उस अपराध को स्वीकार नहीं कर लिया तबतक उन्हें चैन नहीं पड़ी। जो सत्य का इतना बड़ा उपासक हो सकता है, वह क्या कभी इस तरह के धन को छू सकता है।

स्वर : उन्होंने कहा, अगर मैं किसी ऐसी चीज पर कब्जा कर बैठूं जो मेरे भाई के लिए जरूरी है, तो उतने अंश में मैं चोर साबित होता हूं।

सूत्रधार : जिस समय वह अफ्रीका से वापस लौटे तो वहां के भारतवासियों ने उन्हें तरह-तरह के मूल्यवान उपहार भेंट किये। उनमें सोने-चांदी और हीरे-जवाहरात की अनेक चीजें थीं। उस रात वह सो नहीं सके। एक प्रश्न उनके मन में घुमड़ता रहा।

स्वर : क्या मुझे यह सारे उपहार अपने पास रखने चाहिए ? क्या इन्हें अपनी चीज समझकर अपने निज के उपयोग के लिए उनको अपने पास रखने से मेरी सेवा-शक्ति बढ़ेगी ? क्या सार्वजनिक सेवा का कोई पुरस्कार अथवा उपहार लेना सेवक के लिए श्रेयस्कर होगा ?

(म्यूजिक अप)

सूत्रधार : सारी रात एक तूफान उनके अन्तर में घुमड़ता रहा। भोर होते ही उन्होंने पत्नी और बच्चों को समझाया और निश्चय किया कि उपहार में मिली चीजें जिनकी ओर से मिली हैं उन्हींकी सेवा के काम में लगनी चाहिए। तब कहीं जाकर उनका मन शान्त हुआ। उस युग में सार्वजनिक धन के प्रति ऐसी निस्पृहता रखनेवाले कहां थे। उन्होंने अपने आचरण द्वारा एक नया मानदण्ड सार्वजनिक सेवकों के सामने रखा। सन् १९२९ की बात है। आश्रम में कोठार का काम उनके एक भतीजे देखते थे। उनके हिसाब में कुछ गड़बड़ी पाई गई। उन्होंने असत्य का आचरण किया। बापू विकल हो उठे। भतीजे के अपराध स्वीकार कर लेने पर भी करुण विषाद की गहरी छाया ने उन्हें ग्रस लिया। बार-बार कहने लगे—

स्वर : यह मेरे ही किसी दोष का प्रतिबिम्ब है। दोषी मैं हूं।

सूत्रधार : इसी समय किसीने उन्हें बताया।

स्वर १ : बापू, आश्रम में आनेवाले एक अतिथि ने माता कस्तूरबा को चार रुपये भेंट किये थे। यह रकम उन्होंने तुरन्त आश्रम के दफ्तर में जमा कराई।

स्वर २ : नहीं-नहीं, बाद में याद दिलाने पर जमा करा दिये थे, भाई !

सूत्रधार : लेकिन बापू को इससे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने बा को दोषी माना। उनसे वचन लिया कि अगर फिर ऐसा हुआ तो वह आश्रम छोड़ देंगी। लेकिन फिर भी क्या मह शान्त हो सके। तीन बजे रात तक मंथन चलता रहा। फिर वह कलम लेकर लिखने बैठ गए। उस रात उन्होंने जो लेख लिखा, "मेरा दुख मेरी शर्म' वह ऐतिहासिक लेख है। उन्होंने अपनी पत्नी और अपने भतीजे के दोषों की चर्चा करते हुए अपना हृदय जनता के सामने उंडेल दिया।

स्वर : मैं अपने पापों को देखने और उन्हें दूर करने के लिए हमेशा तैयार रहता हूं। इस कारण ऐसे-ऐसे दोषों को देखते हुए भी मैं यह आशा रखकर जी रहा हूं कि आश्रम अपने नाम की योग्यता को अभी भी सिद्ध करेगा और फिर से मन्दिर मिटकर आश्रम बनेगा। इसी कारण अभी तो मैं यही विचार रखता हूं। जैसे-जैसे कमजोरियां प्रकट होती जायं, वैसे-वैसे मैं उन्हें जाहिर करता जाऊं और मन्दिर को निभाता जाऊं। अपनी इसी पापी अपूर्ण संस्था के द्वारा मैं प्रभु से मिलने की आशा रखता हूं। इस संस्था को मैं अच्छी-से-अच्छी कृति मानता हूं। मैं कहता रहता हूं कि यह संस्था मुझे मापने का गज है। इन पापों के प्रकट हो जाने पर भी मेरी इस कल्पना में कोई फेरफार नहीं हुआ।

सूत्रधार : इस लेख को पढ़कर सरोजिनी नायडू तिलमिला उठी थीं। उन्होंने कहा था—

सरोजिनी नायडू : बापू ने कस्तूर बा पर जो आरोप लगाये हैं, उनसे मेरे हृदय पर गहरी चोट लगी है। मैं इसे कस्तूर बा का ही नहीं सारी नारी-जाति का अपमान मानती हूं।

स्वर : बापू बोले, सरोजिनीदेवी, आज की यह घड़ी इस तरह नाराज होने की नहीं है, बल्कि खुशी से नाचने की है। तुम यह समझ लो कि भगवान ने हमपर बड़ी कृपा की। अगर वह मुझसे यह लेख न लिखवाता और आश्रम में जो दोप प्रगट हुए हैं, उन्हें दबाकर बैठ जाता तो यह आश्रम आश्रम न रहता, नरकधाम बन जाता और इसमें रहनेवाले हम सब अन्दर-ही-अन्दर सड़ने लगते। मैं तो मानता हूं कि मुझसे लेख लिखवाकर भगवान ने हम सबको उबार लिया है। फूल की तरह हलका बना दिया है।

सूत्रधार : वैष्णव जन अपराध-स्वीकृति में ही अपराध-निवृत्ति मानता है। बापू ने बार-बार अपनों के दोषों को अपने दोष मानकर पश्चात्ताप किया। मोह-माया उन्हें कभी नहीं व्यापी (गायक का स्वर उभरता है)

गायक : मोह माया व्यापै नहीं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे, राम नाम शुं ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमा रे। (स्वर पृष्ठभूमि में जाते हैं और सूत्रधार का स्वर उभरता है)

सूत्रधार : वैष्णव वह है जो मायातीत होता है। जो वीत-राग होता है, जो रामनाम में तल्लीन होता है। उसके रोम-रोम में सारे तीर्थ समाए हुए हैं। वह परम पवित्र है। बापू आंध्र प्रान्त में हरिजन-यात्रा पर थे। सभा में अपार भीड़ थी। भाषण पूरा होते ही एक नवयुवक मंच की ओर लपका। स्वयं-सेवकों ने उसे रोका।

स्वयं-सेवक : ठहरो-ठहरो, तुम किधर जा रहे हो।

युवक : मुझे महात्माजी के पास जाने दो। मुझे उन्हें एक भेंट देनी है।

स्वयं-सेवक : तब इधर से आओ। वह देखो, वह रहे बापू। बापूजी, युवक कुछ भेंट लेकर आया है।

युवक : बापूजी मैं एक चित्रकार हूं। यह मेरी कला का नमूना एक चित्र है। मुझ गरीब की यह भेंट स्वीकार कीजिए।

स्वर : बापू बोले—मैं इस चित्र को कहां ले जाऊंगा ? मेरा न घर, न बार। मैं इसे कहां लगाऊंगा ? यह सारा

बोझ बढ़ाकर मैं क्या करूंगा ? मुझे तो लगता है कि इस देह का भी भार न हो तो कितना अच्छा । इसलिए यह चित्र तुम अपने पास ही रखो ।

सूत्रधार : बापू को वह चित्र अच्छा लगा । पर अच्छा लगने से ही तो कोई चीज अपने पास नहीं रखी जा सकती ।

सूत्रधार : वैष्णव जन मनुष्य का दास बन सकता है, परन्तु मन का नहीं । ऐसे कितने ही अवसर आये, जब उन्होंने मन को गुलामी में बांधनेवाले फन्दों को कठोरता से तोड़ फेंका । नोआखली-यात्रा के अवसर पर सतीशबाबू ने उनके लिए एक चलती-फिरती झोंपड़ी बनाई ।

स्वर : बापू बोले, देखो सतीशबाबू ने मेरे महल के लिए कितनी मेहनत की । उन्होंने मुझपर कितना प्रेम बरसाया । लेकिन इतने बड़े प्रेम का मैं अकेले ही कैसे उपयोग करूं । इसलिए मैंने निश्चय कर लिया है कि यहीं उसका एक छोटा-सा दवाखाना बनवा दूं । मैं तो इधर-उधर जहां भी जगह मिलेगी, वहीं आराम से पड़ा रहूंगा और यदि कहीं न मिले तो इतने झाड़ तो हैं हीं । वे हमें कहां मना करते हैं । वहीं आराम से पड़े रहेंगे । जैसे रामजी को निभाना होगा निभाएगा ।

सूत्रधार : जिसने मोह-माया को जीत लिया है राम ही तो उसे निभाते हैं । बचपन में दाई ने कहा था, डर लगे तो राम का नाम लेना । जीवन के अन्तिम क्षण तक वह अपने राम में ही डूबे रहे ।

स्वर : उन्होंने कहा, मैं संसार में यदि व्यभिचारी होने से बचा हूं तो रामनाम की बदौलत । मैंने दावे तो बड़े-बड़े किये हैं, परन्तु यदि मेरे पास राम-नाम न होता तो स्त्रियों को बहन कहने लायक न रहा होता । जब-जब मुझपर विकट प्रसंग आये, मैंने रामनाम लिया है और मैं बच गया हूं ।

सूत्रधार : ऐसा ही एक विकट प्रसंग राजकोट आन्दोलन के समय आया था । उनकी प्रार्थना-सभा में अपार भीड़ थी । इस जन-बल से राज्य के अधिकारी घबरा उठे । उन्होंने भाड़े के बदमाशों की एक टोली को उस भीड़ पर टूट पड़ने का काम सौंपा । प्रार्थना समाप्त हो जाने पर बापू सदा की तरह मोटर की ओर चले । परन्तु भाड़े के बदमाशों ने स्वयं-सेवकों की कतार तोड़कर उन्हें घेर लिया । काकासाहब कालेलकर के पुत्र बाल कालेलकर उनके साथ थे । उन्होंने देखा बापू के प्राण खतरे से खाली नहीं हैं । वह उस हुल्लड़ में घुस पड़े । भीड़ टोलियों में बंटकर हाथा-पाई कर रही थी । सहसा बापू का शरीर थरथर कांपने लगा । क्या वह डर रहे थे । नहीं, वह वातावरण में व्याप्त हिंसा की प्रतिक्रिया थी । वह अस्वस्थ थे । किसी भी क्षण गिर सकते थे । लेकिन उन्होंने आंखें मूंद लीं और परम श्रद्धा के साथ 'रामनाम' का जप करने लगे । (वातावरण में उत्तेजना है, पर धीरे-धीरे 'राम नाम' का उठता हुआ दृढ़ स्वर उसपर छा जाता है ।)

सूत्रधार : कई क्षण तक यही स्वर गूंजता रहा । जैसे सारा विश्व इसी एक शब्द से भर उठा हो । जब बापूजी ने आंखें खोलीं तो वातावरण बदल चुका था । एक जादुई शक्ति वहां व्याप्त थी ।

स्वर : उन्होंने कहा, सब स्वयं-सेवक और आश्रमवासी तुरन्त यहां से चले जायं । मुझे इनकी दया पर छोड़ दें । मैं आज मोटर में भी नहीं बैठूंगा । पैदल चलकर घर आऊंगा । और तुम सुनो भाई, यदि तुम मुझसे बात करना चाहते हो तो अभी कर सकते हो और यदि तुम्हारा विचार कुछ और है तो वह बता दो ।

सूत्रधार : बापू के स्वर कान में पड़ते ही गुंडों की हिंसा मोम की तरह पिघल गई । सरदार हाथ जोड़कर उनके आगे खड़ा हो गया । बोला—

सरदार : मुझे माफ कर दो, बापूजी । मुझे आपसे क्या बहस करनी है ? आप अपना हाथ मेरे कन्धे पर रखिए, जहां भी आप चलने को फरमाएं, मैं आपको सुरक्षित पहुंचा दूं ।

सूत्रधार : और उस शाम बापू अपना एक हाथ गुण्डों के सरदार के कंधे पर रखकर अपने डेरे पर लौटे । जो भक्षक बनकर आया था वही रक्षक बनकर रह गया । ऐसी थी उनके रामनाम की शक्ति । प्रार्थना की शक्ति, आत्म-विश्वास और निर्भीकता की ही शक्ति है । वही सबसे बड़ा तीर्थ है । उस तीर्थ की यात्रा केवल वैष्णव जन ही कर सकता है । (गायक के स्वर उभरते हैं)

गायक : वण लोभी ने कपट-रहित छे काम क्रोध निवार्या रे,
भणे नरसैयो तेनुं दरसन करता कुल एकतेर तार्या रे।

स्वर : वैष्णव वह है जो लोभ-रहित होता है, कपट-रहित होता है, काम-रहित होता है, क्रोध-रहित होता है। ऐसे वैष्णव जन का दर्शन करने से ७१ पीढ़ियां तर जाती हैं।

सूत्रधार : बापू का सारा जीवन स्फटिक मणि के समान था। जो बाहर, वही भीतर। तभी तो हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में ४ फरवरी १६१६ को बोलते हुए वायसराय और राजा-महाराजा की उपस्थिति में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—

स्वर : कल महाराजा ने भारत की गरीबी का जिक्र किया था। अन्य वक्ताओं ने भी उसपर खूब जोर दिया। परन्तु जिस मण्डल में वायसराय ने शिलान्यास किया, वहां हमने क्या देखा। निश्चय ही एक बड़ा भारी भड़कदार तमाशा और रत्नाभूषणों की एक प्रदर्शिनी जो पेरिस से आनेवाले बड़े-से-बडे जौहरी की आंखों के लिए भी तृप्ति का भव्य दृश्य बनी हुई थी। बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सजे-सजाए इन रईसों के साथ मैं करोड़ों गरीबों की तुलना करता हूं। मुझे इन रईसों से यह कहने की आन्तरिक इच्छा होती है—जबतक आप लोग इन आभूषणों को बिल्कुल न उतार देंगे और इन्हें भारत के अन्य देशवासियों की अमानत के रूप में नहीं रखेंगे, तबतक भारत का निस्तार नहीं।

(तीव्र उत्तेजना 'वाह-वाह' और 'नहीं-नहीं' के स्वर 'गांधी बोले जाओ', 'गांधी बैठ जाओ' के स्वर आपस में टकराते हैं। फिर सबकुछ पृष्ठभूमि में जाता है)

सूत्रधार : सभा भंग हो गई। लेकिन उस दिन भारत ने उस व्यक्ति का स्वर सुना, जो छल-कपट से रहित था। ज्ञानी कह सकते हैं कि वह विवेकशील नहीं था, पर वह वैष्णव जन निश्चय ही था।

सूत्रधार : बापू अपने सिरजनहार के प्रति सदा सच्चे रहे। अन्तिम क्षण में भी जब हत्यारे की गोली उनके वक्ष के पार हो रही थी, तब भी उनके मुख से निकला, 'हे राम अर्थात्, हे मेरे सिरजनहार मैं तो तेरी ही शरण में हूं। तू जैसे चाहे रख।' चरम आत्म-संयम और अनुद्विगता के मामले में सुकरात के बाद संसार में बापू के समान और कोई नहीं पैदा हुआ। उनकी अजेय स्थिरता और अविचलता को देखकर यह अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि हत्यारे ने उन्हें गोली क्यों मारी थी। वही उनका परम सत्य था, वही उनकी परम उपलब्धि थी। यह उपलब्धि जो चरम-मुक्ति और चरम निव्वान ही है, वैष्णव-जन को ही प्राप्त हो सकती हैं। उस वैष्णव जन के दर्शन से ७१ पीढ़ियां तो क्या मन्वन्तर तर जाते हैं, क्योंकि वही तो शुद्ध हृदयवाला है। और केवल शुद्ध हृदयवाला ही ईश्वर और मनुष्य से प्रेम कर सकता है। इसके लिए इस भावना से बढ़कर मूल्यवान और कुछ नहीं। हमने किसी दूसरे के दुख में हिस्सा बटाया। अहंकार-रहित, भला करने के अभिमान से शून्य, पूर्ण दयालुता ही धर्म का सर्वोच्च रूप है। ईश्वर ने अपने दीवानों को अजीब-अजीब वेशों में दुनिया को जांचने के लिए भेज दिया और कह दिया जाओ तुम ऐसे ज्ञान का प्रचार करो जो समय से पूर्व हो। सब दुख आंखें खोलकर सहो और परिवर्तन का मार्ग साफ करो। ईश्वर के ये दीवाने वैष्णव जन होते हैं।

(पृष्ठभूमि में गायक का स्वर पास आता है)

मनोविकार हमारे सच्चे शत्रु हैं, यह समझकर उनसे नित्य युद्ध करते रहें।

—मो० क० गांधी

बापू और 'वैष्णव जन'

कमलनयन बजाज

गांधीजी के जीवन पर भगवद्भक्त नरसी मेहता के 'वैष्णव जन' भजन का गहरा प्रभाव था। किसी भी गंभीर स्थिति पर या मार्मिक अवसर पर जब बापूजी को गहरा चिंतन-मनन करना होता या व्यापक विचारों से मुक्त होना होता तो वे 'वैष्णव जन' भजन में तल्लीन हो जाया करते थे। इसी तरह कभी जेल जाने के मौके पर या किसी स्वजन आश्रमवासी का वियोग हो जाता या विदेश जाना होता अथवा विवाह आदि का कोई धार्मिक प्रसंग उपस्थित होता तब, या आनन्द-उल्लास का और कोई अवसर आ जाता उस समय बापू विशेषतया नरसी मेहता के इसी भजन को गाते और गवाया करते थे।

"वैष्णव जन" यह शब्द 'विष्णु के जन' से बना है। इसमें कवि ने वैष्णव जन कैसा हो, उसको इस प्रकार कहा है :

१. परदुखकातरता, २. निरभिमानता, ३. विनम्रता, ४. किसीकी निन्दा न करना, ५. मन, वचन और कर्म की दृढ़ता, ६. सम-दृष्टि, ७. तृष्णा का त्याग, ८. एकपत्नी-व्रत ९. सत्यनिष्ठा, १०. अस्तेय, ११. मोह-माया से मुक्ति, १२. वीतरागता, १३. रामनाम की महिमा, १४. पवित्रता, १५. कपटरहितता तथा १६. काम, क्रोध और लोभ का निवारण।

ये सारे लक्षण वैष्णव-जन पर जितने लागू होते हैं, उतने ही किसी सच्चे इंसान, देश के नागरिक या यों कहिये, मानव-प्रेमीजनों पर भी लागू होते हैं।

अर्जुन जैसे विद्वान, ज्ञानी के लिए भगवान कृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का वर्णन किया है। उन्हींको नरसी मेहता ने सामान्य जनों के लिए 'वैष्णव जन' भजन में सरलता से समझाया है। वे मूलतः स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के अनुरूप ही हैं। दोनों के शब्दों में अन्तर है, भावार्थ में नहीं। तत्वतः दोनों एक रूप ही हैं।

'रघुपति राघव राजा राम' की धुन में साक्षात् भगवान को ही पतितपावन कहा है। गांधीजी के शब्दों में दरिद्र ही नारायण है। उसकी सेवा करना, उसीका चिंतन करना, दरिद्रनारायण की ही सेवा-पूजा करना है। ऐसा ऐक्यभाव होने पर भक्त और भगवान में अन्तर नहीं रह जाता। इसका सुन्दर उदाहरण है राम और हनुमान का। हनुमान ने राम से भिन्न अपना अस्तित्व रखा ही नहीं, बल्कि वह अपने-आप शून्यवत् हो गया। वह राम में लीन ही नहीं, संपूर्णतः समर्पित हो गया। इस तरह राममय हुआ, स्वयं राम ही हो गया। अतः रामायण काल के पात्रों में राम के अलावा हनुमान को ही वरदान देने की शक्ति है, अन्य किसीको नहीं। राम की मूर्ति को प्राण प्रतिष्ठा करनी पड़ती है, लेकिन हनुमान की मूर्ति तो जहां भी पत्थर को ज़रा सिंदूर लगाया तैयार हो जाती है।

'रघुपति राघव राजा राम' की धुन का द्वितीय चरण है—

'पतित पावन सीताराम'। इसमें हरिजनोद्धार और वैष्णव जन की महिमा दोनों का गुणगान आ जाता है। इसीसे बापू को यह धुन इतनी अधिक प्रिय हुई होगी। अब तो यह गांधी-स्मृति का पवित्र प्रतीक बन गई है।

ये सारे लक्षण बापू ने अपने जीवन में आत्मसात् किये थे। प्रारंभ में उन्होंने इन लक्षणों का निरंतर ध्यान ही नहीं, जप भी किया हो, ऐसा प्रतीत होता है। बापू का जप करने का और प्रार्थना करने का तरीका मौन ही था। इसी तरह उन्होंने जीवन-साधना की और भक्ति उगाई।

बापू के जीवन में ऐसे कई प्रसंग आये होंगे, जबकि निर्णय लेते समय वैष्णवजन के इन उदाहरणों द्वारा उन्हें सीधा-सच्चा मार्ग-दर्शन मिला होगा और निर्णय लेने में

सुविधा हुई होगी। इस प्रकार के दृष्टांतों से बुद्धि में स्पष्टता, निर्णय में दृढ़ता, लक्ष्य में निष्टा और जीवन में सरलता स्वाभाविक रूप से आ जाती है।

देश के राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन में, विशेपकर बापू के आश्रम-जीवन में ऐसी अनेक घटनाएं हैं, जबकि राष्ट्रीय नेताओं से, समाज-सेवियों से और आश्रमवासियों से उनके वैयक्तिक और सामूहिक जीवन में भूलें हुई। उनको ढाढस देते हुए और जीवन में दुबारा वैसी भूल न हो, इस ओर ध्यान आर्कषित करते हुए बापू वैष्णव जन के लक्षणों का केवल उदाहरण ही नहीं देते थे, बल्कि सामनेवाले व्यक्ति के जीवन पर उनका प्रभाव पड़ सके, इसके लिए उनका सूक्ष्म विश्लेषण भी करते थे और तदनुकूल वातावरण बनाने के लिए इस भजन को अच्छी तरह गवाते भी थे। मुझे ध्यान है कि विवाहों के अवसर पर खासतौर से बापूजी इस भजन का पाठ कराते और नवदम्पति को वैष्णव जन के लक्षणों के संबंध में समय के अनुरूप उपदेश भी देते थे। एक बार किसी बड़े नेता के द्वारा कुछ भूल हुई। वह सवाल बापू के सामने आया। बापू और उनके बीच क्या चर्चा हुई, यह तो वे ही जानें, परन्तु उस दिन प्रार्थना में बापू ने 'वैष्णव जन तो तेने कहिये' यह भजन गवाया। उसके बाद, मेरा ख्याल है कि बापू को उन्हें कुछ खास समझाना पड़ा हो, ऐसा आभास नहीं हुआ। बापू के सान्निध्य में यह भजन सुनने से ही उनका हृदय भर आया और हल्का भी हुआ। प्रार्थना में शामिल हुए हम लोगों को भी स्पष्टता से इसका अनुभव हुआ।

बापू को अपनी माताजी से परम्परागत रामनाम लेने के संस्कार मिले थे। वह आदतन सहज स्वभाव से ही रामनाम लेते थे। फिर भी उनका स्वाभाविक जीवन जितना राम के अनुरूप था, उससे कृष्ण के अनुरूप अधिक था। राम ने सब प्रकार के स्वकर्म किये, लेकिन प्रवचन नहीं दिये। राम की कृति बोलती है, राम नहीं बोलता। वह न किसीको समझाते हैं, न उपदेश देते हैं। वह आदर्श पुरुष हुए, इसीलिए उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम कहा गया है।

कृष्ण ने भी कर्म किये। पर वह उनका स्वभाव-धर्म था। कृष्ण नाम ही 'कृ' धातु पर से बना है। 'कृ' से कृषि बनी और कृषि पर से कृष्ण और कृष्ण पर से किसान बना। उसने सबकुछ किया, सब तरह का सेवाधर्म निभाया, सब शास्त्रों में पारंगत हुआ, जीवन की सब कलाओं से वह पूरी तरह अवगत था, वह सर्वज्ञ था, अर्थात् सारी विधाओं में निष्णात था, ज्ञानी था। आवश्यकता खड़ी होने पर कृष्ण ने सब तरह के काम किये। युद्ध में लड़े भी और यदि कोई दूसरा लड़नेवाला आ गया तो हथियार डाल दिये। वह मोल, तोल, पंचायत और जरूरत पड़ने पर संधि भी कराते थे। यूं भी जहां कहीं भेद मतभेद खड़े हो जाते, वहां दोनों पक्षों के लोगों का स्वधर्म क्या है, यह वह समझते थे। वह तत्वज्ञानी थे और उपदेशक भी। बापू का जीवन भी वैसा ही था, बल्कि मृत्यु भी कृष्ण के अनुरूप रही। कृष्ण बाण से मारे गये तो बापू बन्दूक की गोली से। फिर भी बापू ने राम और कृष्ण में फरक नहीं किया। फरक है भी कहां।

कृष्ण विष्णु का अवतार है। कृष्ण के अनुरूप होना ही विष्णु-जन—वैष्णव जन—होना है। वही बापू का रूप था। धार्मिक प्रवृत्ति के होते हुए भी राजनीति में वह प्रवृत्त हुए और धर्माधारित राजनीति को ही उन्होंने अपनाया। इसीसे उनके स्वराज्य-प्राप्ति आन्दोलनों ने भी सत्याग्रह का स्वरूप धारण किया तथा सत्य के प्रयोग और सत्य की उपासना करते हुए बापू के जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एकाकार हो गईं और वह सही माने में वैष्णव जन सिद्ध हुए।

भगवान विष्णु जगत का पालनकर्ता है। फिर भी वह न कुछ करता है, न बोलता ही है। गीता के शब्दों में वह अकर्ता होते हुए भी सबकुछ करता है। अकर्मा होते हुए भी सब कर्म करता है। अतः वह विकर्मा भी है। इसी तरह कर्मरत कृष्ण का अन्तिम जीवन भी शेषशायी विष्णु के अनुरूप ही होता गया है। बापू भी कर्मयोगी थे और 'गीता' जीवन में उनकी प्रेरणा-स्रोत रही। फिर भी उसका जो अनुवाद बापू ने किया उसका नाम उन्होंने 'अनासक्ति-योग' रक्खा। ऐसी कर्मनिर्लिप्तता बापू की भी थी। बापू के ऐसे वैष्णव स्वरूप का चिन्तन करते हुए मुझे पू० काकाजी के जीवन का एक मार्मिक प्रसंग याद आ रहा है।

पू० पिताजी स्व० जमनालालजी बजाज, जिन्हें हम सब काकाजी कहते थे, उनकी ऐसी आदत थी कि वह अपने गुण-दोषों का लेखा-जोखा एक कुशल व्यापारी की तरह किया करते थे। अपने दोषों और कमियों का पूरा हिसाब वह रखते और यह विचार भी जागरूकता से करते रहते कि उनके दोषों की मात्रा कुछ कम हुई या नहीं ? प्रति वर्ष अपने जन्मदिन पर इसका पूरा हिसाब वह लगाते थे। इसमें बापू, विनोबा, माताजी, कुछ विशिष्ट मित्र, साथी-सहयोगी, हम बच्चे और निजी सेवक-सेविकाएं तक शामिल रहते। उनसे वह चर्चा करके यह मालूम करते रहते थे कि अपने दोषों में सुधार हुआ या नहीं ? यदि कुछ हुआ तो किस तरह का, कितना और कैसे ?

इसी तरह आत्म-परीक्षण करते हुए काकाजी को एक बार ऐसा लगा कि उनमें दोष की मात्रा कुछ बढ़ी है। इससे वह बहुत ही बेचैन और व्यथित हो गये। जब उनका जन्म-दिन आया तो उनसे मिलने और बधाई देने के लिए वर्धा की विभिन्न संस्थाओं के छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष सभी एकत्र हुए। महिलाश्रम की बालिकाओं ने 'जमनालालजी होवें चिरायुजी।' यह भजन बहुत ही मधुर भावनापूर्ण स्वरों में गाया। वातावरण श्रद्धामय बन गया। उससे काकाजी का हृदय अधिक भारी हुआ। उपस्थित स्वजनों के सामने उन्होंने आत्म-परीक्षण के साररूप अपनी आंतरिक व्यथा को स्पष्ट करते हुए कहा कि "यदि पूज्य बापू और विनोबा जैसे संत-साधु महापुरुषों का आशीर्वाद और सहवास प्राप्त होते हुए एवं इष्टमित्रों, स्वजनों और सज्जनों के साथ रहते हुए भी अपने दोषों पर वह काबू नहीं कर पाते और अपनी जीवन-साधना का विकास ठीक नहीं हो सकता, तो यह समाज-सेवा और देश सेवा में लगे रहना व्यर्थ है, क्योंकि जब स्वयं अपना जीवन ही उन्नत नहीं हो सकता तो समाज व देश की सेवा भी अच्छी तरह से हो नहीं सकती। वह केवल बाह्य आडंबररूप और भ्रममात्र होगी। ऐसी अवस्था में जीने से भी क्या लाभ ? और आत्म-हत्या करना तो कायरता है, पाप है। अपना यह धर्म-संकट रूप आंतरिक मंथन उन्होंने गहरी वेदना के साथ स्वजनों के समक्ष रखा। खुशी और उल्लास का वह मंगल प्रसंग करुणाजनक बन गया। लोग व्याकुल होकर द्रवित हो गये। कुछ तो रो पड़े। श्रद्धेय बापूजी को बहुत बुरा लगा। इतना ही नहीं, उन्हें यह सब बड़ा नागवार गुजरा। उन्होंने मुझसे तो कहा ही, पूज्य काकाजी को भी उलाहना दिया कि उन्हें यह सबके सामने कहने की क्या जरूरत थी ? पूज्य काकाजी ने सरलता से इतना ही कहा कि "मेरा तो दिल कुछ हल्का हुआ है।"

अपनी इस व्याख्या को पूज्य बापू तथा कुछ अन्य लोगों के सामने भी काकाजी ने रक्खा था। इस सिलसिले में बापू ने और जो कुछ भी चर्चा की हो, एक बात काकाजी से उन्होंने खास तौर पर कहा कि जमनालाल ! तुम तो वैष्णव जन हो। अपने दोषों का ही चिन्तन न करो, अपने गुणों का चिन्तन भी वांछनीय है। तुम्हारे में अनेक गुण हैं। उनका भी चिन्तन करना और विकास करना आवश्यक है। जो थोड़े दोष हैं, उनका ध्यान रहे, उनसे सजग रहो, इतना ही काफी है। निराशा को छोड़ो। तुम्हें जीवन में बहुत-कुछ करना है। इत्यादि...

इन्हीं चर्चाओं के परिणाम-स्वरूप अन्य सब कार्यों से निवृत्त होकर काकाजी अंत में गो-सेवा के पवित्र काम में तन्मय हुए और उसी में उन्होंने अपना जीवन समर्पण कर दिया।

जब मानव का हृदय द्रवित होकर इन लक्षणों से ओत-प्रोत होता है तो उसका ध्यान समाज के उन लोगों की ओर अपने-आप दौड़ने लगता है, जो बहुत ही गरीब दीन-दुखी और दरिद्र होते हैं, जो समाज के स्तर पर सबसे नीचे की श्रेणी में पड़े हैं, जिनका कोई सहारा नहीं, जिनको कोई आशा नहीं, जिनको भगवान के भरोसे का भी आभास नहीं, जो रस्किन के शब्दों में 'अन्टू दिस लास्ट' यानी समाज के एकदम अंत में निम्नतम स्तर पर पड़े हैं। ऐसे व्यक्तियों की ओर देखकर वैष्णव जन का द्रवित होना उतना ही सरल-स्वाभाविक है, जितना निचाई की ओर पानी का प्रवाहित होना। वही उसका स्वभाव हो जाता है, स्वधर्म ही।

इन्हीं भावनाओं में से बापू के मन में दीन-दुखियों की सेवा उपजी और उसीमें से दरिद्रनारायण की उपमा सूझी या उसी दरिद्र-दुखी समाज की सेवा को उन्होंने नारायण

की पूजा समझा। इसीलिए दरिद्र को उन्होंने दरिद्रनारायण के रूप में ग्रहण किया।

भारतीय और विशेषकर हिन्दू समाज में वर्ण-व्यवस्था के कारण शूद्रवर्ग भी था। वह आर्थिक दृष्टि से तो पीड़ित था ही, उसमें भी जो सामाजिक दृष्टि से घृणित, जो स्पृश्य होने के भी योग्य नहीं—ऐसा सेवक वर्ग अस्पृश्य—अछूत समझा गया। सामाजिक अन्याय के कारण इससे मानवता का जो पतन हुआ, हिन्दू धर्म तथा समाज के लिए वह कलंक बन गया। उसके निवारणार्थ और उस अपमानित मानव की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं वैयक्तिक स्वाभिमान को जागृत करने के लिए बापू ने उसको 'हरिजन' नाम दिया। दूसरे शब्दों में वही वैष्णव जन हुआ। बापू के हरिजन और नरसी मेहता के वैष्णव जन में कोई अंतर नहीं।

चूंकि समाज में हरिजनों को जो स्थान बापू दिलवाना चाहते थे, वह हम नहीं दे पाये, इसीलिए 'हरिजन' शब्द उतना गौरवान्वित नहीं हो पाया, लेकिन बापू के मन में, उनकी कल्पना में, उनके इरादों में, उस सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई अंतर नहीं था।

सामाजिक विषमता और अन्याय को दूर करने के लिए बापू ने अपनी सेवा का लक्ष्य हरिजन-सेवा द्वारा निर्धारित किया। उन्हें आर्थिक विषमता के कारण अन्याय और अभाव की जो कमी दिखाई दी, उसकी पूर्ति के लिए रचनात्मक कार्यों द्वारा चर्खे को केन्द्रित करके खादी को सम्पूर्णता का रूप दिया और क्रियात्मक एवं रचनात्मक आन्दोलनों द्वारा अंतिम का उदय करने अर्थात् अंत्योदय करने में वह जुट गए। भारत के दूर-दूर के ऐसे क्षेत्रों में बापू पहुंचे, जहां इन्सान के पास न रहने को झोंपड़ी थी, न पहनने को कपड़े, न खाने को अन्न। ऐसे निःसहाय को उन्होंने उठाया, जिलाया, पर उसको पुष्ट कर सकें, उसके पहले ही भगवान उन्हें उठा ले गया।

वह हमारी नजरों से ओझल हो गये हैं, पर उनका प्रभाव आज सारी दुनिया पर फैल रहा है। मानव असमंजस में, कष्ट में और क्लेश में है। बापू निहार रहे हैं। कोई वैष्णव जन जागेगा, मानवता उभरेगी और तभी मानव का कल्याण और विश्वशांति होगी।

पराई चोट की अनुभूति

नामदेव नाम के एक बड़े सन्त थे। उनके दिल में बड़ी दया थी। एक दिन उनकी मां ने कहा, "बेटा, दवा के लिए थोड़ी-सी ढाक की छाल ले आ।"

नामदेव गये और थोड़ी देर में छाल लेकर आ गये।

इस बात को कई दिन बीत गये। एक दिन नामदेव की मां ने देखा कि उसके बेटे की धोती में खून लगा है। उसने पूछा, "क्यों रे, यह खून कहां से आया?"

नामदेव चुप।

मां ने फिर कहा, "अरे, बोलता क्यों नहीं!"

नामदेव ने धीरे से मुंह खोला, बोले, "मां, उस दिन तुमने ढाक की छाल मंगवाई थी न! मैंने जब पेड़ को काटा तो मुझे लगा कि यह पेड़ तो बोलता नहीं है, देखें काटने पर इसको कैसा लगता होगा। सो मैंने अपनी टांग छील डाली।"

मां का दिल उमड़ आया। उसकी आंखों से टपटप आंसू गिरने लगे।

उनका जीवन प्रार्थनामय था

बालकोबा भावे

गांधीजी के जीवन में प्रार्थना का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान था। इतना ही नहीं, उनका सारा जीवन ही प्रार्थनामय था, ऐसा कह सकते हैं। उनके जीवन की अंतरबाह्य सारी क्रियाएं भीतर ईश्वर को साक्षी रखकर, ईश्वर के स्मरण के साथ, निरंतर होती रहती थीं। अखण्ड ईश्वर-स्मरण के सम्बन्ध में उनसे प्रश्न पूछने पर उन्होंने मुझे जवाब दिया था—"जाग्रत ऐसा एक क्षण नहीं, जबकि ईश्वर मुझमें है और वह सबकुछ देख रहा है, इसका भान मुझे न हो। यह भान बुद्धि को है और अभ्यास से हुआ है।" भक्त हमेशा ईश्वर के सामने हाथ जोड़े हुआ रहता है, वैसे ही गांधीजी हमेशा ईश्वर के सामने झुके हुए रहते थे। वह लिखने बैठते तब उन्हें ऐसा नहीं लगता था कि वह लिख रहे हैं, किन्तु वह अद्वितीय परमात्मा उनसे लिखवा रहा है, यह भावना उनके मन में सतत जाग्रत रहती थी। उनके भीतर ऐसी अलौकिक स्थिति होने के कारण उन्होंने दक्षिण अफ्रीका से सन् १९१५ में हिन्दुस्तान लौटने के बाद अहमदाबाद के पास कोचरव में सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना की, तबसे लेकर १९४८ तक यानी अंतिम क्षण तक उन्होंने सुबह-शाम ईश्वर की प्रार्थना में कभी व्यवधान नहीं पड़ने दिया। ईश्वर-प्रार्थना की इसी निष्ठा के कारण शायद प्रार्थना के समय ही ईश्वर ने उन्हें उठा लिया।

उनके जीवन में सात दिन से लेकर २१ दिन तक उपवास करने के अनेक प्रसंग आये। आत्मशुद्धि के लिए ही वह उपवास करते थे। आश्रम में किसीकी नैतिक भूल या पतन हुआ, तो वह उसमें अपनी ही आत्मशुद्धि की कमी देखते थे, इसलिए ऐसे अवसर पर आत्मशुद्धि की दृष्टि से प्रायश्चित्त के रूप में औरों की भूल या पतन के लिए वह स्वयं उपवास करते थे। उपवास यानी उनके मतानुसार ईश्वर की प्रार्थना। इसलिए उपवास-काल में ईश्वर की प्रार्थना वह भीतर से बराबर किया करते थे। उस समय तो वह अपनेको ईश्वर के बहुत ही निकट पाते थे। उपवास के अवसर पर ईश्वर के ध्यान या प्रार्थना में तल्लीन होना आसान बात नहीं है। उपवास में शरीर दिन-ब-दिन कमजोर, क्षीण, होने से मन भी कमजोर पड़ जाता है। इसलिए उपवास के दिनों में ईश्वर का स्मरण तीव्रता से रहना बहुत ही कठिन है। लेकिन गांधीजी उस काल में ईश्वर की प्रार्थना अंतर में करते हुए अपनेको ईश्वर के बहुत निकट पाते थे, यानी अनुभव करते थे।

सन् १९२४ की बात है। दिल्ली में वह २१ दिन का उपवास कर रहे थे। सुबह-शाम की प्रार्थना में भजन बोलने के लिए मैं उनके पास गया था। पहले तो वह मुहम्मद अली, शौकत अली के मकान में रहते थे, लेकिन वह मकान छोटा होने से वहां से सिविल लाइन्स के एक बड़े मकान में रहने गये। वहां उनका उपवास चल रहा था। मैं जहां रहता था, वह मकान मुहम्मद अली के मकान से चार फर्लांग दूर था, किन्तु सिविल लाइन्स का मकान दो-तीन मील पर था। एक दिन शाम को प्रार्थना से कुछ पहले जोर से बारिस शुरू हुई। वह चलती रही। प्रार्थना का समय होने आया। बरसात में भी मुझे उनके पास जाना था, वह मेरा कर्तव्य था। किन्तु पानी पड़ने के कारण मुझे कुछ आलस्य-सा अनुभव हुआ और मैं नहीं गया। दूसरे दिन सुबह की प्रार्थना में गया तो मुझे देखते ही उन्होंने कहा, "कल तुमने मुझे फंसा दिया न? तुम्हारे लिए मैंने १५ मिनिट तक राह देखी, लेकिन जब तुम नहीं आये तो महादेवभाई से प्रार्थना शुरू करने को कहा। लेकिन तुमको तो, चाहे जितनी भी बारिस हो, प्रार्थना के लिए दौड़कर आना चाहिए था।" यह सुनकर मैं शर्मिंदा हुआ, गलती कबूल की और प्रार्थना का महत्व भी इस प्रसंग से ज्यादा

ध्यान में आया तथा कर्तव्य-निष्ठा का भी बोध हुआ। १९१५ से लेकर मृत्यु तक, प्रवास में भी, सुबह-शाम की प्रार्थना उन्होंने कभी नहीं छोड़ी।

प्रार्थना में ईश्वर-स्मरण में मन से भाव पैदा होकर आंखों से अश्रु निकलते हैं या नहीं, इस सम्बन्ध में मैंने उनसे प्रश्न पूछा था। उन्होंने इस प्रकार जवाब दिया—"प्रार्थना में कभी-कभी ईश्वर के स्मरण से आंसू आते हैं। लेकिन उसमें कोई विशेषता मानने की जरूरत नहीं।" आखिर के वाक्य से उनमें निरहंकारता का उत्कर्ष कितना हुआ था, वह स्पष्ट हो जाता है।

विशेष प्रसंग पर जब वह उपवास करते थे, तब उपवास का अर्थ उनके लिए प्रार्थना ही होती थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—"प्रार्थना करते समय आंखों से जबकि हम कुछ नहीं देखते, कानों से कुछ नहीं सुनते, इंद्रियों से कुछ व्यापार नहीं करते, तब खाने की क्रिया भी उस समय हम न कर सकें तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है? जो मनुष्य प्रार्थना में ही तन्मय हो जाता है, उससे दूसरी कोई क्रिया हो, यह सम्भव नहीं। लेकिन एक समय ऐसा आ सकता है, जबकि वह केवल प्रार्थनामय होकर ही रहता है। इसके माने हैं ईश्वर-साक्षात्कार। इस स्थिति में तो वह खाते-पीते, सब प्रवृत्तियां करते हुए प्रार्थनामय ही रहता है। उसकी प्रवृत्ति मात्र एक महायज्ञ है। वह स्वयं शून्य बनकर जीवन बिताता है। इसीको संतों ने 'सहज समाधि' कहा है।"

व्यक्तिगत पत्रों में प्रार्थना के सम्बन्ध में वह इस प्रकार लिखते हैं:

"प्रार्थना की उपयोगिता के सम्बन्ध में मुझे तनिक भी शंका नहीं है। प्रार्थना में तुम अशुद्ध विचारों से मुक्त रहते हो, वह कोई कम उपयोगिता नहीं है। लेकिन यह तो पहली सीढ़ी है। प्रार्थना के समय अर्थ में ही तल्लीन रहना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। हम प्रार्थनामय हो जाते हैं, तब अर्थ का भान नहीं रहेगा। शुद्धतम स्थिति में अर्थ के परे पहुंचते हैं, तब सिर्फ ईश्वर का ही भान रहता है। भाषा तो रुकावट जैसी हो जाती है। यह स्थिति अवर्णनीय है। प्रार्थना का उद्देश्य एकतान होना है। व्यक्ति समाज में डूब जाता है और समाज ईश्वर में लीन हो जाता है। ओम् के उच्चारण में या रामनाम में जो अर्थ है, वही प्रार्थना के श्लोक इत्यादि में है। ऐसा समझकर जो रोजाना प्रार्थना में श्लोक आदि बोलता है, वह आखिर में परम शांति को प्राप्त कर लेता है, इसमें तनिक भी शंका नहीं है।

"जिसे समाज प्रिय है, उसे सामाजिक प्रार्थना में नफरत पैदा नहीं होनी चाहिए। जो ईश्वरमय हो जाता है, वह सारा जगत ईश्वरमय देखता है। इस स्थिति को पहुंचने के लिए प्रार्थना पहली सीढ़ी है, ऐसा मानना होगा। हवशियों से लेकर यूरोप के ख्रिस्ती, अरब के इस्लामी और भारत के हिन्दू, प्रार्थना के बिना नहीं रह सके हैं। गिरजाघर, मस्जिद, मंदिर जमींदोस्त हो जायं तो समाज भी जमींदोस्त हो जायगा।

"ईश्वर के पास तो चौबीसों घण्टे स्वर्गीय गायन चलता रहता है। उसकी तो सिर्फ हम कल्पना ही कर सकते हैं। उस गायन में शामिल होने के लिए सामाजिक प्रार्थना एक अल्प प्रयत्न है।

"प्रार्थना आखिर में श्रद्धा का विषय है। श्रद्धा की भावना से प्रार्थना में बैठकर हम तन्मय हो जायं तो प्रार्थना हुई, फिर चाहे जिस भाषा में प्रार्थना होती रहे। सामूहिक प्रार्थना भी दुनिया में प्रचलित है। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय में भावुक लोग घण्टों तक मूक होकर बैठते हैं और प्रार्थना में ध्यानस्थ हो सकते हैं।"

जो जाग्रत रहते हैं और प्रार्थना करते हैं उनके लिए ईश्वर बड़े काम और बड़ी जिम्मेदारी जुटा देता है।

—मो० क० गांधी

परदुख भंजक

मनु गांधी

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे, तोये मन अभिमान न आणे रे।

बापू नियमों और सिद्धान्तों के पालन में जितने कड़े थे, उतने ही परदुखभंजन और करुणा से ओतप्रोत थे। दूसरों के दुःख उनसे देखे ही नहीं जाते थे।

पूज्य कस्तूरबा की बीमारी आगाखां महल में बढ़ रही थी। १९४४ का फरवरी महीना पूज्य कस्तूरबा के जीवन के लिए बड़ा नाजुक बन गया था। ऐसे समय भारत का कौन ऐसा डाक्टर, हकीम या वैद्य होगा, जो कस्तूरबा की सेवा का अवसर मिले तो उसका उपयोग करने से चूके?

अखबारों में कस्तूरबा के स्वास्थ्य के बुलेटिन रोज निकलते थे। उसपर से प्रसिद्ध वैद्यराज पंडित शिव शर्मा ने बापू से प्रार्थना की कि वह पूज्य कस्तूरबा की सेवा करना चाहते हैं।

दूसरों ने तो कस्तूरबा के जीवन की आशा छोड़ दी थी, इसलिए बापू ने कहा कि पंडित शिव शर्मा को प्रयोग करने दिया जाय और वह सेवा करना चाहते हैं तो करें। दूसरी ओर वैद्यराज ने सरकार को भी अपना इरादा बताकर उससे इजाजत ले ली थी। सरकार ने इजाजत तो दे दी, पर उसकी कड़ी आज्ञा थी कि रात को उन्हें आगाखां महल में नहीं रहने दिया जायगा। साथ ही यह शर्त भी थी कि अन्दर की कोई बात बाहर नहीं आनी चाहिए।

जनवरी-फरवरी की कड़ाके की सर्दी। शिव शर्मा की किस समय जरूरत पड़ जाय, यह कहा नहीं जा सकता। ऐसी हालत में इसके सिवा कोई चारा नहीं था कि रात-भर वह बाहर मोटर में सोते। दो दिन तो इस तरह चला। रात में बा को जरूरत पड़े तो सबसे पहले एक सिपाही को उठाना पड़े, वह ऊपर जाकर चाबी के लिए कटेलीसाहब को उठाये, वह जमादार को जगायें, जमादार फाटक के चौकीदार को जगाये, फाटक का चौकीदार गोरे सार्जेण्ट को जगाये, तब कहीं ये सब दरवाजे खुलें और इस सारी प्रक्रिया के बाद पंडित शिव शर्मा आवें। इस तरह आठ-दस जनों की नींद में खलल पड़े तब जाकर बा को दवा मिले। रात में एक-दो बार ऐसा करना पड़ता। बापू को भला यह कैसे बर्दाश्त होता? वह तो 'ऐसो को उदार जग मांही, बिनु सेवा जो द्रवे दीन पर' थे, जबकि यहां बा की सेवा के लिए इतने लोगों को व्यर्थ के सरकारी कानून-कायदों की खातिर हैरान होना पड़ता था। उन्हें यह बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। बा को तो इस सबकी कोई खबर ही नहीं थी, खबर पड़ती तो उन्हें भी यह बात बिल्कुल पसन्द नहीं होती। दूसरों को इस तरह तकलीफ देकर अपनी सेवा वह कभी नहीं करातीं। जबतक अपना सारा काम स्वयं कर सकती थीं, तबतक वह मुझसे पीने का पानी तक नहीं मांगती थीं। आप ही उठकर पीतीं। उनसे ऐसा न होता तभी मुझसे कहतीं। इसलिए तीसरी रात जब इस तरह दस-बारह जनों को उठाना पड़ा तो रात के दो बजे पूज्य बा की खटिया पर बैठकर बापू ने सरकार को पत्र लिखा—

"मैं जानता हूं कि ऐसी स्थिति बचाने का उपाय जरूर है, जिसमें मेरी पत्नी के लिए सारी रात बिना काम इतने आदमियों को जागते रहना पड़े, और वह भी एक ही रात के लिए हो, ऐसी बात नहीं, बल्कि अनिश्चित काल के लिए। इसलिए मेरे लिए यह असह्य है। यों तो सुशीला बहन और गिल्डरसाहब डाक्टर हैं ही, परन्तु देशी चिकित्सा दूसरी तरह की होने से ये लोग मदद नहीं कर सकते। इस कारण बीमार और जिसकी दवा चल

रही है उन दोनों के साथ शायद अनजाने ही अन्याय हो। अतः बीमार की भलाई के लिए जबतक वैद्यजी का इलाज चले तबतक उन्हें रात-दिन यहीं रहने दिया जाय और सरकार अगर ऐसा न कर सके तो बीमार को पैरोल पर रिहा कर दे। सरकार अगर ऐसा भी न कर सके और बीमार के पति की हैसियत से ये मांगें मैं सरकार से न मनवा सकूं तो मेरी मांग है कि सरकार मुझे यहां से अपनी पसन्द की किसी दूसरी जगह भेज दे। बीमार को जो वेदना हो रही है, उसका मुझे एक असहाय दर्शक न बनाया जाय।

"यह पत्र रात के दो बजे बीमार के बिछौने के पास बैठकर लिख रहा हूं। वह तो इस समय जीवन और मृत्यु के बीच उलझ रही है। अतः जो कल (१७ फरवरी की) रात तक वैद्यजी के बारे में संतोषजनक उत्तर नहीं मिला तो मैं इलाज बन्द करा दूंगा।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पत्र के बाद वैद्यराज को रात-दिन बा के पास रहने की अनुमति मिल गई और आठ-दस आदमियों को जो रोज-रोज जागना पड़ता था वह बन्द हुआ। वे लोग तो यद्यपि बहुत ही प्रेम के साथ बा और बापू की किसी भी तरह की सेवा के लिए तैयार ही रहते और ऐसा सिर्फ अपने कर्त्तव्य के पालन या नौकरी की दृष्टि से नहीं करते, बल्कि भक्तिभाव से ऐसी सेवा को अपना सौभाग्य समझते। लेकिन बापू तो 'बापू' थे न!

× × ×

कलकत्ता में साम्प्रदायिक उपद्रवों का दावानल सुलग रहा था, जो ऐसा भयंकर था कि उसकी ज्वालाओं से मनुष्य की शक्ति कब राक्षसी रूप ले लेगी, इसका सभी को अंदेशा और भय था। बापू को इससे बड़ी वेदना थी। कलकत्ता में यह आग फूट निकले तो हिन्दुस्तान के गौरव को ऐसा कलंक लगे, जिसका ठिकाना नहीं और इस परिस्थिति को बापू के सिवा कोई काबू में नहीं रख सकता था, इसलिए बापू वहां जाकर बैठे थे। बापू सौदपुर-आश्रम में ठहरे हुए थे और उस समय के बंगाल के मुख्य मंत्री श्री सुहरावर्दी उन्हींसे मिलने आये हुए थे।

सुहरावर्दीसाहब के साथ फ़जलुल हक रहमान और उनके मंत्रिमण्डल के मंत्री भी आये थे। सुहरावर्दी साहब ने बापू से कहा, "अब तो शान्ति स्थापित हो गई है और हमारी सरकार में कोई गैरइंसाफी नहीं रही है।" वह बोल तो इस तरह रहे थे, पर अमल बिल्कुल खराब था। इसलिए मन में तो बहुत बुरा लगा।

बापू ने तुरन्त जवाब दिया, "आपका दिमाग तो बड़ा तेज है। जीभ में तो हड्डी है ही कहां?"

सुहरावर्दी साहब बोले—"साहब, हम नया निजाम कायम करना चाहते हैं, जिसमें एक कौम दूसरी कौम पर जुल्म न कर सके।"

बापू ने कहा, भविष्य में ऐसा करना चाहते हैं, पर आप जानते नहीं कि भविष्य तो वर्तमान की घटनाओं के ऊपर ही अवलम्बित है? वर्तमान की हालत कितनी खराब है? कलकत्ता को भविष्य में आदर्श नमूना बनाना चाहते हैं, पर उसकी स्थिति आज तो बिल्कुल उलटी है, उसका क्या हो? इसलिए अगर आपको अपनी इच्छा पूरी करनी है तो अभी जहां उपद्रव हो रहे हैं वहां जायं; कोई आपको काट डाले तो कट जायं, पर अपने भाइयों को समझावें। ऐसा आप एक दिन तो क्या, एक घण्टे भी करें तो सचमुच ही कलकत्ता और कलकत्ता के मुख्य मंत्री भारत के दीप-स्तम्भ बन जायंगे।"

मैं तो यह वार्तालाप सुनती और लिखती भर रही। मन में लगा कि बापू भी पूरे बनिये हैं। प्रधान मंत्री की खूब चापलूसी की और खूब खरी-खरी सुनाईं। उनके लिए चाय और नाश्ता लाने को मुझसे कहा। उनके चाय-नाश्ते के लिए मैं दो रकाबी ज्यादा जानबूझकर लाई। वह चाय-नाश्ता कर रहे थे उसी समय जवाहरलालजी की तरफ से दिल्ली बुलाने का तार आया। इस तरह बापू को दिल्ली जाने की इच्छा मिली। इधर उन्होंने जो दो रकाबी नाश्ता मैं ज्यादा लाई थी उसे भी चाय की बूंदें टपकाकर खराब कर दिया। यह सब भला बापू की नजर से कैसे बच सकता था? आखिर तो राष्ट्रपिता की पदवी थी न? सबकुछ देखकर उन्होंने मुझसे कहा, "जल्दी ही फिर दिल्ली जाना है। हम तो मुसाफिर ठहरे। ईश्वर ने दुनिया की मुसाफिरी के लिए ही हमें पैदा किया है। सारे देश की हमें यात्रा करनी है, क्योंकि स्थिरता का अभी कोई ठिकाना

नहीं है। स्थिरता तो तभी आयगी जब या तो मैं मर जाऊं या हिन्दुस्तानी समझ जायं। मुझे मालूम है कि स्वराज्य-प्राप्ति मुझे आसान लगती थी, पर स्वराज्य को सम्हालना मुश्किल। यहां की सारी स्थिति गड़बड़ है। कसौटी का वक्त तो यही है। सबके त्याग की परीक्षा तो अभी होनी है। कुछ न होने पर तो स्वभावतः सादा जीवन बिताना पड़ता है, पर ऐसा व्यवहार बहुत कठिन है कि प्राप्त होने पर भी उसे अपना न समझ परमेश्वर का समझा जाए। हमारी प्रार्थना में पहला ही श्लोक यह है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

"इस श्लोक का पाठ करनेवाले को सर्वप्रथम तो अपने पास जो कुछ हो उसे ईश्वरार्पण करके उसमें से अपने लिए आवश्यक हो उतना ही लेकर अपने काम में लाना चाहिए। तू दो रकाबी नाश्ता ज्यादा लाई है न? अपने रोज के व्यवहार में भी चाहिए, इससे ज्यादा काम में लाना पाप है। जिस तरह दूसरे की चीज लेने पर हमें चोर कहा जाता है, उसी तरह यहां भी सब चीज का स्वामित्व ईश्वर का ही है और उसमें से जरूरत से ज्यादा लें तो हम ईश्वर के अपराधी बनेंगे। इस तरह करने पर ही सच्चे त्याग को समझ सकेंगे।

त्याग न टके रे वैराग्य बिना करीये कोटी उपाय जी
अंतर ऊंडी इच्छा रहे ते केम करी तजाय जी
वेशलीधो वैराग्य नो, रही गयो दूर जी
ऊपर वेश अच्छो बन्यो, मांही मोह भरपूर जी
काम क्रोध मोह लोभनी, ज्यां लगी भूख न जाय जी
संग प्रसंगे पांगरे, जोग भोग नो थाय जी.
उष्ण राते अवनि विषे बीजा नव दिसे बहार जी
घन वरस्ये वन पांगरे, इंद्रिय विषय आकार जी
चमक देखी ने लोह बले, इंद्रिय विषय-संजोग जी
अणभेटये रे अभाव छे, भेट्ये भोगवशे भोग जी
उपर तेज ने अंतर भजे, एम न सरे अंतर जी
वणस्यो रे वर्णाश्रम थकी, अंते करशे अनरथ जी
भ्रष्ट थमो जोग भोग थी, जेम बगड्यु दूधजी
गयु दूध महीं माखण थकी, आये थयु रे अशुद्ध जी
पलमां जोगी ने भोगी, पलमां-पलमां गृही ने त्यागी जी
निष्कुलानन्द ए नर तष्मे वणसमज्यो वैराग्य जी।[1]

ऐसा ही यह भी है।"

१. निष्कुलानन्द का भजन।

त्याग की कोई हद नहीं है। ज्यों-ज्यों हमारा त्याग बढ़ेगा, त्यों-त्यों आत्मा के दर्शन हम अधिक करेंगे। मन की गति परिग्रह छोड़ने की तरफ होगी और शरीर की शक्ति के अनुसार हम त्याग करेंगे, तो अपरिग्रह-व्रत का पालन हुआ माना जायगा।

—मो० क० गांधी

सत्यदर्शी 'वैष्णव जन'

मदालसा नारायण

●

हिरण्मयेनपात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं,
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।
(ईशावास्योपनिषद्)

प्रच्छन्न मुख है सत्य का स्वर्णावरण मोहक विषद,
आवरण करदो दूर वह दर्शन विमल पाऊं वरद ।
हे देव पूषन् आपसे अनुरोध है यह साधना,
मैं सत्य-धर्म उपासनार्थ करूं विनय-आराधना ।

ईशावास्योपनिषद् का यह एक प्रसिद्ध मन्त्र है । पूज्य गांधीजी के जीवन-चरित्र का विचार करते हुए मन में सहज रूप से यही प्रार्थना जाग उठती है । बापूजी ने अपनी जीवन-कथा का नाम 'सत्य के प्रयोग' अथवा 'आत्मकथा' रक्खा है । उनके अन्तिम प्रकरण 'पूर्णाहुति' में स्वयं बापूजी के अपने वचनों द्वारा जो विचार व्यक्त हुए हैं, उनमें उनके जीवन का स्वरूप और उनकी निष्ठा दोनों अपने-आप प्रकाशित हो उठते हैं । अतः उनके कुछ चुने हुए भाव-विचार विशेषरूप से चिन्तनीय हैं । बापू ने लिखा है—

"सत्य से भिन्न कोई परमेश्वर है, ऐसा मैंने कभी अनुभव नहीं किया । हजारों सूर्यों को इकट्ठा करने से भी जिस सत्यरूपी सूर्य के तेज का पूरा माप नहीं निकल सकता, ऐसे सूर्य की केवल एक किरण के दर्शन के समान सत्य की मेरी झांकी है ।"

... ...

"आजतक के अपने प्रयोगों के अन्त में मैं इतना तो अवश्य कह सकता हूं कि सत्य का सम्पूर्ण दर्शन, सम्पूर्ण अहिंसा के बिना असम्भव है । ऐसे व्यापक सत्यनारायण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए जीव-मात्र के प्रति आत्मवत् प्रेम की परम आवश्यकता है । उसके लिए आत्मशुद्धि आवश्यक है ।"

... ...

"बिना आत्म-शुद्धि के जीव-मात्र के साथ ऐक्य सध ही नहीं सकता । आत्म-शुद्धि के बिना अहिंसा-धर्म का पालन सर्वथा असम्भव है । अशुद्ध आत्मा परमात्मा के दर्शन करने में असमर्थ है, अतएव जीवन-मार्ग के सभी क्षेत्रों में शुद्धि की आवश्यकता है । यह शुद्धि साध्य है, क्योंकि व्यष्टि और समष्टि, व्यक्ति और समाज के बीच ऐसा निकट का सम्बन्ध है कि एक की शुद्धि अनेकों की शुद्धि के बराबर हो जाती है और व्यक्तिगत प्रयत्न—साधना की शक्ति तो सत्यनारायण ने सबको जन्म से ही दी है ।"

... ...

"सेवाधर्मो परम गहनो योगिनामप्यगम्यः" अर्थात् सेवा-धर्म परम गहन है । यह योगियों के लिए भी अगम्य है । अतः सेवा का जीवन बितानेवाले को नम्र बनना होगा । जो व्यक्ति दूसरों के लिए अपना जीवन समर्पण करता है, उसका अपना कुछ भी नहीं रह जाता है । नम्रता का अर्थ अकर्मण्यता नहीं है, बल्कि सच्ची नम्रता तो मानवता की सेवा में लगातार कठिन काम करने में है ।"

... ...

"सेवा तभी सम्भव है, जबकि हमारे हृदय में प्रेम या अहिंसा हो । सच्चा प्रेम तो समुद्र की तरह असीम है । अन्तःकरण में उत्पन्न होकर क्रमशः बढ़ता हुआ वह चारों ओर फैलता जाता है और सभी सीमाओं का अतिक्रमण करके यह सारे संसार को समेट लेता है ।"

... ...

"फिर यह सेवा तभी सम्भव है, जब मनुष्य अपनी रोटी के लिए स्वयं श्रम करे, जिसे कि गीता में 'यज्ञ' कहा है । किसी भी मनुष्य को—पुरुष या स्त्री को—जीवित रहने का अधिकार तभी होता है, जबकि वह सेवा के लिए शरीर-श्रम करे ।"

गांधीजी के ये वचन गहरे अनुभवों से भरे हुए हैं। इन सबमें एक ऐसा क्रमबद्ध सिलसिला है कि इनको पढ़ते हुए बापूजी के जीवन-प्रवाह का स्वरूप स्वयंमेव प्रकट होता चला जाता है। सत्यरूपी सूर्य-किरण के दर्शन से लेकर सेवा-धर्म की गहनता तक का अनोखा जीवन-पथ आलोकित हो उठता है, जहां एक ओर सूर्योदयरूप भगवान सत्यनारायण के दर्शनों के प्रकाश एवं दूसरी ओर सर्वोदय-रूप सेवामय यज्ञ कर्म की उपासना का अलौकिक आनन्द लहरा उठता है।

गीता के तीसरे अध्याय में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को यज्ञ का अर्थ इस तरह समझाया है :

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मौद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठतम्॥

'अन्न' से उत्पन्न होते जीव सब,
यह अन्न 'वर्षा' से उपजता है सदा,
बरसात नियमित 'यज्ञ' से होती यहां,
शुभकर्म करने से प्रकट है 'यज्ञ' नित
उस कर्म का उद्भव हुआ उस 'ब्रह्म' से,
वह ब्रह्म सबमें व्याप्त 'अक्षर' से प्रकट।
होता प्रतिष्ठित 'यज्ञ' में है ब्रह्म वह।

यह समझाकर आगे कहते हैं :

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।

कर्तव्य कर्म करो निरन्तर इसलिए,
निःसंग होकर जब करे नर कर्म निज।
आचरण जो आसक्ति तजकर ही करे,
पाता वही है परमपद पुरुषार्थ से।

'यज्ञ' का इतना महत्व बता दिया है। लोकमान्य तिलक बड़े धार्मिक और मार्मिक राजपुरुष थे। "स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।" यह उनका दावा था। इसीको सिद्ध करने के लिए उनको भी छः साल जेल में बिताने पड़े थे, उस समय उन्होंने गीता का गहरा चिन्तन किया और 'गीता-रहस्य' नाम का ग्रन्थ तैयार हो गया। उसमें तिलक महाराज ने गीता के तत्वज्ञान का प्रतिपादन 'कर्मयोग' के रूप में किया है। इसी तरह बापूजी ने भी यरवदा-जेल में गीता का हिन्दी अनुवाद किया, जो 'अनासक्ति योग' के रूप में प्रकाशित है। इन ग्रन्थों से ऐसा प्रतीत होता है कि इन सभी सिद्ध-साधकों का लक्ष्य 'सर्व भूतहितेरताः' होकर रहने का ही है। इन्होंने अपने आचार-विचारों से ही यह प्रमाणित कर दिया है :

सर्वे नः सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखमाप्नुयात्।

सब हों सुखी हम सब निरामय स्वस्थ हों,
दर्शन करें 'मंगल' सदा देखें सभी।
जन जीव हम इस जगत में जागृत रहें,
कोई न दुख न भोगे यहां प्राणी कभी।

रस्किन की एक छोटी-सी पुस्तिका है—'अनटू दिस लास्ट'। इसका गांधीजी के मन पर बड़ा गहरा असर हुआ था, इतना कि वह धीरे-धीरे उसी दिशा में अपने सत्य के प्रयोगों को सिद्ध करने लगे और उस किताब का हिन्दी अनुवाद भी बापूजी ने स्वयं 'सर्वोदय' के नाम से किया।

यह सब लिखते हुए गांधीजी के साथ-साथ उनके कई श्रद्धेय साथी और सुप्रसिद्ध स्नेही-जनों का पावन-स्मरण हो रहा है। इनमें सर्वप्रथम पूज्य माता कस्तूरबा, रस्किन, टाल्स्टाय, हेनरी पोलक, सी. एफ. एण्ड्रूज और श्री गुरुदेव के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सब सज्जनों का मनोभाव सदा कल्याणकारी सर्वोदय स्वरूप का ही रहा है। बापू ने लिखा है :

"जो सच्ची स्वतंत्रता है, जो कि पाने योग्य है, वह आतम-समर्पण से मिल सकती है। इस प्रकार मनुष्य जब अपने-आपको खो देता है, तभी वह सर्वजन की सेवा में अपने-आपको पा लेता है। तब वह एक नया मनुष्य बन जाता है, जो ईश्वर की सृष्टि की सेवा में अपने-आपको गंवाते हुए भी नहीं थकता है।"

राष्ट्रपिता बापूजी के इन अनुभव-भरे वचनों से मनुष्य के मन में नित्य नवजीवन जागृत होता है। जैसे सूर्योदय के दर्शन से सृष्टि में नित-नये जीवन-तत्वों की वृष्टि होती है, उसी तरह महापुरुषों के पवित्र स्मरण से हमें नित नया आनंद और उत्साह प्राप्त होता है। भगवान बुद्ध ने हमें

'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की प्रेरणा दी थी। उससे आगे बढ़कर बापूजी ने हमें 'सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय' यह जीवन-मंत्र प्रदान किया और साथ ही दृढ़ विश्वास-पूर्वक यह भी कहा कि "मेरा जीवन ही मेरा संदेश है" यह गहरे अध्ययन-चिंतन की बात है और बापू के इस संदेश के अनुसार उनका समग्र जीवन ही प्रत्यक्ष में जीवन-साहित्य रूप है।

ऐसे राष्ट्रपिता के पुण्य-स्मरण से मानव 'सर्वोदय' का स्पष्ट दर्शन पाते हैं और धीरे-धीरे अपने-आप 'सर्वभूतहिते रताः' हो जाते हैं। तभी वे 'वैष्णव जन' कहलाते हैं।

●

सबसे बड़ा धनी

एक आदमी था। बहुत ही दीन और फटेहाल। चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं। उसे हैरान देखकर किसी दूसरे आदमी ने पूछा, "क्यों भाई, क्या बात है ? इतने परेशान क्यों दिखाई दे रहे हो ?"

वह बोला, "बात यह है कि मैं बहुत ही गरीब हूं। मेरे पास कुछ भी नहीं है।"

"कुछ भी नहीं है !" दूसरे ने अचरज से कहा, "तुम सच नहीं बोल रहे हो।"

पहले की बेबसी और गहरी हो गई। बोला, "मैं आपसे सच कहता हूं। बिना बात किसको हैरान होना अच्छा लगता ?"

"ठीक। तो तुम एक काम करो। तुम्हारे पास दो कान हैं। एक कान काटकर मुझे दे दो। मैं तुम्हें एक हजार रुपया दे दूंगा। बोलो, तैयार हो ?"

"नहीं, मैं अपना कान नहीं दे सकता।"

"अच्छा, तो अपनी दो आंखों में से एक आंख दे दो और यह लो पांच हजार रुपये।"

"जी, नहीं। मैं आंख भी नहीं दे सकता।"

"तो लाओ एक हाथ दे दो और यह लो दस हजार रुपये।"

"जी, नहीं, यह भी नहीं होने का।"

"इसके मानी यह हुए कि तुम्हारे पास एक दूने दो, अर्थात् दो हजार से ज्यादा के कान हैं, पांच दूने दस, दस हजार से ज्यादा की आंखें हैं और दस दूने बीस, बीस हजार से ज्यादा के हाथ हैं। मैं और चीजों को छोड़े देता हूं। सिर्फ कान, आंख और हाथ ही तुम्हारे दो, दस और बीस यानी बत्तीस हाजार से ज्यादा के हो गये तो पूरा शरीर तो जाने कितने का होगा।"

पहला चुप।

दूसरे ने कहा, "भैया, तुम नहीं जानते कि तुम्हारे पास कितनी बड़ी दौलत है। जिसके पास अच्छी-अच्छी बातें सुनने के लिए दो कान हों, अच्छी-अच्छी चीजें देखने के लिए दो आंखें हों और अच्छे-अच्छे काम करने के लिए दो हाथ हों, उससे बढ़कर धनी और कौन हो सकता है !"

मानवता को नया दिशा-बोध देनेवाले

मुनिश्री विद्यानन्द

गांधीजी किसी एक लेख के विषय नहीं, न उनका किसी एक व्याख्यान में वर्णन किया जा सकता है, न किसी एक पुस्तक में उनको समाहित किया जा सकता है। उन्होंने एक युग को प्रभावित किया है, एक राष्ट्र को संजीवनौषधि पिलाई है, मानवता को नवीन दिशाबोध दिया है। उनका जीवन नवीनताओं का सर्जक तथा प्राचीनता का पुनरुद्धारक कहा जा सकता है।

गांधीजी के कृतित्व को 'गांधी-दर्शन' कहा जाता है। उनका यह दर्शन उनके बहुमुखी जीवन का व्यवहार-सूत्र है। आश्रम-पद्धति, चर्खा, स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार, सेवा, निरभिमानता, समता, अपरिग्रह इत्यादि ऐसे अनेक अछूते क्षेत्रों में उन्होंने सफल परिणाम उपस्थित करनेवाले प्रयोग किये।

वह अपने भोजन में नीम के पत्तों की चटनी लेते थे। यह उनके अस्वादव्रत का अंग था। अस्वाद का दूरगामी अर्थ जिह्वास्वाद-निरोध मात्र नहीं है। जीवन के सारे विषय कषाय स्वाद पर आलम्बित हैं। स्वाद की इच्छा भोगोपभोगों के मूल में होती है। स्वाद जीतनेवाला इन्द्रिय-जयी होता है। गांधीजी इस कटुता का सेवन कर कटुता की तीक्ष्णता को पहचानते थे। अहिंसा-सेवी के लिए कटुता को जानना तथा पचाना आवश्यक है। कटुता को जानने-वाला ही दूसरों पर तीक्ष्ण प्रयोग नहीं करता। अहिंसा की सिद्धि के लिए वह न केवल नीम के कटुत्व को पचाते थे, अपितु राजनीति में भी उसका प्रतिक्षण चर्वण करते हुए भी, अस्वादव्रत को स्मरण रखते थे, क्योंकि राजनीति को स्वादपूर्वक ग्रहण करने का अर्थ लोलुपता का पर्याय है, तृष्णा का विस्तार है, यह वह पहचानते थे। उन्होंने राज-नीति को भी अस्वाद से निर्लिप्त भाव से भोगा।

ईश्वरवाद उनका आत्मबल था। इसे वह रामधुन के रूप में उपस्थित करते थे। अनासक्तियोग उनकी कार्यपद्धति थी। काम करना, परन्तु उसमें आसक्त नहीं होना, क्योंकि आसक्त होने से सुख-दुख रूप फलों में फंसना पड़ेगा। इस प्रकार वह अपने-आपमें तटस्थ कार्यकर्ता थे। कार्य करते भी थे, परन्तु उससे लगाव नहीं रखते थे। इसीसे उन्हें सफलता मिली। आज लोग प्रायः कार्य तो नहीं करते, परन्तु इसका फल चाहते हैं।

वह अहिंसक थे, परन्तु राष्ट्र के नाम दुर्बलता का सन्देश उन्होंने कभी नहीं दिया, क्योंकि अहिंसा शब्द हिंसा से विरति सिखाता है, कायरता नहीं।

राष्ट्र ने उनके सूत्रयज्ञ को हृदय से समर्थन नहीं दिया। चर्खा केवल सूत्रयज्ञ ही नहीं, स्वावलम्बन की आधारभूमि है, परन्तु यह भी सत्य है कि इसे मिलों की स्पर्धा में जीवित नहीं रक्खा जा सकता। टेरेलीन की होड़ में खादी के मोटे तार ग्रामीण से प्रतीत होते हैं। हां, यह सत्य है कि ग्रामीण ही नागरिकों के लिए जीवन उत्पन्न करते हैं। यदि गांधीजी के स्वदेशी व्यवहार को विस्मृत नहीं किया जाता तो आज राष्ट्र ऋणभोक्ता न होकर धनिक होता। गांधीजी अपनी सदा की वेशभूषा में गोलमेज परिषद् तक हो आये, परन्तु हमारी ही लोकसभा में हम अपनी राष्ट्रीय वेशभूषा धारण करते लजाते हैं। वह कागज की एक कतरन, पिनसुई तक काम में ले लेते थे, वेस्टेज से भी वेस्ट एज निकाल लेते थे और आज उनके अनुगामी वेस्ट एज को वेस्टेज बनाने में अहोभागी हो रहे हैं।

गांधीजी उस भारत के प्रतिनिधि थे, जो हमारे गांवों में बसा है, इसीलिए ग्रामीणवत् सादा जीवन उन्हें प्रिय था। परन्तु आज ऋण लेकर जो लाखों की कोठियों में कारों में बसे हुए हैं, वे भारतमाता ग्रामवासिनी के किस कोटि के प्रतिनिधि हैं, कहा नहीं जा सकता। ●

गांधीजी और रायचन्दभाइ

ब्रजकिशोर जैन

"मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव डालनेवाले तीन आधुनिक महापुरुष हैं—रायचन्दभाई ने अपने जीवन संसर्ग से, टाल्स्टाय ने **'वैकुण्ठ तुम्हारे हृदय में है'** नामक पुस्तक द्वारा तथा रस्किन ने **'अन्टू दिस लास्ट'** नामक पुस्तक से मुझे आश्चर्यचकित कर दिया है।"

—महात्मा गांधी

महर्षि टाल्स्टाय और जॉन रस्किन से तो अधिकांश पाठक परिचित हैं, क्योंकि ये दोनों ही ख्यातिलब्ध साहित्यकार थे, पर रायचन्दभाई को कम लोग ही जानते हैं। लेकिन अपने सजीव सम्पर्क और प्रगाढ़ परिचय द्वारा उन्होंने गांधीजी को कितना प्रभावित किया था उसका उल्लेख बापू ने अपने कई व्याख्यानों और लेखों में किया था। अपनी 'आत्मकथा' में तो बापू ने 'रायचन्दभाई' शीर्षक से एक पृथक अध्याय ही लिखा है।

रायचन्दभाई के साथ अपनी प्रथम भेंट का वर्णन बापू ने निम्न शब्दों में किया है:

"रायचन्दभाई के साथ मेरी सर्वप्रथम भेंट सन् १८९१ के जुलाई मास में उस समय हुई जिस दिन मैं विलायत से लौटकर बम्बई पहुंचा था। इन दिनों समुद्र में तूफान आया करता है, इस कारण जहाज देरी से पहुंचा। मैं डाक्टर-बैरिस्टर और रंगून के प्रसिद्ध जौहरी श्री प्राणजीवन मेहता के यहां उतरा। रायचन्दभाई उनके बड़े भाई के जामाता थे। डाक्टरसाहब ने ही मेरा उनसे परिचय कराया। उनके बड़े भाई जौहरी रेवाशंकर जगजीवनदास से भी उसी दिन जान-पहचान हुई। डाक्टरसाहब ने राय-चन्दभाई का 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा—'कवि होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापार में हैं, आप ज्ञानी हैं और शतावधानी भी हैं।' किसीने मुझे सूचना दी कि मैं उन्हें कुछ शब्द सुनाऊं और वे शब्द चाहे जिस भाषा के क्यों न हों, जिस क्रम से मैं कहूंगा, उसी क्रम से वह दुहरा जायंगे। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। मैं तो उस समय जवान और विलायत से लौटा था। मुझे भाषा-ज्ञान का भी अभिमान था। विलायत की हवा भी कुछ कम न लगी थी। उन दिनों विलायत से आया मानो आकाश से उतरा। मैंने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया और अलग-अलग भाषाओं के शब्द पहले तो मैंने लिख लिये—क्योंकि मुझे यह क्रम कहां याद रहनेवाला था? बाद में उन शब्दों को मैं बांच गया। उसी क्रम से रायचन्द-भाई ने धीरे-धीरे एक के बाद एक सब शब्द कह सुनाए। मैं संतुष्ट हुआ, चकित हुआ और कवि की स्मरण-शक्ति के विषय में मेरा उच्च विचार हुआ। विलायत की हवा कम पड़ने के लिए यह सुन्दर अनुभव हुआ कहा जा सकता है।

"कवि को अंग्रेजी का ज्ञान कुछ भी न था। उस समय उनकी उम्र पच्चीस वर्ष से अधिक न थी। गुजराती पाठशाला में भी उन्होंने थोड़ा ही अभ्यास किया था। फिर भी इतनी शक्ति, इतना ज्ञान और आस-पास में उनका इतना मान! मैं मोहित हुआ। स्मरणशक्ति पाठशाला में नहीं बिकती, और ज्ञान भी पाठशाला के बाहर, यदि इच्छा हो, जिज्ञासा हो तो मिलता है। मान पाने के लिए विलायत अथवा कहीं भी नहीं जाना पड़ता, परन्तु गुण को मान चाहिए तो मिलता है—यह पदार्थ पाठ मुझे बम्बई उतरते ही मिला।"

रायचन्दभाई का वास्तविक नाम 'राजचन्द्र' था। पर बापू उन्हें 'रायचन्दभाई' अथवा 'कवि' कहकर ही सम्बो-धित करते थे। इनका जन्म सम्वत् १९२४ कार्तिक सुदी पूर्णिमा के दिन मोरवी राज्य (गुजरात) के अन्तर्गत ववा-णीया ग्राम में हुआ था। इनके पिता रवजीभाई पंचाण दशा श्रीमाली वैश्य थे।

उनकी सात वर्ष की बाल्यावस्था बिल्कुल खेल-कूद में बीती। सात वर्ष से ग्यारह वर्ष तक का समय शिक्षा प्राप्त करने में व्यतीत हुआ। बाल्यकाल में भी इनकी स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि उन्हें अपना पाठ केवल एक बार ही याद करना पड़ता था, पर अभ्यास करने में वह बड़े प्रमादी, बातें बनाने में सबसे आगे, खिलाड़ी और अत्यन्त विनोद-प्रिय बालक थे। गुजराती भाषा की पाठमाला में राय-चन्दजी ने ईश्वर के जगत्कर्त्तव्य के विषय में पढ़ा था, इससे उनके मन में यह धारणा दृढ़ हो गई थी कि संसार का कोई भी पदार्थ बिना बनाए नहीं बन सकता। इस कारण उन्हें जैन लोगों से स्वाभाविक जुगुप्सा रहा करती थी। जैन लोगों के प्रतिक्रमण-सूत्र इत्यादि ग्रन्थ पढ़े तो इनमें उनकी प्रीति और बढ़ गई। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि रायचन्दभाई विशेष पढ़े-लिखे न थे और न उन्होंने संस्कृत, प्राकृत आदि का कुछ अभ्यास ही किया था, किन्तु फिर भी वे जैन आगमों के जानकार और मर्मज्ञ बन गये।

रायचन्दभाई की अद्भुत स्मरणशक्ति का परिचय तो पाठक बापू के साथ उनकी प्रथम भेंट के वर्णन में ही पा चुके हैं। अपनी बाल्यावस्था से ही उन्होंने अवधान-प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे और धीरे-धीरे शतावधान तक पहुंच गए थे। उन्नीस वर्ष की आयु में उन्होंने बम्बई की एक सार्वजनिक सभा में सौ अवधानों के प्रयोग बताकर बड़े-बड़े लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया था। शतावधान में वह शतरंज खेलते जाना; माला के दाने गिनते जाना; जोड़, बाकी, गुणा, भाग करते जाना; सोलह भाषाओं के पृथक-पृथक क्रम से उल्टे-सीधे नम्बरों के साथ अक्षरों को याद रखकर वाक्य बनाते जाना; दो कोष्ठों में लिखे हुए उल्टे-सीधे अक्षरों से कविता करते जाना; आठ भिन्न-भिन्न समस्याओं की पूर्ति करना इत्यादि सौ कामों को एक ही साथ कर देते थे। विशेषता यह थी कि वह इन सब कामों के पूर्ण होने तक बिना लिखे अथवा बिना फिर से पूछे ही सब काम कर डालते थे।

उन्नीस वर्ष की आयु में श्री रेवाशंकर जगजीवनदास मेहता के बड़े भाई पोपटलाल की पुत्री झबकबाई के साथ रायचन्दभाई का विवाह हुआ। उन्होंने इस प्रकार गृहस्थ आश्रम में पदार्पण तो किया, परन्तु स्त्री आदि पदार्थ उन्हें आकर्षित न कर सके। रायचन्दभाई की मान्यता थी कि 'कुटुम्ब रूपी काजल की कोठरी में निवास करने से संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकान्तवास से जितना संसार क्षय होता है, उसका शतांश भी उस काजल के घर में रहने से नहीं हो सकता क्योंकि वह कषाय का निमित्त है।'[1]

गृहस्थाश्रम और स्त्री के प्रति इस उदासीनता के बाव-जूद रायचन्दभाई स्त्री को हेय अथवा तुच्छ नहीं समझते थे। एक पत्र में उन्होंने लिखा है, "स्त्री में कोई दोष नहीं। दोष तो अपनी आत्मा में है!...स्त्री को सदाचारी ज्ञान देना चाहिए। उसे एक सत्संगी समझना चाहिए।"...

रायचन्दभाई ने यह मान्यता असत्य सिद्ध कर दी थी कि धर्मकुशल व्यक्ति व्यापारकुशल नहीं हो सकता। बाईस वर्ष की आयु में ही उन्होंने श्री रेवाशंकर जगजीवनदास के साथ बम्बई में व्यापार किया था। आरम्भ में दोनों ने मिलकर कपड़ा, किराना, अनाज वगैरह बाहर भेजने की आढ़त का काम शुरू किया तथा बाद में चलकर बड़ौदा के श्री माणिकलाल, घेलाभाई और सूरत के नगीनचन्द्र आदि के साथ मोतियों का व्यापार किया।

रायचन्दभाई व्यापार में अत्यन्त कुशल थे। स्वयं उनके साझीदार माणिकलाल घेलाभाई के हृदय में उनकी व्यापारिक कुशलता के प्रति बड़ा सम्मान था। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है:

"रायचन्दभाई के साथ मेरा लगभग पन्द्रह वर्ष का परिचय था और सात-आठ वर्ष तो उनके साथ मेरा साझी-दार के रूप में सम्बन्ध रहा। संसार का अनुभव है कि अत्यधिक परिचय से परस्पर का महत्व कम हो जाता है। परन्तु रायचन्दभाई की दशा ऐसी आत्ममय थी कि उनके प्रति मेरा भक्तिभाव दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही गया! व्या-पारियों का अनुभव है कि व्यापार के काम ऐसे होते हैं कि बहुत बार साझीदारों में मतभेद हो जाता है और अनेक बार पारस्परिक हितों में बाधा भी पैदा हो जाती है। पर रायचन्दजी के साथ मेरी साझेदारी का जितने वर्ष सम्बन्ध रहा, उसमें उनके प्रति किंचित मात्र भी सम्मान कम होने

१. रायचन्दभाई की डायरी से।

का कोई कारण नहीं मिला। परस्पर व्यवहार में कभी भी कोई मतभेद उत्पन्न नहीं हुए। इसका कारण यही था कि उनकी उच्च आत्मदशा की मेरे ऊपर गहरी छाप पड़ी थी।"

गांधीजी 'आत्मकथा' में लिखते हैं :

"एक ओर जहां मैं ईसाई धर्म को ग्रहण न कर सका वहां दूसरी ओर हिन्दूधर्म की सम्पूर्णता अथवा सर्वोपरिता का निश्चय भी मैं इस समय तक न कर सका था। हिन्दू-धर्म की त्रुटियां मेरी आंखों के सामने घूमा करती थीं। अस्पृश्यता आदि हिन्दू धर्म का अंग हो तो वह मुझे सड़ा हुआ अथवा प्रक्षिप्त मालूम हुआ। अनेक सम्प्रदायों और जाति-पाति का अस्तित्व मेरी समझ में न आया। वेद ही ईश्वर-प्रणीत है! इसका क्या अर्थ? वेद यदि ईश्वर-प्रणीत है तो फिर 'कुरान' और 'बाइबिल' क्यों नहीं?"

गांधीजी ने आगे लिखा है—"उस समय एक ओर तो ईसाई मित्र मुझपर असर डालने का प्रयत्न कर रहे थे, दूसरी ओर मुसलमान मित्र इस्लाम धर्म का अध्ययन करने के लिए ललचा रहे थे।" ऐसी परिस्थिति में रायचन्दभाई ने ही महात्माजी की शंकाओं का समाधान किया। महात्माजी ने आगे लिखा है, "अपनी धार्मिक शंकाओं के बारे में मैंने लन्दन के अंग्रेज मित्रों से पत्र-व्यवहार किया। उनके आगे मैंने अपनी शंकाएं रक्खीं तथा हिन्दुस्तान में भी जिनपर मुझे कुछ आस्था थी उनसे पत्र-व्यवहार किया। उनमें रायचन्दभाई प्रमुख थे। उनसे मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था और उनके प्रति मेरे हृदय में सम्मान भी था। इसलिए मुझे उनसे जो कुछ मिल सकता था, उसे प्राप्त करने का मैंने निश्चय किया। इसका परिणाम अच्छा निकला। सभीके उत्तर आये। परन्तु रामचन्दभाई के पत्र से मुझे जो शान्ति मिली, वह अन्य किसी पत्र से न मिल सकी। जिस बात की मुझे आवश्यकता थी वह हिन्दूधर्म में मिल सकती है, रायचन्दभाई के पत्र से मुझे ऐसा विश्वास होगया। उन्होंने लिखा था—"धीरज रखो और हिन्दूधर्म का गहरा अध्ययन करो।" उनके एक वाक्य का भावार्थ यह था : "हिन्दूधर्म में जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, जो आत्मा का निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्म में नहीं। निष्पक्ष होकर विचार करते हुए मैं भी इसी परिणाम पर पहुंचा हूं।" महात्माजी आगे लिखते हैं, "अपनी वर्तमान स्थिति के लिए मैं रायचन्दभाई का अत्यन्त ऋणी हूं। मेरे इस कथन से ही पाठकगण अनुमान लगा सकते हैं कि मेरे हृदय में उनके प्रति कितना अधिक सम्मान होना चाहिए।"

रायचन्दभाई संसार के नाना मतमतान्तरों से बहुत दुखी थे। जन-समुदाय की वृत्तियां, विषय, कषाय और छल-कपट आदि देखकर वह अत्यन्त उद्विग्न हो जाते थे। उनकी आंखों में आंसू आ जाते थे। वह बहुत बार कहा करते थे—"चारों ओर से कोई बछियां भोंक दे तो वह मैं सह सकता हूं, परन्तु जगत् में जो झूठ, पाखण्ड और अत्याचार चल रहा है, धर्म के नाम पर जो अधर्म हो रहा है, उसकी बर्छी सहन नहीं हो सकती।"

एक ओर तो रायचन्दभाई संसार-ताप से दुखी थे और दूसरी ओर उन्हें व्यापार में काफी श्रम करना पड़ता था। इससे उनका स्वास्थ्य दिन-प्रति-दिन बिगड़ता ही गया। स्वास्थ्य-लाभ के लिए उन्हें धरमपुर, अहमदाबाद, बढ़वाण कैम्प और राजकोट ले जाया गया। विविध प्रकार के उपचार किये गए, परन्तु सब निष्फल रहे। चैत्र वदी ५ मंगलवार, सम्वत् १९५७ को केवल तेतीस वर्ष की अल्पायु में ही रायचन्दभाई इस नश्वर शरीर को त्याग कर संसार से विदा होगये।

यद्यपि गांधीजी और रायचन्दभाई आज सशरीर उपस्थित नहीं हैं, परन्तु परोक्ष रूप से वे हमारे लिए बहुत कुछ छोड़ गए हैं। उनके सात्त्विक साहित्य में स्थान-स्थान पर हमें उनकी आभाओं का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, जो हमें सदैव प्रेरणा देता रहेगा।

हेतु शुभ होगा तो आत्मा कलुषित न होगी।

—मो० क० गांधी

गांधीजी की कठोर कसौटी

शोभालाल गुप्त

●

देश में अनेक लोग सार्वजनिक हित के नाम पर सार्वजनिक संस्थाएं चलाते हैं। उनमें कोई बुराई होती है, तो उसे छुपाने की कोशिश की जाती है, इस भय से कि बुराई प्रकट हो गई तो संस्था की बदनामी होगी और सार्वजनिक हित को नुकसान पहुंचेगा।

गांधीजी इसके विपरीत थे। उन्होंने साबरमती में सत्याग्रह-आश्रम चलाया। जब यह आश्रम उनकी कसौटी पर खरा नहीं उतरा तो उसका नाम बदलकर उद्योग-मंदिर कर दिया। उन्होंने इतने से ही सन्तोष नहीं किया। पहले तो जो बुराइयां ज्ञात हुईं, उनकी जानकारी आश्रमवासियों को दी और उसके बाद 'नवजीवन' के द्वारा उन्हें सारी दुनिया के सामने रख दिया।

एक बार तो गांधीजी के एक निकट सम्बन्धी चोरी करते हुए पकड़े गये। उन्हें गांधीजी ने अपने पुत्र के समान पाला था और बचपन से अपने पास रखा था। उन्होंने चोरी की बात स्वयं कबूल नहीं की। आश्रम के मन्त्री ने उसे पकड़ा। चोरी करनेवाले को इसपर बड़ा पछतावा हुआ। वह खुशी से आश्रम छोड़कर चले गये। उन्होंने जो चोरियां की थीं, वे न कुछ, थोड़े-से पैसों और छोटी, हल्की चीजों की थीं। इससे आश्रम को कोई आर्थिक नुकसान नहीं हुआ। उन्होंने अपनी पहले की कमाई से दस हजार रुपया बचाया था। वह उन्होंने गांधीजी के कहने से आश्रम को दे दिया। आश्रम में अपरिग्रह का व्रत पालन किया जाता था। कोई निजी सम्पत्ति नहीं रख सकता था। इसलिए कर्तव्य-पालन की दृष्टि से उन्होंने अपनी निजी सम्पत्ति आश्रम को दे दी। उनके जैसे आदमी ने छोटी-छोटी चोरियां क्यों कीं, इसका कारण गांधीजी भी न समझ पाये, लेकिन उनकी बुराई को गांधीजी ने छिपाया नहीं, सबके सामने रख दिया।

गांधीजी ने अपनी पत्नी कस्तूर बा को भी माफ नहीं किया। उनकी दुर्बलता को भी सर्वसाधारण के सामने प्रकट कर दिया। कस्तूर बा ने गांधीजी के जीवन के बड़े-बड़े परिवर्तनों में साथ दिया। उनका जीवन पवित्र था। उन्होंने असामान्य त्याग किया था। गांधीजी के त्याग के रास्ते में उन्होंने कोई रुकावट नहीं डाली। गांधीजी ने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया तो उसे निभाने में आगे होकर मदद दी। उन्होंने द्रव्य का त्याग किया, किन्तु उसका मोह सर्वथा न छोड़ पाईं। कस्तूर बा ने एक साल या उससे कुछ साल पहले से अलग-अलग लोगों से अलग-अलग मौकों पर मिले सौ-दोसौ रुपये इकट्ठे कर रखे थे। गांधीजी ने नियम यह बना रखा था कि यदि कोई कस्तूर बा को उनके निज के उपयोग के लिए कुछ दे जाय तो भी वह रकम उनको अपने पास नहीं रखनी चाहिए। इसलिए कस्तूर बा के पास इकट्ठी हुई रकम को चोरी की रकम माना गया। आश्रम में चोर आये। उन्हें कुछ नहीं मिला। किन्तु कस्तूर बा की राशि का पता चल गया। कस्तूर बा ने पश्चात्ताप किया। किन्तु उसके बाद भी एक भाई उन्हें चार रुपये भेंट कर गये तो उन्होंने आश्रम में जमा नहीं कराये। किसी तरह इसका पता चला तो आश्रम के व्यवस्थापक डरते-डरते कस्तूर बा के पास गये। कस्तूर बा ने चारों रुपये उनको दे दिये और वचन दिया कि भविष्य में वह ऐसा नहीं करेंगी। कस्तूर बा ने यह भी कहा कि अगर भविष्य में ऐसी गलती होगी तो वह गांधीजी और आश्रम को छोड़ देंगी। गांधीजी ने लिखा कि अब कस्तूर बा आश्रम में निर्दोष की भांति रहेंगी और अगर लोग निभा लेंगे तो मौके-बे-मौके उनके साथ प्रवास में भी रह सकेंगी। कितने कठोर थे गांधीजी अपनी सह-धर्मिणी पत्नी के प्रति, जिसने जीवन में उनके लिए बड़े-से-बड़ा त्याग किया था,

आश्रम में एक विधवा बहन रहती थीं। उनके साथ आश्रमवासी एक नौजवान का, जो कुंआरे थे, सम्बन्ध हो गया। आश्रम में ब्रह्मचर्य-पालन का आग्रह था। उसका भंग हुआ। गांधीजी ने इस बड़ी बुराई को भी प्रकट करने में संकोच नहीं किया।

गांधीजी को इन तथा ऐसी ही अन्य घटनाओं पर गहरी वेदना हुई। उन्होंने इन घटनाओं की जिम्मेदारी अपने सिर पर ओढ़ ली और अपनी खूब प्रताड़ना की। 'नवजीवन' में उन्होंने अपनी व्यथा का ऐसा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है कि जिसकी दूसरी मिसाल नहीं मिल सकती। सत्य का कोई सच्चा आग्रही और पावन व्यक्ति ही ऐसे उद्‌गार प्रकट कर सकता है। उन्होंने लिखा :

"मित्र और अनजान-अपरिचित भोले पाठक मन्दिर का और मेरा त्याग करें तो दुहेरी भलाई हो। मैं छूटूं, वे छूटें, मेरा बोझ हल्का हो। लेकिन दुनिया की कठिन पहेलियां इस तरह सहज ही नहीं सुलझ सकतीं। इस पहेली को हल करने का एक तरीका तो यह है कि मन्दिर में रहनेवाले पवित्र स्त्री-पुरुष मुझे छोड़ दें। दूसरे, अगर मन्दिर में रहनेवाले तमाम नापाक नर-नारी भाग जायं तो भी, मेरे विचार में, सुन्दर परिणाम निकलें। मैं भाग जाऊं, यह तो और भी अच्छा है, सोने में सुगन्ध है, लेकिन इनमें से कोई एक भी बात अभी सम्भव नहीं।

"पाठक, कृपाकर इन बातों पर विश्वास करें। यह समझना चाहिए कि ये पाप मेरे पापों की प्रतिमाएं—प्रतिमूर्तियां हैं। ऊपर जो कुछ मैंने लिखा है, वह इस उद्धत विचार से नहीं लिखा कि 'मैं अच्छा हूं, मेरे साथी खराब हैं' मुझे पक्का विश्वास है कि मेरे हृदय की गहराई में छिपी हुई अनेक कमजोरियां ही इस तरह फोड़ों के रूप में फूट पड़ती हैं। मैंने कभी सम्पूर्णता का दावा नहीं किया है। आश्रम में जो पाप होते हैं, वे मेरे पापों की झांई-प्रतिध्वनि हैं। मैं तो यही कह सकता हूं कि मैं अपने पापों को नहीं जानता। अनन्त विचार-जगत् में कितने पाप करके मैं आसपास की हवा को गन्दी करता होऊंगा, कौन जानता है ? 'महात्मा' पद मुझे हमेशा शूल के समान चुभा है, आज तो मैं उसे अपने लिए एक गाली समझ रहा हूं। लेकिन मैं कहां जाऊं, क्या करूं ? निकल भागूं ? आत्महत्या करूं ? भूखों मरूं ? आश्रम में गड़ जाऊं ? सार्वजनिक काम के लिए अथवा अपने पेट के लिए एक भी कौड़ी लेने से इनकार करूं ? कोई बात इनमें से ऐसी नहीं, जिसे अभी करने की इच्छा हो, हिम्मत भी नहीं है।

"मैं इतना आशावादी हूं कि दूसरे भले ही मेरी बात न मानें, लेकिन अगर अकेले मन्दिर में रहनेवाले ही मन, वचन और काया से मेरा कहना कबूल करें तो भी मैं अपनी कल्पना का स्वराज्य पाने की आशा रखता हूं। मैं अपने पापों को देखने और उन्हें दूर करने के लिए हमेशा तैयार रहता हूं। इस कारण ऐसे-ऐसे दोषों को देखते हुए भी मैं यह आशा रखकर जी रहा हूं कि आश्रम अपने नाम की योग्यता अभी भी सिद्ध करेगा और फिर से मन्दिर मिटकर आश्रम बनेगा। इसी कारण अभी तो मैं यही विचार रखता हूं कि जैसे-जैसे कमजोरियां प्रकट होती जायं, वैसे-वैसे उन्हें जाहिर करता जाऊं और मन्दिर को निभाता, चलाता रहूं।

"इस पापी, अपूर्ण संस्था के द्वारा मैं प्रभु से मिलने की आशा रखता हूं। इस संस्था को मैं अपनी अच्छी-से-अच्छी कृति मानता हूं। मैं कहता रहता हूं कि यह संस्था मुझे मापने का गज है। इन पापों के प्रकट हो जाने पर भी मेरी इस कल्पना में कोई फेरफार नहीं हुआ है। हो सकता है, यह मेरा निरा भ्रम हो, सयानेपन के बदले पागलपन हो। ऐसी दशा में :

रजत सीप महुं भास जिमि जथा भानुकर वारि।
जदपि मृषा तिहुंकाल सोइ भ्रम न सकई कोउ टारि॥

अर्थात् "सीप में चांदी का और सूर्य के ताप में जल का भ्रम होना सर्वथा झूठ है, फिर भी अज्ञानी आदमी को वह सच्चा ही मालूम होता है। इस भ्रम को सिवा ज्ञान के और कोई नहीं मिटा सकता।"

जो सार्वजनिक संस्थाएं चलाते हैं या सार्वजनिक काम करते हैं, वे इससे क्या सीख सकते हैं ? उन्हें सीखना चाहिए कि अपनी या अपने साथियों की निर्मलता सर्वोपरि है और उसकी हर कीमत पर रक्षा की जानी चाहिए। उसके बिना सार्वजनिक जीवन विकसित और समृद्ध नहीं हो सकता।

मौलाना की दुआ

पुरासु बालकृष्णन

●

बकरीद को सवेरा हुआ।

मौलाना गैज ने उच्च स्वर में अजान दी।

यद्यपि उनकी आयु ७० को पार कर चुकी थी, परन्तु उनकी वाणी में अभी भी स्पष्टता व ओज था। वह उसी स्वर से अजान दे सकते थे, जिस स्वर से वह मुअज्जिन के रूप में देते थे। उनकी आत्मा की पवित्रता से उनका शरीर स्वस्थ था और उसमें चमक भी थी।

मैं और मेरी पत्नी उनके साथ उनके घर में ईद मना रहे थे। हम कुछ दिन के लिए आये थे। जब उनकी पत्नी, पुत्र, पुत्री, दामाद, पौत्र, पौत्री, मेरी पत्नी व मैंने अजान सुनी तो हम उनके चारों ओर एकत्र हो गये। जब नमाज समाप्त हो गई तो मैंने उनसे पूछा "जनाब, जब आप मुअज्जिन थे, तो दूसरे लोगों को नमाज पढ़ने के लिए मस्जिद में इकट्ठा करते थे, परन्तु अब बकरीद को भी मस्जिद में नहीं जाते। क्या बात है ?"

गैज ने मुस्कराते हुए कहा, "मेरे अजीज, यह उन दिनों की बात है।"

"क्या वे दिन बदल गए हैं ?" उनके पुत्र ने पूछा।

"दिन नहीं बदले, परन्तु मनुष्य बदल गये हैं।"

"हां, वे अवश्य बदल गये हैं," उनकी नवविवाहित पौत्री ने कहा, "दादा, आप बूढ़े हो गये हैं। अब आप उतना काम नहीं कर सकते। आपके शरीर में उतनी ताकत भी नहीं रही।"

वृद्ध ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "मेरे अजीजो, मैं नहीं कहता हूं कि तुम लोग मस्जिद मत जाओ। परन्तु अगर तुम्हारे दिल में सच्ची मोहब्बत है, जिसमें मनुष्यों के प्रति समान दृष्टि है तो मस्जिद जाने की आवश्यकता नहीं। सच्चा प्रेम ही ईश्वर की वास्तविक पूजा है।"

"क्या आपके हृदय में ऐसा प्रेम उत्पन्न हो गया है ?" उनके पुत्र ने कुछ अशिष्ट ढंग से पूछा।

"मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर कैसे दे सकता हूं ?" उन्होंने कहा, "अगर ऐसा प्रेम उत्पन्न भी हो गया तो वह अल्लाह का है। वही हमें प्रेम देता है। मैं तो उस प्रेम को पाने का प्रयास कर रहा हूं।" उनके ये वाक्य सुनकर थोड़ी देर मौन छा गया।

वृद्ध ने मेरी ओर मुड़कर कहा, "सज्जाद, तुमने परिवर्तन का कारण पूछा है। मैं उसे बताऊंगा। खुदा ने कृपा करके एक बार मेरे हृदय में अपने सर्वव्यापी प्रेम की धारा बहाई थी। यह नजात के रेगिस्तान की बात है। उस समय मेरी उम्र ४० वर्ष की थी।

"छः दिन तक हम तपते हुए रेगिस्तान में चलते रहे। एक-एक दिन युग की तरह प्रतीत होता था। चारों ओर रेत-ही-रेत थी, जो लोहे की तरह तप जाती थी। ऊपर से सूर्य की गर्मी भी भयानक थी। हम लोग दो भट्टियों के बीच में थे, जो साक्षात नर्क हो रहा था। हम कुछ ही हरी भूमि देखने व जल के लिए तड़प रहे थे। हमारे उस्ताद ने कहा कि अल्लाह से दुआ मांगो कि वह हमें मरने से बचा ले।

"मैंने दुआ मांगी, 'हे अल्लाह हमारे शरीर जल के प्यासे हैं और हमारी आत्मा तुम्हें पाने को आतुर हैं। हमें जल व हरियाली की ओर ले चलो, जहां हम मौत से बच जायं।'

"हम दिन-भर चलते रहे, परन्तु जल नहीं मिला। अल्लाह ने हमारी दुआ कबूल नहीं की। दूसरे दिन मैंने फिर दुआ की, 'हे रहीम अल्लाह हम गर्मी व प्यास से मर रहे है। तुम्हारे बेटे तुम्हें पुकार रहे हैं। हमें तुमपर ईमान है। हम भयानक रेगिस्तान में तुम्हारे रहमो करम पर हैं।

"दूसरे दिन भी अल्लाह ने हमारी दुआ कबूल नहीं की। तीसरे दिन भी हमने दुआ मांगी, परन्तु रेगिस्तान खत्म नहीं हुआ। चौथा दिन आया। हम मायूस हो चुके थे। लेकिन जबतक हमारे गले में ज़रा भी नमी थी, हमने अल्लाह का नाम पुकारना नहीं छोड़ा। हमने कहा, 'हे खुदा, तूने पैगम्बर को भेजा। हम उसीके बन्दे हैं। हमारे गुनाहों को माफ कर दे और इस जलती हुई रेत से बचा ले।

"हमारे मुंह और हृदय में अल्लाह का नाम था, परन्तु दूर-दूर तक फैले रेगिस्तान का छोर नहीं मिल रहा था। पांचवें दिन सूरज जब तपने लगा तो हमारी अन्तिम आशा भी टूट गई। हम निराश हो गये। हमें मौत की छाया दिखाई देने लगी। हमने पुकारा, 'हे अल्लाह, क्या हमें इस रेगिस्तान में मारना चाहता है! तेरी इच्छा ही बलवती है। हम लाचार हैं।'

"उसके बाद हमने दुआ मांगनी बन्द कर दी। पांचवां दिन भी पूरा हुआ। छठा दिन शुरू हुआ।

"छठे दिन मौत छायामात्र नहीं रही, बल्कि सामने दिखाई दी। हमारे रास्ते में बहुत-सी अस्थियां बिखरी पड़ी थीं। कुछ दूर चलने पर अस्थियों के ढेर-के-ढेर दिखाई पड़े। इस प्रकार हमें मौत के दर्शन हुए। क्या वे अस्थियां हमारी ही तरह के यात्रियों की थीं, जो रेगिस्तान में मर गये थे? एक ओर मौत थी, दूसरी ओर रेगिस्तान की लू चल रही थी।

"मैंने अस्थियों को देखा। वे मनुष्य से बड़े आकार के जानवरों की थीं। वे ऊंटों की हड्डियां थीं, जो रेगिस्तान की गरमी से झुलस गए थे और मरने के बाद उनका शरीर जलता रहा। बड़ा भयानक दृश्य था। कोई-कोई ढांचे समूचे ऊंट के थे। हमने कल्पना की कि ऊंट गिर गया होगा। फिर चलते-चलते उसकी अस्थियां ही रह गईं। ये अस्थियां गर्मी में जलते-जलते सफेद हो गई थीं।

"क्या हमारा अन्त भी इसी प्रकार होगा? क्या हम भी इसी भांति जल जायंगे? ऐसी कल्पना कर हम कांप उठे। उन अस्थियों को देखकर हमें मौत नजर आने लगी। हमने अपने ऊंटों की ओर देखा, जो हमें ले जा रहे थे। इससे पहले हमें उनका ध्यान भी नहीं आया था। क्या हमारे ऊंट भी उन्हींकी तरह मौत के मुंह में चले जायंगे? क्या हम भी उन्हींकी तरह मर जायंगे? क्या हम व ऊंट एक ही प्रकार मृत्यु का आलिंगन करेंगे?

"इन मूक पशुओं के विषय में मैंने उससे पहले ज़रा भी नहीं सोचा था। वे चुपचाप भूखे-प्यासे व थके हुए हमें ले जा रहे थे। उनके पेट भीतर को चले गये थे, उनकी आंखें डूब गई थीं, उनकी नाक पानी के बिना सूख गई थीं। इस प्रकार वे भी धीरे-धीरे हमारी तरह मृत्यु की ओर बढ़ रहे थे।

"मुझे एक नया विचार आया। हम मृत्यु में एक-दूसरे के साथी हैं। मृत्यु का समान बन्धन हममें एकता स्थापित कर रहा था। हम जीवन में भी साथी थे, परन्तु इसका अनुभव मुझे तभी हुआ जब मृत्यु की निकटता ने मेरी आंखों के आगे से पर्दा हटा दिया था।

"हम उन मूक पशुओं पर सवार थे। हमने उनके बारे में कभी नहीं सोचा। हम अपनेको ही दुखी मानकर दुआएं मांग रहे थे। हमने उनके लिए दुआ नहीं मांगी। हम कितने स्वार्थी थे। ये मूक पशु हमारे सहयोगी व प्रकृति के जीव थे, जो प्रकृति की इच्छानुसार चलते थे।

"यकायक मेरे हृदय में उन मूक पशुओं के लिए दया का भाव उमड़ आया। वे कितने प्यारे हैं, नारी की तरह। मृत्यु से पूर्व हमें उनके लिए भी दुआ मांगनी चाहिए। 'हे अल्लाह, तेरे द्वारा भेजे गये हमारे मददगार व पथ-प्रदर्शक इन मूक वाणीरहित सहयोगी पशुओं के लिए भी हम दुआ मांगते हैं। हमारी दुआ को सुन और उसे कबूल कर।'

सूरज से दोपहर की तपती धूप आ रही थी। "हिम्मत रखो," हमारे नेता ने पुकारा और नखलिस्तान की ओर इशारा करते हुए कहा, "देखो, हम बच गये। अल्लाह ने हमारी दुआएं कबूल कर लीं।" तभी एक जलमिश्रित शीतल पवन का झोंका आया। उसका स्पर्श फूलों के गुच्छे की तरह प्रतीत हुआ।"

जब गैज ने अपनी कहानी समाप्त की तो थोड़ी देर के लिए जनसमूह में सन्नाटा छा गया।

जीवन की अखण्डता और गांधीजी

उपाध्याय श्री अमर मुनि

●

गांधीजी अहिंसा और सत्य के एक निर्मल प्रतीक थे। भारत की और विश्व की राजनीति को नया मोड़ देनेवाले युगद्दष्टा पुरुष थे। उन्होंने राजनीति के केन्द्र को बदला, राजनीति की दिशा को बदला। यह गांधीजी के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

राजनीति एक अलग केन्द्र पर खड़ी थी, धर्म एक अलग केन्द्र पर। राजनीति का मूलाधार घृणा, द्वेष एवं विरोध होता है। विश्वासघात और धोखा उसकी परिभाषा में आता है। धर्म का मूलाधार इससे भिन्न है। प्रेम, मैत्री, सत्य और ईमानदारी—यह धर्म का आधार है। धर्म और राजनीति को अतीत में कभी अलग-अलग टुकड़ों में बांट दिया गया था, अलग-अलग दिशाओं में उन्हें राम एवं रावण की तरह एक दूसरे के विरोध में खड़ा कर दिया गया था। यह मान लिया गया था कि राजनीति में प्रेम का कोई अर्थ नहीं, सत्य के कोई माने नहीं। वैर, घृणा, प्रतिशोध, धोखा—बस यही राजनीति का स्वरूप है।

गांधीजी ने इस भेद को तोड़ा। उन्होंने इस व्यापक भ्रान्ति का निराकरण किया—घृणा, नफरत और धोखा कोई नीति नहीं हो सकती है। धर्म-नीति और राजनीति कोई परस्पर विरुद्ध दो चीजें नहीं हैं, मुख्य जो है, वह नीति है। नीति प्रेम सिखाती है, मैत्री और सत्य की शिक्षा देती है। जो नफरत और मूलोच्छेद की बात करती है, जो प्रतिस्पर्धा और द्वेष की आग लगाती है, वह नीति नहीं, अनीति है। फिर भले ही वह कोई भी नीति हो।

जीवन के इस नीति-सम्बन्धी द्वैध पर, घातक विभेद पर, एक गहरा प्रहार किया था गांधीजी ने। जीवन के इन टुकड़ों को जोड़ने का प्रयत्न किया उन्होंने।

जीवन में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका है तो राजनीति की भी अपनी एक प्रतिष्ठा है। व्यक्ति समाज में रहकर न धर्म से विमुख होकर जी सकता है और न राजनीति से अनपेक्ष रहकर। "कोउ नृप होउ हमहुं का हानी" का दर्शन समाज का जीवन-दर्शन नहीं हो सकता। धर्म व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करता है, उसके आदर्श और संकल्पों को उदात्त बनाता है, और राजनीति भी उसके जीवन को प्रतिक्षण प्रभावित करती है, जीवन की हर करवट पर राजनीति की छाया पड़ती है, आदर्शों और संकल्पों को साकार बनाने में उसका अनुदान अपरिहार्य है। यह बात आज की नहीं, प्राचीन काल में भी इतनी ही सत्य थी, जितनी कि आज है। इसीलिए तो 'यथा राजा तथा प्रजा' का सूत्र चला।

व्यक्ति को जब राजनीति और धर्म-नीति दोनों भूमिकाओं को समान रूप से निभाते जाना है, तो यह कैसे सम्भव है कि उस भूमिका में इतना बड़ा द्वैध, इतनी बड़ी खाई पड़ी रहे कि छलांग लगाकर भी पार न की जा सके। धर्म-मंदिर में जो व्यक्ति जाता है वही व्यक्ति राज संसद में भी जाता है। फिर यह क्या है कि वह धर्मनीति में गया तो सफेद चादर ओढ़ ली, देवता बन गया, भक्ति और प्रेम की चौपाइयां पढ़ने लगा और राजनीति में गया तो काली चादर ओढ़ ली, अधिकार और नफरत की हुंकार करने लगा। यह द्वैध क्यों? इतनी बड़ी खाई क्यों है जीवन में?

इतिहास पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अहिंसा धर्म का अंग माना गया है, सत्य और प्रेम, धर्म का रूप माना गया है। और छल, फरेब, धोखा, हिंसा यह राजनीति मानी गई। धर्मनीति को क्रियाकाण्ड के एक छोटे-से दायरे में बंद कर दिया गया और वहां व्यक्ति ने अपने-अपने ऊपर एक से एक बढ़कर कठोर अंकुश लगाये। किन्तु दूसरी ओर जीवन के व्यापक क्षेत्र में राजनीति की आड़ लेकर वही व्यक्ति अधिकाधिक निरंकुश होता

रहा। इतना निरंकुश होता गया कि मानव बस बाहर के आकार में ही मानव रह गया, अन्दर में दानव बन गया —इस प्रकार एक ही व्यक्ति दोनों गद्दियों पर अलग-अलग मुखौटे लगाकर बैठता रहा।

गांधीजी ने इतिहास के इस अनिष्ट प्रवाह को रोक दिया, इस खाई को पाटने का प्रयत्न किया। उन्होंने धर्म और राजनीति को अलग-अलग खेमों से उठाकर एक ही जगह प्रतिष्ठित किया—नीति में। नीति न धर्म से अलग हो सकती है, न राजनीति से। नीति व्यक्ति और समाज का आधार है। व्यक्ति गलत कार्य करता है, तो सुधर सकता है, परन्तु यदि आदर्श गलत हुआ तो व्यक्ति गुमराह होता रहेगा, भटकता और बिगड़ता रहेगा। घृणा असत्य और द्वेष कभी किसी समाज का उच्च आदर्श नहीं हो सकता। व्यक्ति यदि बुराई करता है तो उससे द्वेष करने की आवश्यकता नहीं, व्यक्ति अगर दुराचारी है, तो उससे घृणा करने की आवश्यकता नहीं है। उसकी बुराई को मिटाइए, उसकी आदत को सुधारिए।

आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने भी यही सन्देश दिया था—व्यक्ति पाप करता है तो उसके पाप को मिटाइए, व्यक्ति को नहीं। पापी से घृणा मत करिए, पाप से घृणा करिए। यदि पापी से घृणा करने की पद्धति चली तो समाज में पापी कौन नहीं है? फिर पिता पुत्र से घृणा करेगा, माता पुत्री से नफरत करेगी। पत्नी पति से और पति पत्नी से नफरत करेगा—फिर समाज का जीवन, घृणा और नफरत की जलती हुई भट्टी के सिवा और क्या रहेगा? जहां सब एक दूसरे से नफरत, द्वेष और धोखा करते रहेंगे, वहां कौन कैसे सुख से जी सकेगा? इसलिए भगवान महावीर ने कहा—घृणा पापी से नहीं, पाप से करो।

पच्चीस शताब्दी बाद यही सिद्धान्त गांधीजी के जीवन में प्रतिध्वनित हुआ। उन्होंने कहा, "तुम संघर्ष कर सकते हो, युद्ध कर सकते हो, पर व्यक्ति से नहीं, व्यक्ति की बुराइयों से।" अंग्रेजों से गांधीजी ने संघर्ष किया, किस नीति के आधार पर। वह कहते थे, "अंग्रेज भी मेरे मित्र हैं, बन्धु हैं, मैं एक अंग्रेज की भी उसी हृदय से रक्षा करूंगा, जिस हृदय से अपने एक निकट के मित्र की।" राजनीति में यह बिल्कुल नई बात थी। उन्होंने कहा, "मेरा अंग्रेजों से कोई द्वेष नहीं है, मुझे उनसे कोई घृणा नहीं है।" आप पूछेंगे कि फिर संघर्ष किस बात का? संघर्ष था नीति का, सिद्धान्त का। अंग्रेजों की गलत नीतियों का। उन्होंने सिद्धान्त की लड़ाई लड़ी और सिद्धान्त से लड़ी। आप कल्पना कर सकते हैं कि यदि ब्रिटिश साम्राज्य से गांधीजी की लड़ाई शस्त्रों से और सेना से होती, तो क्या कभी वह विजयी बन सकते? यह लड़ाई यदि दो सौ वर्ष भी चलती तो शायद उसका फैसला गांधीजी के पक्ष में नहीं हो पाता। किन्तु उन्होंने लड़ाई का बिल्कुल नया तरीका निकाला, और यह वह तरीका था, जो पच्चीससौ वर्ष पूर्व बुद्ध और महावीर ने आध्यात्मिक सिद्धान्त के रूप में व्यक्त किया था। गांधीजी ने उसका प्रयोग व्यवहार क्षेत्र में किया, व्यक्ति से आगे बढ़कर सामाजिक भूमिका में किया, अटल विश्वास और धैर्य के साथ। उन प्राचीन उदात्त आदर्शों की व्याख्या की उन्होंने वर्तमान के जीवन-दर्शन से। गांधी वाङ्मय पढ़ते-पढ़ते बहुत बार मुझे लगता है कि यह महाश्रमण महावीर बोल रहे हैं, गौतम बुद्ध की वाणी प्रतिध्वनित हो रही है। गांधीजी ने सुन्दर अतीत को सुन्दर वर्तमान में अवतरित कर दिखाया।

मैं दिल्ली में एक बार क्रिप्स-मिशन के समय गांधीजी से मिला। वह बहुत व्यस्त थे। बहुत थोड़े समय के लिए हमारी वार्ता का कार्यक्रम था। पर जब बातचीत चली तो लगभग दो घन्टे तक बैठे रहे। वार्ता की गहराई में उतरते रहे, फलतः समय की गति का न उन्हें पता रहा, न मुझे ही। अपनी कार्य-पद्धति के प्रसंग में उन्होंने कहा, "मैं जो कर रहा हूं वह आप ही लोगों का काम है। मैं सबसे प्रेम करता हूं, अपने विरोधी के प्रति मुझे घृणा नहीं। वस्तुतः मेरा कोई विरोधी है ही नहीं। एक दूसरे के मन को न समझने का ही यह सब द्वन्द्व है। मैं अन्दर में देखता हूं। अतः मेरे लिए जो कांटे बिछाता है, उसके लिए भी मेरा मन फूल बिछाता है। यह आप सन्तों की ही पद्धति है न? और बस यह आपकी पद्धति ही मेरी पद्धति है।" और खिलखिलाकर अन्त में कहा, "क्यों ठीक है न? और इस बात में आपका ही काम कर रहा हूं।"

भारतीय सन्त-परम्परा का आदर्श यही रहा है कि—वह किसीको विरोधी और दुश्मन मानती नहीं, यदि कोई उनसे विरोध और शत्रुता रखता भी है तो वे उसके लिए भी प्रेम एवं स्नेह की वर्षा करते हैं। कांटा बोनेवाले के लिए भी वे फूल बिछाते हैं :

"जो तोकूं काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल"

बुराई करनेवाले की भी भलाई करना—यही साधुता का लक्षण है—

मैं देखता हूं कि आज आदमी खण्ड-खण्ड होकर जी रहा है। मुझे तो ऐसा लगता है कि वह अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरों के लिए जी रहा है। घर में मैले-कुचैले गन्दे कपड़े रखनेवाली स्त्री जब बाहर जाती है तो पांचसौ रुपये की साड़ी पहनकर निकलती है, इसका क्या मतलब है ? अगर स्वच्छता कोई चीज है और वह अच्छी लगती है, तो वह घर में भी रहनी चाहिए। आदमी कपड़ा पहनता है तो अपनी रुचि के आधार पर वस्त्रों का चुनाव करता है। घर हमेशा गन्दा रहता है, समय पर ठीक तरह झाड़ू भी नहीं लगती। पर जब कोई महमान घर आनेवाला होता है तो सफाई-पुताई होती है, कुछ खास तरह का खाना बनता है। मतलब यह है कि आदमी दूसरों के लिए कपड़े पहनता है, दूसरों के लिए सफाई करता है और दूसरों के लिए ही खाना बनाता है। घर में वाणी बोलता है तो जहर का टुकड़ा। मगर मित्रों के बीच बैठकर बड़ी मीठी अमृत-सी वाणी बोलता है। स्थिति यह है कि वह जीवन को होली का खेल समझ रहा है, फलतः होली के दिनों में बच्चों की तरह अलग-अलग मुखौटों में अपनेको जन-समाज के समक्ष उपस्थिति कर रहा है।

गांधीजी ने जीवन के इन अलग-अलग टुकड़ों को जोड़कर सीने का प्रयत्न किया था। उन्होंने कहा, 'यदि तुम्हें स्वच्छता प्रिय है, तो केवल बाहर में ही नहीं, घर में भी रखो। यदि मधुर वाणी को श्रेष्ठ मानते हो, तो उसका प्रयोग बाहर में ही क्यों घर में क्यों नही करते ? धर्म और राजनीति को, समाज और परिवार को अलग-अलग खण्डों में मत बांटो, यदि कोई नीति, मर्यादा और संस्कृति हो सकती है तो वह जैसी मंदिर और मस्जिद में होगी, सभा और समाज में होगी, वैसी ही घर और परिवार में भी होगी।' भारतीय तत्व-चिन्तन का यह सूत्र उनके जीवन में उतरा था :

जहां अन्तो तहां बंहि,
जहां बंहि तहां अन्तो।

जैसा विचार और आचार भीतर में हैं, वैसा ही बाहर में और जैसा बाहर में वैसा ही भीतर में।

गांधीजी हमारे बीच से चले गए। पर मैं नहीं मानता कि भारत में गांधीजी की मृत्यु हो गई ? गांधी की संस्कृति, गांधी का चिन्तन, गांधी का दर्शन भारतीय संस्कृति है, भारत के चिन्तन और दर्शन की अजस्र धारा है, वह कभी सूख नहीं सकती। हां, इतना जरूर हुआ है कि गांधीजी का जीवन-वृत्त लेकर जो चले थे, वे आज अपने दर्शन और आदर्श के लिए प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो रहे हैं। गांधीजी के नाम पर भी आज मिलावट चल पड़ी है, गांधीजी की एकरूपता का दर्शन—गांधीजी के नाम पर ही बहुरूपता के सुन्दर आवरणों के साथ प्रस्तुत हो रहा है। आज राष्ट्र का जीवन खण्ड-खण्ड हो रहा है, नेता और जनता का जीवन दर्शन आज विशृंखलित हो गया है। सिद्धांत और आदर्श-निष्ठा के स्थान पर सिर्फ सभ्यता, औपचारिकता और दिखावा—जीवन का क्रम बन गया है। गांधीजी ने जिस राजनीति को धर्म से संस्कारित करने का प्रयत्न किया था, वह राजनीति धर्म से बिछुड़ गई है और जीवन को एक राजनीति का खेल बनाकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये हैं। गांधीजी की आज आवश्यकता है, उतनी कि जितनी गांधीजी के समय में भी नहीं थी। और इसीलिए आवश्यकता है कि हमारे जीवन का दृष्टिकोण, जीवन का रूप जो खण्ड-खण्ड में विभक्त हो रहा है, उसे अखण्ड रूप में उपस्थित करने का आवाहन करे, प्रेरणा जगाए और मार्गदर्शन प्रस्तुत करे।

'अपकारिषु यः साधु स साधु रितिमे मतिः'—सन्त के हृदय में संगम जैसे दुष्टों के प्रति भी दया, करुणा और प्रेम छलकता रहा है। विरोधी को विनोद-पूर्वक विजय करना—यह सन्तों की पद्धति रही है। गांधीजी ने इसी पद्धति को शासन-पद्धति के साथ भी जोड़ा। यति और भूपति के अन्तर को मिटाकर उन्होंने जीवन में यह दिखाया कि वस्तुतः यति ही भूपति बन सकता है। यह संत-पद्धति

ही राष्ट्र की जीवन-पद्धति बन सकती है।

मैं गांधीजी का एक संस्मरण पढ़ रहा था। उन्होंने लिखा है कि मेरा एक प्रशंसक है और एक आलोचक भी है। आलोचक मेरी बुराई करता है, प्रशंसक उसे सहन नहीं कर पाता। वह उसके प्रतिकार में संघर्ष करने पर उतारू हो जाता है, वह भिड़ पड़ता है और वातावरण में अशान्ति पैदा करता है। इस प्रसंग में मुझसे कोई यह पूछे कि— मैं इन दोनों में से पुष्प-माला पहनाऊं तो किसको पहनाऊं? आलोचक को पहनाना यह एक सामान्य जन-व्यवहार के विपरीत बात होगी। किन्तु प्रशंसक को भी कैसे पहनाई जा सकती है? जो मेरी प्रशंसा के लिए सिद्धान्त को छोड़ बैठता है, वह मेरा प्रशंसक कहां रहा? मैंने कहा है, 'आलोचक के प्रति भी प्रेम रखना चाहिए, कोई निन्दा का जहर उगलता है तब भी तुम बदले में सद्भाव का अमृत ही बरसाओ।' मेरा यह सिद्धान्त है और जो मेरे इस सिद्धान्त का पालन नहीं करता, वह मेरा अनुयायी नहीं, उसे कैसे माला पहना सकता हूं? प्रशंसक होकर भी मेरा अनुयायी कहां रहा? अब यदि तुम कहो कि माला पहनानी ही है, तो मैं आलोचक को ही माला पहनाऊंगा, क्योंकि मुझे आलोचक से भी घृणा नहीं, मैं उसे प्रेम ही करता हूं।

मैंने यह पढ़ा तो लगा कि यह कौन बोल रहे हैं? गांधीजी या महावीर? गांधीजी या बुद्ध? जीवन की इस महान् ऊंचाई पर भगवान महावीर और तथागत बुद्ध की वाणी का नाद मुखरित हो रहा है कि नहीं? व्यक्ति तो एक माध्यम होता है। जो अखण्ड और अनन्त सत्य की प्रतिध्वनि है, वह कभी किसी भी माध्यम से ध्वनित हो सकती है। गांधी और महावीर में, गांधी और बुद्ध में सत्य की इस अखण्डतानुभूति का, ऐक्यानुभूति का दर्शन किया जा सकता है।

मैंने यह देखा है कि गांधीजी के जीवन में सत्य की अखण्ड निष्ठा झलक रही है। उनका जीवन-दर्शन सत्य की प्रतिध्वनि था। जीवन के बाहर-भीतर के द्वैध को तोड़कर उन्होंने जीवन में एकरूपता का आदर्श उपस्थित किया है।

मनुष्य स्वभावतः अलग-अलग खण्डों में विभक्त हो गया है। वह घर में कुछ रहता है और बाहर में कुछ। भगवान के सामने कुछ और रहता है और शैतान के सामने कुछ और। अलग-अलग मुखौटे लगाने की उसकी आदत हो गई है। कभी प्रेम का मुखौटा लगाकर भक्त बन जाता है तो कभी घृणा का मुखौटा लगाकर शैतान।

एक बहन जो बड़ी सुशील और प्रतिष्ठित घर की है, एक बार अपने पति की शिकायत करने लगी—"महाराज, सब लोग कहते हैं कि वह बड़े शान्त हैं, प्रेमी स्वभाव के हैं, पर पता नहीं क्या बात होती है, जब घर में आते हैं तो बड़ा विकराल रूप लिये आते हैं, घर के नौकर कांपने लग जाते हैं, बच्चे भय खाते रहते हैं, घर का वातावरण बड़ा मनहूस-सा बन जाता है। भय और आतंक छाया रहता है। बाहर का उनका शान्त रूप पता नहीं कहां गायब हो जाता है।"

मैं समझता हूं कि मनुष्य के जीवन का यह द्वैत है। मनुष्य स्वयं जैसा है, घर में उसी असली रूप में आता है। बाहर में वह मित्रों के बीच में रहता है, समाज के सामने रहता है, सभ्यता और शिष्टता के कुछ बन्धन होते हैं, अतः वहां वह अपनी असली रूप छिपाकर रहता है, प्रेम और शान्ति का मुखौटा डालकर चलता है, देवता बन जाता है। घर में इस मुखौटे को लिये कहांतक रहेगा? घर में सभ्यता और शिष्टता का लिहाज नहीं रहता। अतः वह मुखौटा उतर जाता है और मनुष्य अपने असली रूप में आ जाता है। आदमी की असलियत का पता मित्रों व समाज के बीच में नहीं लगता। घर में उसका कैसा रूप है, क्या मुखौटा है, बस उसीपर से उसकी सही पहचान होती है।

आदर्श-रहित मनुष्य पतवार-रहित जहाज के समान है।

—मो० क० गांधी

सच्चे वैष्णव जन

लक्ष्मीनारायण भारतीय

वैष्णव पंथ भागवत्, पंचरात्र, नारायण, ऐकांतिक, वासुदेव, सात्वंत आदि सम्बोधनों से पहचाना जाता है और महाभारत ने इसे 'लोक-धर्म' की संज्ञा दी है :

सप्तभिरुद्गीर्णं लोकधर्म मनुत्तयम् ।

(शान्तिपर्व ३३५-२९)

इसे लोक-प्रतिष्ठा सन्तों के कारण मिली है । भगवान के प्रति अनन्य भक्ति, वह भी माधुर्य-भाव से, इसकी विशेषता है, तथापि जाति-पाति, लिंग-भेद आदि को इसमें स्थान नहीं है, क्योंकि जहां आराधक भगवान का परम भक्त हो गया, तो भक्त की कोई जाति आदि नहीं होती । 'गीता' एवं 'भागवत' ने यही कहा है कि शूद्र, पाप योनि आदि सबकुछ छोड़कर वह परम गति को प्राप्त होता है। आचार्य वल्लभ ने तो भक्ति-मार्ग का फल 'पुरुषोत्तम' में प्रवेश को ही माना है एवं नारायण-पुरुष की इच्छा भी सर्व-भूत-मय हो जाने की ही रहती है ।

पुरुषो ह नारायणोऽकामयत अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि ।

(शतपथ ब्राह्मण २५७)

इस प्रकार भक्तमय भगवान एवं भगवान-अर्पित भक्त, ऐसा यह दोहरा रूप है, जिसने इस लोक-धर्म को जनता में व्याप्त कर दिया । वैष्णव जन से अपेक्षा रहती है कि वह सबका बने और सब उसके बनें । 'विष्णु' का अर्थ ही है 'व्यापकता' और 'विष्णु' सूक्तानुसार वह सूर्यवत् है जो सर्वत्र अपनी रश्मियां बिखेरता है । परमहंस श्री सरस्वती, गोस्वामी महाराज के अनुसार 'विष्णु' याने सत्, चित् और आनन्द का प्रतीक और 'वैष्णव जन' याने भगवान से कोई अपेक्षा किये बिना, निरासक्त होकर शुद्ध प्रेम से भगवान की आराधना करनेवाला । चूंकि "भगवान की सेवा-पूजा जीव का स्वाभाविक धर्म है, अतः हरेक जीव 'वैष्णव' है।" ऐसा ही वैष्णव निर्भय, भगवद्-अर्पित, धन-सम्पत्ति और कीर्ति की लालसा से परे, अध्यात्म-परायण एवं शुद्ध अहिंसावादी होता है । वस्तुतः वैष्णव धर्म ने अहिंसा का शंखनाद फूंका, अतः वे अपनी अहिंसा-जनित उदारता से सबको अपना लेते हैं । यह अहिंसा ही प्रेम-भाव की प्रतीक बनकर सद्गुणों का विकास करती है । इसीलिए वैष्णव जन के लिए कहा गया है कि वह रहे भी उसी स्थान पर, जहां सत्य, दया, अहिंसादि को स्थान हो ।

यत्र वेदाश्च, यज्ञाश्च, तपः सत्यं दयस्तथा
अहिंसा धर्म-संयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः
स वो देश सेवितव्यो ।

(शान्तिपर्व, ३२० अ.)

ऐसा वैष्णव सदा प्रेममय, करुणामय रहता है । इसलिए कि वह प्रभु से इसीके हेतु प्रार्थना करता है । गौरांग महाप्रभु ने कहा है :

वैष्णव ठाकुर ! हे करुणा के सागर !
मैं तुम्हारे चरण-कमलों का ही आश्रयी हूं ।
मुझ पर करुणा बरसाओ ।
तुम्हारा मैं नम्र सेवक हूं । मुझे शुद्ध करो—
अपनी शीतलतम और पवित्र छाया से ।

करुणावान् का आराधक स्वयं करुणावान् बन ही जाता है; क्योंकि उसमें भक्तिरस ही प्रधान होता है, उसके भगवान इस रस के ही देवता होते हैं :

बुद्धि ने मननी जपना ने पेले तीरे
भक्त ने ब्रह्म बदुरमे रासे :
भणे नरसैंयो रसदेवनी रस लीला
ब्रह्म लटकां करे ब्रह्म पासे !

इस प्रकार भक्ति-भावना का चरम विकास वैष्णव-धर्म का प्राण रहा है और इसलिए वैष्णव जन जहां वैयक्तिक जीवन में भगवान-मय बना रहता है, वहीं सामा-

जिक जीवन में अहिंसावादी बनता है, सबको समान दृष्टि से देखता है, शूद्रों को अध्यात्मिक सत्ता प्रदान करता है, स्त्रियों की उच्चता व अधिकार मान्य करता है। परिवार-जीवन की पवित्रता को स्वीकारता है, जाति-भेद को मिटाता है एवं लोक-जीवन के साथ लोक-भाषा के माध्यम से ओत-प्रोत हो जाता है। भक्ति में ही वह मुक्ति देखता है, प्रेम एवं माधुर्य से उस भक्ति को सजीव बना देता है, ज्ञान एवं कर्म का निषेध नहीं है, परन्तु मुख्याधार भक्ति है। हरेक व्यक्तित्व में दैवी अंश को प्रत्यक्ष रूप से इसी कारण वह पहचान पाता है। 'मानुष' एवं 'मनुष्य-धर्म' उसके लिए साधना-स्रोत बन जाते हैं।

यह वैष्णव धर्म, श्री रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के अनुसार, ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी से लेकर ईसा के अनन्तर सत्रहवीं सदी तक व्यापक और विकसित होता गया है। यह आस्तिकता पर आधारित 'सुधारवादी' धर्म है एवं एकांतिक धर्म, पंचरात्र, भागवत धर्म, सात्वतों एवं गोपालों का सम्प्रदाय, नारायणीं एवं विष्णु-सम्प्रदाय, द्वैत-विशिष्टा-द्वैत आदि के नाम-रूप-गुण धारण करके समस्त जनता को आप्लावित करता गया। शंकराचार्य के ब्रह्मवाद, वेदांतवाद से इसे कुछ धक्का लगा, परन्तु दक्षिण-उत्तर एवं पूर्व-पश्चिम के महान् संन्यासियों, तपस्वियों, साधुओं एवं सन्तों ने इसे सर्व-व्याप्त बना दिया। बीच में यह कहीं-कहीं निम्न स्तर पर भी चला गया, परन्तु राम-भक्ति शाखा ने भी उसे संभाल लिया एवं नैतिक उत्थान पर ज़ोर दिया जाना कम नहीं हुआ। जैसाकि श्री भंडारकर ने कहा है, इसकी सारी पृष्ठभूमि गीता एवं भागवत की रही है। वेदकालीन वासुदेव गीता-गायक कृष्ण के साथ मिल गया एवं गीता का आध्यात्मिक तत्त्व एवं भक्ति-मार्ग उसके प्राण-प्रेरक रहे तथा लोक-निष्ठा सातत्यपूर्ण रही।

'सिद्धान्त-मुक्तावलि' के द्वारा श्री वल्लभाचार्य ने कहा है कि सेवा ही मुख्य है, जो जगत् के दुःख दूर कराती है :

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धये तनुवित्तजा।
ततः संसार-दुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्म-बोधनम्॥

चैतन्य प्रभु तो अपनेको 'विष्णु सेवकों का दास' बताकर सेवा के साथ नम्रता को जोड़ देते हैं। ऐसा गुण-परिपोषक एवं भक्ति रसाधारित वैष्णव धर्म अगणित वैष्णव जनों की सृष्टि करे, यह उसके लोकधर्म होने का ही प्रतीकात्मक कार्य है। कृष्ण भक्ति शाखा के अंतर्गत कहीं-कहीं मर्यादा भंग एवं अतिरेक के उदाहरण मिलते हैं एवं नैतिकता का स्तर नहीं रह पाता है, परन्तु वह वैष्णव जनों का वैष्णव धर्म नहीं है। प्रकृति में से विकृति जन्म लेती है, यदि संस्कृति का प्रवाह अखंड न रहे। सौभाग्य से संत-संस्कृति सारे भारत में इतनी प्रभावशाली एवं व्यापक रही है कि आज भी उसका असर जन-मानस पर है एवं उसमें दीक्षित जन उसी भाव से भगवान् की आराधना में लगे रहते हैं। ऐसे दीक्षित जनों में कुछ व्यक्तिगत रूप में भगवत्-भक्ति में लीन होते हैं, तो कुछ सामाजिक सेवा ही भगवत्-भक्ति के रूप में अपनाते हैं एवं अपनी वैष्णवजन-संस्कारिता सार्थक करते हैं।

गांधीजी ऐसे ही वैष्णव जन रहे हैं, जिन्होंने लोकसेवा को भगवत्-भक्ति माना और जनता रूपी जनार्दन की आराधना में अपनेको लगाकर सच्चे वैष्णवजन होने की बात को प्रत्यक्ष रूप दे दिया। वैष्णवीय अहिंसा का निखरा हुआ, परिष्कृत एवं लोकपक्षीय रूप प्रकट करके गांधीजी ने यह सिद्ध किया कि युगानुसार धर्म को किस प्रकार रूप दिया जा सकता है, प्राचीनता के साथ नवीनता का कैसे सामंजस्य किया जा सकता है एवं भगवान् की सेवा-भक्ति किस प्रकार एक वैष्णवजन के नाते भी की जा सकती है। वास्तव में वैष्णव धर्म की जो सामाजिक प्रेरणा है, सामाजिक गुणों के उद्घाटन की जो मर्मग्राहिता उसमें निहित है, उनका प्रतिबिम्ब गांधीजी में उतरा है। इसीलिए आधुनिक युग के सच्चे वैष्णवजन के रूप में गांधीजी माने जा सकते हैं, भले ही पारंपरिक भक्त वैसा न मानें।

गांधीजी जन्म से वैष्णव संस्कारों में पले थे। यद्यपि 'हवेली' की कीर्ति से उन्हें उसकी तरफ खिंचाव नहीं हुआ, परन्तु अपनी आया से उन्हें रामनाम की दीक्षा जरूर मिल चुकी थी एवं गांधीजी ने अक्सर कहा है कि 'राम' या 'ओ३म् नमो बासुदेवाय' मन्त्र पर श्रद्धा रखी जाय, ताकि हर संकट में वह साथ दे। अर्थात् मन्त्र तोता-रटन के रूप में नहीं होना चाहिए। रामनाम तो, उनकी दृष्टि से, हृदय से ही प्रकट होना चाहिए, ताकि "सचाई, ईमानदारी, पवित्रता एवं शुद्धता जैसे गुण अन्तर्बाह्य रूप में" प्रकट हो सकें। हम

सब जानते हैं कि इन्हीं वैष्णव गुणों की साधना वह आजन्म करते रहे। प्रार्थना उनके जीवन में सर्वोच्च स्थान पर थी एवं जो वैष्णवभक्ति कही जाती है, वह रामभक्ति के रूप में, रामधुन के वेष में उनके अन्तर में निनादित होती रही है। अहिंसा की साधना उनके लिए त्याग और प्रेम की साधना थी, जो भगवद् प्रेम का ही प्रतीक थी। 'नैतिकता' को वह आधारभूत तत्व मानते थे एवं सारी नैतिकता का सार सत्य में देखते थे। उनकी अहिंसा 'उनसे घृणा करने वालों' पर भी प्रेम बरसाती थी। उनके लिए सामाजिक-आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक क्षेत्र ऐसे अलग-अलग नहीं थे कि एक की साधना दूसरे के विपरीत चलती हो एवं सत्य-अहिंसा-प्रेम सबमें वह प्रकट न हो सकती हो।

गांधीजी के पिता के सम्मुख रामायण पढ़ी जाती थी एवं घर में भागवत् का भी पाठ होता था। इन दोनों महा-ग्रन्थों के वचनों का असर उन पर होना अवश्यभावी था, इसीलिए उनकी वैष्णवता भगवत्परायण, सदगुण परा-यण एवं लोकपरायण बन सकी। ऐसे गीता-आधारित वैष्णवधर्म के संस्कारों में पले हुए गांधीजी गीता-भक्त न बने, तो ही आश्चर्य था, अतः उन्होंने गीता को जीवन का पाथेय माना एवं विविध रूपों में उसका दर्शन किया, खास-कर अनासक्ति-शिक्षिका के रूप में। उन्होंने आगे कहा है, "गीता के दो शब्दों ने, 'अपरिग्रह' एवं 'समभाव' ने मेरे हृदय में स्थान पा लिया था और गीता मेरे समस्त आचरण की मार्गदर्शिका बन गई। वस्तुतः वह दैनंदिन कार्य के लिए सन्दर्भ कोश ही बन गई।" असंग्रह का तत्त्व उन्होंने उसीमें से ग्रहण किया और ट्रस्टीशिप की भावना तथा विचार का दर्शन उन्होंने उसमें पाया।

इस प्रकार गीता-आधारित जीवन बिताते हुए वह गीता-प्रणीत वैष्णव धर्म का पालन समस्त जीवन में करते रहे और उसके सामाजिक पक्ष का, लोक पक्ष का उद्घाटन करते रहे। उनकी अहिंसा सामाजिक थी, अतः वह व्यक्ति स्वतं-त्रता स्वीकारते हुए भी मानव को 'सामाजिक प्राणी' ही मानते थे, इसलिए समाज-सेवा के वह अखंडव्रती बन गए थे। इस व्रत को संभालते हुए वह वैष्णवीय गुणों का अपने में विकास करते थे, समाज में भी उसकी प्रतिकामना करते थे। उनका धर्म-विश्वास जाति-पांति, नीच-ऊंच आदि नहीं मानता था एवं 'वर्ण-धर्म' के कट्टर पक्षपाती होते हुए भी वे "वर्ण-धर्म के मौजूदा राक्षसी स्वरूप का व राक्षसी रिवाजों का" सख्त विरोध करके असली धर्म के पालन का आवाहन करते थे। वर्ण-धर्म उनके लिए केवल इतने ही मानी रखता था कि मनुष्य को गुजर-बसर के लिए धर्म-निहित तथा बुजुर्गों का व्यवसाय करना चाहिए, क्योंकि इसके अभाव में समाज में अशान्ति व लोभ बढ़ जायंगे एवं इसके गम्भीर परिणाम समाज को भुगतने होंगे।

डा. राधाकृष्णन् ने उपनिषदों के तत्वावधान के प्रसंग में एक उद्धरण इस आशय का प्रकट किया है कि "नैतिक जीवन का यह लक्ष्य है कि वह अदैविक तत्त्वों का विसर्जन करता चले। पर यह उसे नष्ट भ्रष्ट करके नहीं, अपितु दैवी प्रेरणा और दैवी भावना के साथ उसका मेल करके ही किया जाना चाहिए।"

गांधीजी का सर्वोदय यहीं पर साम्यवाद से भिन्न पड़ जाता है। सर्वोदय सबका हित इसी आधार से करता है कि किसीके दुर्गुणों को सद्गुणों में परिवर्तित कर दें, न कि दुर्गुणी को ही खत्म कर दे। गांधीजी का नैतिक जीवन इसी लक्ष्य को लेकर चलता था कि लोगों के दैविक अंश का सतत आवाहन करता चले और तद्द्वारा अदैविक अंश को दैविक अंश में परिणत करे।

इस तरह उपनिषद्, गीता एवं भागवत् धर्म पर आधा-रित जिस महनीय व्यक्ति का जीवन था, वह सिवा वैष्णव जन के जीवन के और दूसरे किसका जीवन हो सकता है? वैष्णव-धर्म इन्हींसे पुष्ट हुआ है और गांधीजी का जीवन भी उन्हीं का अनुयायी रहा है। गांधीजी ने अपने व्यक्तिगत जीवन में तथा सामाजिक जीवन में इसी धर्म का अनुसरण किया है। नरसी मेहता के "वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाणेरे" के पूर्ण प्रतीक वह थे। इस पद में उल्लिखित सभी गुणों एवं विशेषताओं की उद्भासनाएं वे अपनी सभी प्रवृत्तियों के द्वारा करना चाहते थे एवं लोक-मानस को ऊंचा उठाकर जन-जीवन को नैतिकता से अणु-प्राणित करना चाहते थे। इतिहासकार ही उनके जीवन की इन उपलब्धियों का मूल्य मापन कर सकता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सच्चे अर्थों में उन्होंने वैष्णव जन का जीवन जिया एवं सामाजिक रूप में जसकी प्रतिष्ठापना की।

गांधीजी और गीता

देवकृष्ण व्यास

गांधीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रमुख आधार गीता है। जिस प्रकार कृष्ण गीता के स्रष्टा थे उसी प्रकार गीता गांधी की स्रष्टा थी। गीता के संदेश को अपने जीवन में उतारकर ही वह एक साधारण मनुष्य से महात्मा बने। तपस्वी, अपरिग्रही और कर्मयोगी का उनका स्वरूप गीता से ही निस्सृत हुआ। गीता ने ही उन्हें परिवार की सेवा से ऊपर उठकर समाज, देश और सम्पूर्ण विश्व की, मानवता की सेवा के लिए प्रेरित किया। अत: गांधीजी को समझने के लिए आवश्यक है कि पहले गीता को समझा जाय।

गांधीजी मूलत: आध्यात्मिक पुरुष थे। उनका कहना था कि नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति मानव-विकास का मुख्य उद्देश्य है। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य स्वयं अपनी कमजोरियों और अज्ञान के कारण बुराई और अन्याय का शिकार होता है। इसलिए उन्होंने जीवन-पर्यन्त मानव-सम्बन्धों को सुधारने और प्रेम का आधार सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। उपदेशों और प्रवचनों द्वारा ही नहीं बल्कि आचरण करके उन्होंने यह पाठ पढ़ाया। उनके आचरण का आचार था—गीता। गांधीजी ने लिखा है, "मेरे लिए तो गीता आचार की एक प्रौढ़ मार्ग-दर्शिका बन गई है। वह मेरा धार्मिक कोश हो गई है। जिस तरह मैं अंग्रेजी कोश को खोलता, उसी तरह आचार-सम्बन्धी कठिनाइयों और उसकी अटपटी गुत्थियों को गीताजी के द्वारा सुलझाता। उसके अपरिग्रह, समभाव आदि शब्दों ने मुझे गिरफ्तार कर लिया। यही धुन रहने लगी कि समभाव कैसे प्राप्त करूं, कैसे उसका पालन करूं?"

साधन और साध्य की एकरूपता की जो भावना गांधीजी में स्फुरित हुई उसका स्रोत गीता ही थी। गीता के ९ वें अध्याय के २५ वें श्लोक में उपासनानुसार फल प्राप्ति के बारे में जो कुछ कहा गया है वही गांधीजी की प्रेरणा का मूल स्रोत था :

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

अर्थात्, "देवताओं का पूजन करनेवाले देवलोकों को पाते हैं, पितरों का पूजन करनेवाले पितृलोक को पाते हैं, भूत-प्रेतादि को पूजनेवाले उन लोकों को पाते हैं और मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं।"

गांधीजी के जीवन-दर्शन का मर्म यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार न्याय मिलता है। गीता के चौथे अध्याय के ११ वें श्लोक में साधक और साध्य की तदाकार परिणति पर जो प्रकाश डाला गया है, उससे प्रेरित होकर ही गांधीजी अपने जीवन को ईश्वर की आराधना का रूप मानते थे :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

अर्थात्, "जो जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते हैं, उस प्रकार मैं उन्हें फल देता हूं। चाहे जिस तरह भी हो, हे पार्थ! मनुष्य मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं—मेरे शासन में रहते हैं।"

गांधीजी कर्मयोगी थे। उनकी मान्यता थी कि सेवा के द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार हो सकता है। वह गुफाओं में या एकान्त में जाकर अध्यात्म-साधना करने के पक्ष में नहीं थे। वह कहा करते थे—"मेरे लिए मुक्ति का मार्ग तो अपने देश और मनुष्यमात्र की निरन्तर सेवा करते रहना है। मैं तो जीवमात्र से अपनी एकता कर देना चाहता हूं। गीता के शब्दों में मैं **"समः शत्रौ च मित्रे च"** मित्र और शत्रु में समदृष्टि होना चाहता हूं। अत: मेरी देशभक्ति भी अनन्त शक्ति और मुक्ति की ओर मेरी यात्रा का पड़ाव मात्र है।"

गीता कर्म-संन्यास की नहीं, कर्म-फल के त्याग की नैतिक भावना की पराकाष्ठा बताती है। इस निष्काम कर्म को ही गांधीजी गीता की शिक्षा का तत्व समझते थे और आजीवन इसका प्रचार करते रहे। वह कहते थे—"कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधनमुक्त कैसे रहे, इस समस्या को गीता ने जिस तरह हल किया है, वैसे दूसरे किसी भी धर्मग्रन्थ ने नहीं किया है।"

गीता के दूसरे अध्याय के ४८ वें श्लोक को, जिसमें आसक्ति-रहित होकर कर्म करने के लिए कहा गया है, गांधीजी ने अपने जीवन में उतार लिया था। यह श्लोक इस प्रकार है :

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

अर्थात्, "हे धनंजय! आसक्ति त्यागकर योगस्थ रहते हुए अर्थात् सफलता-निष्फलता में समान भाव रखकर तू कर्म कर। समता का ही नाम योग है।"

गांधीजी ने श्रम की प्रतिष्ठा और गरिमा बढ़ाने के लिए निरन्तर प्रयत्न किया। उन्होंने स्वयं ऐसा जीवन व्यतीत किया जिसमें शारीरिक श्रम को मुख्य स्थान था। गीता के तीसरे अध्याय के १२वें श्लोक में श्रम की महिमा इस प्रकार बताई गई है :

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

अर्थात्, "यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।"

गांधीजी के मतानुसार यहां यज्ञ का अर्थ जात-मेहनत या मजदूरी ही शोभता है।

गांधीजी अपने जीवन को सत्य की खोज की प्रयोगशाला मानते थे। सत्य ही उनका भगवान था और सत्यान्वेषण उनकी भक्ति। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है,"सत्य के सिवाय मैं किसी ईश्वर की उपासना नहीं करता। सत्य के अतिरिक्त और किसीकी सत्ता है ही कहां? सत्य ही परमेश्वर है। हमारा अस्तित्व सत्य की आराधना के ही लिए हो; हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति भी इसीके लिए हो। सत्य के लिए ही हम प्रत्येक बार श्वासोच्छ्वास लें।"

इससे पता चलता है कि गांधीजी की अध्यात्म-साधना किस प्रकार की थी। उनकी ब्रह्म-जिज्ञासा में वेदान्त का निर्गुण और भावातीत ब्रह्म तो परिलक्षित होता ही है, नारद और प्रह्लाद की भक्ति भी दिखाई पड़ती है। गीता में भी इन दो विभिन्न धाराओं का समन्वय सुन्दर ढंग से हुआ है।

गांधीजी अपने इस 'परम सत्य' की प्राप्ति के लिए अहिंसा को अनिवार्य मानते थे। उनका कहना था कि सत्य और अहिंसा का पालन किये बिना गीता की शिक्षा को व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। अपने निजी अनुभव पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है—"गीता की शिक्षा को पूर्ण रूप से अमल में लाने का ४० वर्ष तक सतत प्रयत्न करने पर मुझे तो नम्रतापूर्वक ऐसा जान पड़ा है कि सत्य और अहिंसा का पूर्ण पालन किये बिना सम्पूर्ण कर्म-फल-त्याग मनुष्य के लिए असम्भव है।"

गांधीजी से पहले भी कई महापुरुषों ने सत्य और अहिंसा की बात कही। ईसा और बुद्ध ने मानवता को सत्य और सबसे प्यार का पाठ पढ़ाया। उनके द्वारा प्रतिपादित आदर्शों ने निस्सन्देह कई पीढ़ियों को प्रभावित किया, किन्तु गांधीजी ने रचनात्मक कार्यक्रम देकर इन आदर्शों को आम आदमी तक पहुंचाने का प्रयत्न किया। गांधीजी ने बताया कि जो व्यक्ति सत्य और अहिंसा का पालन करना चाहता है उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने अहं और भय से पूर्णतः मुक्त हो। गीता के अठारहवें अध्याय में भी यही बताया गया है कि अहं और भय को त्यागनेवाला ब्रह्मस्थिति को प्राप्त कर सकता है।

गीता के गहन अध्ययन और मनन का गांधीजी पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उन्होंने देश की राजनीति को ही धर्म और अध्यात्म की ओर मोड़ दिया। उनके मतानुसार जो लोग धर्म को राजनीति से अलग बताते हैं, वे नहीं जानते कि धर्म का अर्थ क्या है। धर्म की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—"धर्म वह नहीं है जो हम संसार के तमाम धर्म-ग्रन्थों को पढ़ने से प्राप्त करते हैं। धर्म वास्तव में बुद्धि की वस्तु है ही नहीं, वह हृदय की वस्तु है।" गांधीजी के लिए धर्म और नीतिशास्त्र में कोई अन्तर नहीं था। यद्यपि वह अपनेको सनातनी हिन्दू कहते थे,

किन्तु हिन्दू धर्म के प्रति उनका लगाव कट्टरपंथी नहीं था। वह सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते थे।

गीता के प्रति गांधीजी का दृष्टिकोण बड़ा तर्कसम्मत था। वह ऐसा नहीं मानते थे कि उसमें कुछ भी लिखा है वह भगवान के मुंह से ही निकला है। उनका मत था—"गीता ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, वरन् इसमें भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर निरंतर होते रहनेवाले द्वन्द्व युद्ध का ही वर्णन है। मानुषी योद्धाओं की रचना हृदयगत युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढ़ी हुई कल्पना है।" फिर भी वह गीता को ज्ञान और आचार की दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी ग्रन्थ मानते थे।

गांधीजी को साधारण से असाधारण और मनुष्य से महात्मा बनाने का श्रेय गीता को ही है। आज जब समाज में चारों ओर नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है और सत्य, प्रेम तथा अहिंसा के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं, तब गीता ही हमारा मार्गदर्शन करके हमें सर्वनाश से बचा सकती है।

मानव का कर्तव्य

किसी जंगल में एक साधु कुटी बना कर रहते थे। बड़ा निर्जन स्थान था। साधु को जो मिल जाता, खा लेते और ध्यान-तपस्या में लीन रहते।

एक दिन रात को बड़े जोर की वर्षा हो रही थी। आसमान में काली घटाएं छाई थीं। बिजली कड़क रही थी। अपनी कुटिया का दरवाजा बन्द करके साधु अन्दर लेटे थे। अचानक द्वार पर किसी के थपथपाने की आवाज सुनाई दी। साधु ने सोचा, यह कौन हो सकता है! जब-तब वहां जंगली जानवर आ जाया करते थे, पर ऐसे तूफान में तो कोई भी आने की हिम्मत नहीं कर सकता था। वह उठे और उन्होंने दरवाजा खोला तो देखते क्या हैं, सामने पानी में सराबोर एक आदमी खड़ा है। साधु को देखते ही वह कांपती आवाज में बोला, "महाराज, मैं रास्ता भूलकर इधर आ गया हूं और मुसीबत में फंस गया हूं। बचने के लिए यहां कोई जगह नहीं है। आपकी बड़ी कृपा होगी, अगर यह रात मुझे यहां गुजार लेने दें। सबेरा होते ही चला जाऊंगा।"

साधु ने कहा, "वाह, यह तुमने खूब कही। अरे भाई, अन्दर आओ। यह कुटिया तुम्हारी ही है। इसमें एक आदमी सो सकता है, दो बैठ सकते हैं। आओ, हम दोनों आराम से बैठेंगे।"

इतना कहकर साधु बड़े प्यार से उस आदमी को भीतर ले गये और दरवाजा बन्द करके दोनों मजे में बैठ गये।

कुछ ही देर बीती होगी कि फिर किसी ने दरवाजा खटखटाया। साधु ने उठकर दरवाजा खोला। देखा, पानी में भीगा, थरथर कांपता, एक आदमी खड़ा था। उसने भी साधु से वही बात कही, जो पहले ने कही थी। अन्त में बोला, "स्वामीजी, बस कैसे ही यह रात निकल जाय। आपको थोड़ी दिक्कत तो होगी, पर जरा-सी जगह दे देंगे तो आपका बड़ा अहसान होगा।"

साधु ने कहा, "इसमें अहसान की क्या बात है, भैया! मुसीबत में एक-दूसरे की मदद करना इंसान का फर्ज है। इस कुटिया में एक आदमी के सोने की जगह है, दो बैठ सकते हैं और तीन खड़े हो सकते हैं। तीन आदमी मिल जायं, इससे बड़ा भाग्य और क्या हो सकता है! आओ, अन्दर आओ, हम तीनों जने खड़े-खड़े मौज से रात गुजारेंगे।"

नरसी मेहता कौन थे

अगरचन्द नाहटा

सोलहवीं शताब्दी, भारत के धार्मिक इतिहास का एक उल्लेखनीय समय है। उत्तर भारत में इस समय भक्ति का आन्दोलन इतना व्यापक रूप में फैला कि चारों ओर भक्ति का साम्राज्य-सा छा गया। भक्ति के विभिन्न सम्प्रदाय इससे पहले भी उत्तर भारत में फैले हुए थे, पर सोलहवीं शताब्दी में उनको जो वेग मिला, वह इससे पहले देखने को नहीं मिलता। पुरुषोत्तम कृष्ण और मर्यादापुरुष राम की भक्ति अनेक रूपों में होने लगी और कई नये भक्ति-सम्प्रदाय प्रकाश में आये। श्री रामानन्द की परम्परा में सगुण एवं निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति विकसित हुई। महाप्रभु वल्लभ ने 'पुष्टि-सम्प्रदाय' प्रवर्तित किया। महाप्रभु चैतन्य ने 'श्री गौड़ीय सम्प्रदाय' की स्थापना की। इसी तरह और भी कई सम्प्रदाय प्रवर्तित हुए जिनका आगे चलकर भारतीय लोक-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। जनसाधारण में से भी ऐसे कई भक्त आगे आये, जिनकी अमिट छाप आज भी दिखाई देती है। ऐसे व्यक्तियों में गुजरात के नरसी मेहता का प्रमुख स्थान है।

नरसी मेहता के समय के सम्बन्ध में गुजरात के विद्वानों में कुछ मतभेद है, पर सोलहवीं शताब्दी में उनके होने के सम्बन्ध में सभी एकमत हैं। पण्डित केशवराम काशीराम शास्त्री नरसी मेहता का जन्म सं० १४६६-७० में और श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी सं० १५३० के लगभग मानते हैं। नरसी मेहता की एक रचना 'हारमाला' के एक पद में उल्लखित है कि इस ग्रंथ की रचना सं० १५१२ में हुई। यदि यह ठीक है तो श्री मुंशी का मत मान्य नहीं हो सकता। श्री शास्त्री नरसी का समय सं० १४७० से १५३६ के बीच मानते हैं और यही सर्वाधिक मान्य है।

नरसी मेहता नागर ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम कृष्णदास और दादा का नाम पुरुषोत्तम था। उनकी माता का नाम दयाकुंवर और भाई का नाम मंगलजी जीवनराम या वंशीधर था। इनके चाचा पर्वतदास अच्छे भगवद्‌भक्त थे। नरसी के माता-पिता की मृत्यु इनकी बाल्यावस्था में हो गई थी। अतः इनके बड़े भाई ने ही इनका पालन-पोषण किया। नरसी आलसी और घुमक्कड़ थे। विद्याध्ययन में विशेष रुचि नहीं थी। वह साधु-सन्तों के साथ घूमते रहते थे। कहा जाता है कि ग्यारहवें वर्ष में इनकी सगाई हो गई थी, पर उनके आवारापन के कारण वह सम्बन्ध टूट गया। तदन्तर सं० १४८४ के आसपास रघुनाथराम की पुत्री माणिकबाई के साथ उनका विवाह हुआ। विवाह के बाद भी वही प्रवृत्ति रही। कमाकर खाने के लिए उन्होंने कोई कार्य नहीं किया। अतः उनकी भाभी ने ताना मारा। इसका उल्लेख नरसी ने अपनी रचना 'सांवलदास का विवाह' के प्रारम्भ में और 'हारमाला' के एक पद में किया है :

> **मरम वचन कह्यां मूजने भामीए,**
> **ते मारा मनमां रह्या वलूधी।**
> **शिवाजी आगल जए इक मनोरथ,**
> **स्तुत्य की धी दिवस सात सुधी।**

भाभी के कहे हुए मर्म वचनों से नरसी के जीवन में एक नया मोड़ उपस्थित हुआ। कहा जाता है कि नरसी ने श्री महादेव की सेवा में सात दिन का तप आरम्भ किया और शिवजी की प्रेरणा से उनका झुकाव श्रीकृष्ण की ओर हो गया। यह भी कहा जाता है कि शूलपाणि ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन भी दिया था, इसलिए नरसी ने अपने भाभी के ताने को उपकारक ही माना। इतना ही नहीं, उन्हें भगवान के दर्शन भी उन्हींकी कृपा से हुए, इसलिए भाभी को भी धन्यवाद का पात्र माना :

धन्य भाभी तुम्हें धन्य माता-पिता,
कष्ट जाणी मने दया रे कीधी।
तमारी कृपा थकी हरिहर मेटिया,
कृष्णजी एम्हारी सार लीधी ॥

महादेव की कृपा के बाद घर आकर नरसी ने अपना स्वतन्त्र घर बसाया, साधुओं का सत्संग करते हुए वह भजन में मस्त रहने लगे। इसलिए आर्थिक कमाई तो न हो सकी, पर भक्ति की कमाई खूब अच्छी कर सके।

नरसी का जन्म सौराष्ट्र के तलाजा नामक स्थान पर हुआ था, पर आगे चलकर वह जूनागढ़ में आकर बस गये। यहां वह अपने इष्टदेव दामोदरजी का नित्य दर्शन करने जाते और दमोदर कुण्ड में स्नान करते। इनकी कमाकर खाने की वृत्ति न देखकर लोग इनकी हँसी उड़ाते। एक बार भजन करने के लिए वह ढेढ़ों के निवास-स्थान पर गये, क्योंकि भक्ति-मार्ग में ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं रहता।

जाति पांति पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि को होई॥

ढेढ़वाड़े में जाने के बाद तो उच्च जाति के लोग इन्हें निम्न दृष्टि से देखने लगे और इनको कई प्रकार के कष्ट उठाने पड़े।

नरसी के जीवन के पांच प्रसंग बहुत ही प्रसिद्ध हैं :

हार हुण्डी नैं मोसालुं, विवाह नै बलि श्राद्ध।
नरसैं मेहता नैं कृपा करी ठस्या श्री दीनानाथ॥

इनमें से 'हुण्डी' और 'मोसाले' का प्रसंग तो सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि एक बार तीर्थयात्रियों ने रास्ते में रुपया साथ रखना जोखम समझकर विचार किया कि जूनागढ़ में किसी साहूकार को रुपया देकर हुण्डी ले ले तो द्वारका में रुपये मिल जायंगे। हुण्डी दे सकनेवाले साह की पूछ करने पर लोगों ने व्यंग्य से नरसी का नाम बता दिया और नरसी ने भी भगवान पर भरोसा करके द्वारका के सांवलशाह सेठ के नाम सातसौ रुपये की हुण्डी लिख दी। यात्री द्वारका पहुंचे, पर वहां जिस सांवलशाह के नाम हुण्डी लिखी थी, उसका कोई पता नहीं चला। वे निराश होकर लौटने लगे, तो भगवान भक्त की लाज रखने के लिए सेठ का रूप धारण कर यात्री के सामने उपस्थित हुए और हुण्डी के रुपये चुका दिये।

हुण्डी की तरह 'मोसाले' का प्रसंग भी प्रसिद्ध है। गुजराती मान्यता के अनुसार नरसी की पुत्री कुंवरबाई के विवाह के अवसर पर उसके सीमान्त में मोसाला (मामेंरु) भगवान ने ही भरा था। मामेंरु या मोसाले का प्रसंग सौराष्ट्र के मांगरोल या ऊना नामक स्थान में बना था, जहां नरसी की पुत्री कुंवरबाई की ससुराल थी। कहा जाता है कि मांगरोल के रणछोड़-मन्दिर के एक उत्सव पर नरसी भी उपस्थित हुए थे और रात-भर कीर्तन किया था। उस समय नरसी को प्यास लगी और पानी मांगा तो रतनबाई नामक एक स्त्री ने आकर पानी पिलाया। भक्तों का कहना है कि रतनबाई खुद भगवान ही थे। नरसी-रचित एक पद में इसका उल्लेख है :

सावण झारी रे अति रे समारी मांही नीर गंगोदक तोले।
नरसैया नै पाणी पावा नैं करण हरजी पधारया को दें॥
हरि आव्यारे नारीना वेसे रे एने कोई जूवो रे।
रतनवाई घणुं व्याकुल फरे छे तमे ल्योने महेता जलपाणी रे॥

एक बार विरोधी व्यक्तियों ने जूनागढ़ के राव मण्डलीक को इस बात के लिए उकसाया कि नरसी यदि सच्चा भक्त है तो दामोदर भगवान उन्हें स्वयं आकर हार पहना दें। राव ने नरसी को बुलाकर उसके सच्चे भक्त होने की उक्त परीक्षा देने को कहा। नरसी को भगवान का पूरा भरोसा था, इसलिए उसने भगगान की बहुत स्तुति की। अन्त में भगवान ने भक्त को परीक्षा में सफल बनाया। इसका उल्लेख स्वयं नरसी ने अपनी वाणी में इस प्रकार किया है :

दुरीजन लोक कहि, नरसिओं लंपटी,
बाधती बात राजा ए जाणी।
दुष्ट ने वच्चन मंडलिक विह्वल थमु किहि,
ल्यालो नरसिंआनि आँहाँ ताणी॥
शीघ्र सेवक नरसिंहआनि ल्याविआ,
किहि महिपाल तूनि दास करीइं।
ताहीर प्रीत्य दामोदर शूं यरू,
मागी लि हार ज्यम अहम्यो लहीइ॥
ते माटि करूँ विनती, त्रीकमा,
पालशो वरद तो काज थाशि।
भणि नरसिओं, तूं भक्त वच्छल सदा,
हठ करशो तो (मुझ) प्राण जाशि॥

दामोदर कीधी दया, मुगट सहित मुनि आप्योहार।
बाजु बंध विहिरखा आप्या, त्रिभुवन वरत्यो जे जे कार॥
राजा तूं गिहिलो थयो भ्रां, खड्ग लेइनि आप्यो संग्या।
जे वहालांश रंग भूमि रमता, ते गोपालजी आं रख्यो रंग॥

इसी तरह 'सामलदास के विवाह का प्रसंग' भी नरसी मेहता ने स्वयं लिखा है। भगवान ने विवाह की सामग्री किस प्रकार जुटाकर भक्त की सहायता की, इसका उसमें वर्णन है। हार के प्रसंग में एक और चमत्कारिक उल्लेख मिलता है कि केदारा राग को नरसी ने परिस्थितिवश किसी सेठ के यहां गिरवी रख दिया था। इसके गाये बिना भगवान प्रकट नहीं हुए। अतः जब नरसी ने प्रकट रूप से हार पहनाने के लिए बहुत जोर दिया तो भगवान ने स्वयं सेठ के यहां से केदारा राग को छुड़ाया। नरसी को जब उसके छुड़ाने का प्रमाण-पत्र प्रभु द्वारा मिला तब नरसी ने बहुत ही प्रसन्नता से केदारा राग में भगवान की स्तुति की और उनको हार पहनाया।

भक्त के साथ-साथ नरसी उच्च कोटि के कवि भी थे। उनकी अनेक रचनाओं का उल्लेख गुजराती साहित्य के इतिहास में मिलता है। 'गुजराती हाथ प्रतोनी संकलित यादी' नामक ग्रन्थ में नरसी रचित २७ रचनाओं का उल्लेख है। डा० जगदीश गुप्त ने नरसी की १६ रचनाओं का उल्लेख करते हुए १४ रचनाओं का विवरण अपने 'गुजराती व ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक शोधप्रबन्ध में दिया है और लिखा है कि "विषय और वस्तु की दृष्टि से नरसी की रचनाएं दो प्रकार की प्राप्त होती हैं। एक प्रकार की कृतियां वे हैं, जिनमें उन्होंने अपने जीवन की किसी अलौकिक घटना का वर्णन किया है और दूसरी वे जो पूर्णतया कृष्ण को आलम्बन मानकर लिखी गई हैं।" इस प्रकार नरसी की रचनाओं को निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है :

प्रथम प्रकार की रचनाएं—१. सामलदासनो विवाह, २. हारमाला।

द्वितीय प्रकार की रचनाएं—१. सरतसंग्राम, २. गोविंदगमन, ३. चातुरी छत्रीसी, ४. चातुरी षोडशी, ५. दानलीला, ६. सुदामाचरित, ७. राससहस्रपदी, ८. शृंगारमाला, ९. बाललीला। इन नौ रचनाओं के अतिरिक्त कुछ प्रकीर्णक पद हैं, जिनकी संख्या विषय के अनुसार इस प्रकार है—१०. हींडोलवां पदो, ११. भक्तिज्ञाननां पदो, १२. कृष्ण जन्मसमैनां पदो, १३. कृष्णजन्म-बधाईनां पदो, १४. वसन्तनां पदो। इसके अलावा कको, गायगी मांगणी, द्रौपदी बेनु कीर्तन, पाण्डव जुगटानुपद, बारहमासा, बारेमासा रामदेव, मधुकरणा बारे मासा मामेरू, मोती नु खेती, रास के पद, विष्णुपद ससियार, सत्य मानानुरूसणू, सासवण नी समस्या, हुण्डी आदि से सम्बन्धित अन्य अनेक फुटकर पद भी मिलते हैं।

नीचे हम नरसी के कतिपय पदों को पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहे हैं, जिससे उन्हें ज्ञात हो जाय कि नरसी के पदों में दर्शन और भक्ति का कितना सुन्दर समन्वय है। 'वैष्णव जन तो तेने कहीए' तो पाठक अन्यत्र पढ़ चुके हैं। अन्य पद पढ़िये :

(१)

वैष्णव जन ने विषय थी टलवुं, हलवुं मांही थी मन रे।
इंद्रिय कोई अपवाद करे नहिं, तेने कहिए वैष्णव जन रे॥
कृष्ण-कृष्ण कहेतां कंठज सूके, तो ये न मूके निज नाम रे।
श्वा श्वासे समरे श्रीहरि, मन न व्यापे काम रे॥
अंतरवृत्ति अखण्ड राखे हरिशुं, धरे कृष्णनुं ध्यान रे।
व्रजसवासीनी लीला उपासे, बीजुं सुणे नहिं कान रे॥
जगशुं तोड़े ने जोड़े प्रभु शुं, जगशुं जोड़े प्रभु शुं गुटी रे।
तेने कोई वैष्णव नव कहे शो, जमड़ा लेई जाशे फूटी रे॥
कृष्ण बिना कांई अन्य न देखे, जेनी वृत्ति छे कृष्णाकार रे।
वैष्णव कहावे ने विषय न जावे, तेने वार वार धिक्कारे रे॥
वैष्णव ने तो वल्लभ लाग शे, कुडिया ने लागशे काचुं रे।
नरसयाचा स्वामी ने लंपट नहिं, गमे शोभशे सांचु रे॥

(२)

वैष्णवजन ने विरोध न कोई शुं,जेनां कृष्णचरणे चित्त रह्यां रे।
कावादावा सर्वे काढ्या, शत्रु हता ते मित्र थया रे॥
कृष्ण उपासी ने जगथी उदासी, फाँसी ते जमनी कापी रे।
स्थावर जंगम ठाम न ठालो, सघले देखे कृष्ण व्यापी रे॥
काम क्रोध व्यापे नहिं क्यारे, त्रिविधि ताप जेना टलिया रे।
ते वैष्णवनां दर्शन करीए, जेना ज्ञाने ते वासनिक गलिया रे॥
निःस्पृही ने निर्मल मति वली, कनक कायिनी ना त्यागी रे।
श्री मुख वचनो श्रवणे सुणतां, ते वैष्णव बड़भागी रे॥

एवा मले तो भव दुःख टले, जेना सुधा समान वचन रे।
नरसैंयाचा स्वामी ने निशदिन वहालर, एवा ते वैष्णव जन रे

(३)

अखिल ब्रह्मण्डमां अेक तुं श्रीहरि,
जूजवे रूपे अनन्त भासे।
देहमां देव तुं तेजमां तत्त्व तुं,
शून्यमां शब्द थई वेद वासे ।। टेक
पवन तुं पाणी तुं, भूमि तुं भूधरा,
वृक्ष थई फूली रह्यो आकाश।
विविध रचना करी, अनेक कस लेवा ने,
शिव थकी जीव थयो अेज आशे ।। अ०
वेद तोअेम वदे, श्रुति स्मृति शाख दे,
कनक कुण्डल विशे भेद न होये।
घाट घड़िया पछी, नाम रूप जूजवां,
अन्ते तो हेमनुं हेम होये ।। अ०
ग्रंथ गड़बड़ करी, बात न करी खरी,
जेहने जे गमे तेने पूजे।
मन क्रम वचन थी, आप मानी लहे,
सत्य छे अेज मन अेम सूजे ।। अ०
वृक्षमां बीज तुं, बीजमां वृक्ष तुं,
जोउं पटंतरो, अेज पासे।
भणे नरसैंयो अे, मन तणी शोधना,
प्रीति करूँ प्रेम थी प्रकट थाशे ।। अ०

(४)

[देवा] आद्य तुं, अन्त्यं तुं त्रिकमा,
अेक तुं अेक तुं अेक पोते।
अखिलचो ब्रह्म ब्रह्मादि नव लहे,
भूरचा मानवी अन्य गोते ।। देवा०
रवि-शशि कोटि नख चंद्रकामां वसे,
दृष्टि पहोंचे नहीं खोज खोले।
अर्क उद्योत ज्यम तिमिर भासे नहि,
नेति-नेति कही निगम डोले ।। देवा०
कोटि ब्रह्मांडना ईश धरणीधरा,
कोटि ब्रह्मांड अेक रोम जेनुं।
मर्म समज्या बिन मर्म भागे नहि,
सगुण स्वरूप निर्गुण अेनुं ।। देवा०
अे नथी अेकलो विश्व थी वेगलो,
सर्व व्यापिक छे शक्ति स्तुत्य जेनी।
अखिल शिव आद्य आनंदमय कृष्णजी,
सुन्दरी राधिका भक्ति तेनी ।। देवा०
वेदनी वातनो भेद लाद्ये नहीं,
तेनुं हारद ते कोक जाणे।
शिव सनकादिक देवमुनि नारद,
पूरण ब्रह्मनुं ध्यान आणे ।। देवा०
ते पूर्ण पुरुषोत्तम प्रेम दाशुं रमे,
भावेशुं भामनी अंक लीधो।
जे इस व्रज तणी नार विलसे सदा,
सखी रूपे ते नरसैंये पीछो ।। देवा०

इन पदों से स्पष्ट है कि नरसी की भक्ति की भूमिका बहुत उच्चकोटि तक पहुंच गई थी। भक्ति का प्रारम्भ भगवान या आराध्य के प्रति प्रेम या अनुराग से होता है। फिर उन्हींके आश्रय में भक्त उन्हींको अर्पण कर देता है। उनके लिए भगवान ही एकमात्र सहारा है। नरसी ने इस बीच की स्थिति का भी अनुभव किया था और उसकी चरमस्थिति पर पहुंच गये थे।

ईश्वर कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो दूर कहीं बादलों में रहती हो। ईश्वर हमारे भीतर रहनेवाली अदृश्य शक्ति है और पलकें आंखों के जितनी निकट है, उनसे वह हमारे ज्यादा निकट है।

—मो. क. गांधी

बापू की मानवता

बनारसीदास चतुर्वेदी

६ अक्तूबर १९३६। वह मेरे जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना थी। मेरे अनुज रामनारायण चतुर्वेदी का देहान्त कुल जमा २८ वर्ष की उम्र में ही कलकत्ता में हो गया था। पूज्य पिताजी, जो उस समय अस्सी वर्ष से ऊपर के थे, जीवित थे! वह मर्द आदमी थे और उस वज्रपात को उन्होंने बड़े धैर्यपूर्वक सहा, पर उस आकस्मिक विपत्ति ने मुझे तो झकझोर ही दिया और उस दिन की याद कर अब भी कंपकंपी आ जाती है! उसके परिणामस्वरूप मेरे दाहिने हाथ में कम्पन भी शुरू हो गया था। पत्रों में इस दुर्घटना का वृत्तान्त छपने पर सहानुभूति के बीसियों तार और पत्र मेरे पास आये, उनमें एक पत्र महात्मा गांधी का भी था। मैंने महात्माजी को इस विपत्ति की सूचना भेजना मुनासिब नहीं समझा था। फिर भी उन्होंने श्री प्रभुदयाल विद्यार्थी से उसे सुनकर मेरे पास एक पत्र भेजा: 'भाई बनारसीदास, प्रभुदयाल ने तुम्हारे भाई के देहान्त की खबर दी। तुम्हारे में ज्ञान है, इसलिए आश्वासन की आवश्यकता कम है। जो रास्ते रामनारायण गये, वही रास्ते हम सबको जाना होगा। समय का ही फरक है। उसमें शोक क्या? लेकिन हां, प्रेमियों की मृत्यु से हमारी जिम्मेदारी बढ़ती है और तुम्हारी तो बहुत ही बढ़ गई। ईश्वर ही ऐसे मौके पर सच्चा मददगार है। वही तुमको मार्ग बतायेगा।

सेवाग्राम, वर्धा — बापू के आशीर्वाद

१९-१०-३६

निस्सन्देह इस पत्र से मेरे पूज्य पिताजी को और मुझे भी बड़ी सान्त्वना मिली। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि महात्माजी सदैव ऐसे पत्र अपने हाथ से ही लिखते थे। महात्माजी की मानवता का यह एक उत्कृष्ट दृष्टान्त

विश्व-विख्यात कलाकार स्टीफन ज़्विग ने एक जगह लिखा था—"प्रत्येक मनुष्य के जीवन की कोई दुर्घटना उसके लिए तो सबसे ज्यादा कष्टप्रद होती है और दुख के कण से मनुष्य जो कुछ सीख सकता है वह उसे दुनियाभर की फिलासफी नहीं सिखा सकती।"

महात्माजी का वह वाक्य "जो रास्ते भाई रामनारायण गये, वही रास्ते हम सभीको जाना होगा, केवल समय का ही फरक है।" अब भी मेरे कानों में गूंज रहा है।

महात्माजी यदि चाहते तो सहानुभूति का तार भिजवा सकते थे। पर उसके बजाय उन्होंने अपने हाथ से ही पत्र लिखना उचित समझा। आज वह पत्र मेरे पास तो सुरक्षित है ही, उसकी फोटोस्टेट कापी गान्धी स्मारक संग्रहालय में भी विद्यमान है और रूस में टाल्स्टाय के यास्नाया पोलियाना संग्रहालय में भी! न जाने महात्माजी ने इस प्रकार की कितनी चिट्ठियां लिखी होंगी।

अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी महात्माजी अपने मानवीय कर्तव्यों को कभी नहीं भूलते थे। श्री घनश्यामदासजी बिड़ला ने अपने एक लेख में जो 'जीवन साहित्य' में छपा था, एक घटना इस प्रकार लिखी है:

"बहुत वर्षों की बात है। करीब २२ साल होगये। जाड़े का मौसम था, कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। गांधीजी दिल्ली आये थे। उनकी गाड़ी सुबह चार बजे स्टेशन पर पहुंची। मैं उन्हें लेने गया। पता चला कि एक घंटे बाद ही जानेवाली गाड़ी से वह अहमदाबाद जा रहे हैं। उनके गाड़ी से उतरते ही मैंने पूछा—एक दिन ठहरकर नहीं जा सकते? उन्होंने कहा—"क्यों? मुझे जाना आवश्यक है।" मैं निराश हो गया। उन्होंने फिर पूछा—क्यों? मैंने कहा—घर में कोई बीमार है, मृत्युशैया पर है। आपके दर्शन करना चाहती है। गांधीजी ने कहा—

मैं अभी चलूंगा। मैंने कहा—मैं इस जाड़े में ले जाकर आपको कष्ट नहीं दे सकता। उन दिनों मोटरें भी खुली होती थीं! जाड़ा और ऊपर से ज़ोर की हवा, पर उनके आग्रह के बाद मैं लाचार हो गया। मैं उन्हें ले गया। दिल्ली से कोई १५ मील की दूरी पर। वहां उन्होंने रोगी से बात कर उन्हें सान्त्वना दे दिल्ली केन्टनमेन्ट पर अपनी गाड़ी पकड़ी। मुझे आश्चर्य हुआ कि इतना बड़ा व्यक्ति मेरी ज़रा-सी प्रार्थना पर सुबह के कड़ाके के जाड़े में इतना परिश्रम कर सकता है और कष्ट उठा सकता है—पर यह उनकी आत्मीयता थी, जो लोगों को पानी कर देती थी। मृत्युशैय्या पर सोनेवाली यह मेरी धर्मपत्नी थीं।"

साबरमती-आश्रम की एक बात मुझे याद आ रही है। बारडोली का सत्याग्रह होनेवाला था और देशभर में बिजली जैसा वातावरण फैला हुआ था। बापू उन दिनों काफी चिन्तित थे, फिर भी वह एक बुनकर को देखने के लिये गए, जिसके हाथ में कुछ चोट आ गई थी। महात्माजी के लिए छोटे-बड़े का कोई सवाल नहीं था। उनके लिए मनुष्यता ही सर्वोपरि थी।

सार्वजनिक कार्यों में लगे रहने पर महात्माजी अपने छोटे-से-छोटे कार्यकर्ता के सुख-दुःख की बात नहीं भूलते थे। एक अन्य घटना पढ़ लीजिये :

फिजी से लौटे हुए पं० तोताराम सनाढ्य की पत्नी गंगादेवी बीमार थीं और बापू उनका इलाज कर रहे थे। पं० तोतारामजी ने मुझे लिखा था : "गंगादेवी बीमार थीं। दिन में सांझ को ७ बजे बापू देखने आये, कुछ इलाज में फेरफार करने की सूचना मुझे देनी थी। मौनवार था, पर भूल गये। जब सोये तब रात में याद आई। उस समय रात के २ बजकर ५ मिनट हुए थे। उसी समय यह सूचना की चिट्ठी एक बहन के हाथ रात में मेरे पास भेजी थी। तोताराम"

बापू का पत्र

"जुलाव की कोई जरूरत नहीं है। आज भी दूध देना नहीं चाहता हूं। नारंगी का और द्राक्ष का रस लेती रहें, पानी पी सकें इतना पीवें। कटि-स्नान लेवें और बरफ का मालिश भी करें। नाक में नमक और सोड़ा का पानी भी लेवें और पेट पर आज भी दिन में मट्टी की पोल्टिस लगावें और आज ही चार ग्रेन कुनैन नीबू और सोडा में दे दो।
सोमवार, ३०-४-२८
२ बजे पांच मिनट —बापू

श्री साने गुरुजी ने एक जगह लिखा था :

"यह घटना चम्पारन की है। किसानों का सत्याग्रह चल रहा था। महात्माजी के सत्याग्रह में सभी भाग ले सकते थे। चम्पारन की उस सत्याग्रही सेना में कुष्ठ रोग से पीड़ित एक खेतिहर मजदूर भी था। वह पैरों में चिथड़ा लपेटकर चलता था। उसके घाव खुल गये थे, पैर खूब सूजे हुए थे। असह्य वेदना हो रही थी। लेकिन आत्म-शक्ति के बल पर वह महायोद्धा सत्याग्रही बना था।

"एक दिन शाम को सत्याग्रही योद्धा अपनी छावनी पर लौट रहे थे। उस महारोगी सत्याग्रही के पैरों के चिथड़े रास्ते में गिर पड़े। उससे चला नहीं जा रहा था। घावों में खून बह रहा था। दूसरे सत्याग्रही तेजी से आगे बढ़ गये। महात्माजी सबसे आगे रहते थे। वह बड़े तेज चलते थे। पीछे छूट जानेवाले उस महारोगी सत्याग्रही का ध्यान किसीको नहीं रहा।

"आश्रम पहुंचने पर प्रार्थना का समय हुआ। बापू के चारों ओर सत्याग्रही बैठे। लेकिन बापू को वह महारोगी दिखाई नहीं पड़ा। उन्होंने पूछताछ की। अन्त में किसीने कहा, वह जल्दी चल नहीं सकता था। थक जाने से वह पेड़ के नीचे बैठा था।

"गांधीजी एक शब्द भी न बोलकर उठे। हाथ में बत्ती लेकर उसे खोजने बाहर निकल पड़े। वह महारोगी राम नाम लेते हुए एक पेड़ के नीचे परेशान बैठा था। बापू के हाथ की बत्ती दीखते ही उसके चेहरे पर आशा फूट पड़ी। भरे गले से उसने पुकारा—'बापू'।

"गांधीजी कहने लगे, 'अरे तुमसे चला नहीं गया तो मुझसे कहना नहीं चाहिए था?' उसके खून से सने पैरों की ओर उनका ध्यान गया। गांधीजी ने चादर फाड़कर उसके पैर को लपेट दिया। उसे सहारा देकर धीरे-धीरे आश्रम में उसके कमरे में ले आये। बाद में उसके पैर ठीक तरह से धोये। प्रेम से उसे अपने पास बैठाया। भजन शुरू हुआ। प्रार्थना हुई। वह महारोगी भी भक्ति और प्रेम से ताली बजा रहा था। उसकी आंखें डबडबा रही थीं।"

छोटी-छोटी बातों पर भी महात्माजी बहुत ध्यान देते थे। जब महादेवभाई रेल में उनके साथ यात्रा करते थे तो किसी जंकशन-स्टेशन पर गाड़ी खड़ी होने पर बापू उनके जगने से पहले ही गरम चाय लेकर रख लेते थे।

सन् १९२२ के दिनों में बापू ने रामदासभाई को अंग्रेजी पढ़ाने का कार्य अपने जिम्मे ले लिया था, यद्यपि उनके पास समय का अत्यन्त अभाव था, बा को तो वह समय-समय पर पढ़ाते ही थे।

महात्माजी का कोई भी काम प्रदर्शन के लिए नहीं होता था, किसी सद्गृहस्थ के प्रति उनके हृदय में उतना ही सम्मान था, जितना किसी बड़े-से-बड़े राजनैतिक नेता के प्रति हो सकता है।

एक जगह अमरीकी ऋषि एमर्सन ने लिखा है :

"मैं उस आदमी की इज्जत करता हूं, जिसकी आकांक्षा न तो राज्य में और न किसी फौज में सम्मान पाने की है। जो न तो न्यायशास्त्री बनना चाहता है, न प्राकृतिक विज्ञानाचार्य, न कवि और न सेनापति, बल्कि जिसकी एक मात्र आकांक्षा यही है कि वह ठीक तौर से रहने की कला का आचार्य बने और फिर उसे चाहे मालिक का काम करना पड़े या नौकर का या पति, पिता या मित्र का और वह अपने इन भिन्न-भिन्न कर्तव्यों को भली भांति निभा सके।"

एमर्सन की इस तराजू पर भी महात्माजी खरे उतरते थे।

महात्माजी में दम्भ का नामोनिशान नहीं था। यद्यपि उन्होंने अपने जीवन में प्रभु ईसामसीह के करुणा के संदेश को, भगवान् गौतम बुद्ध की विश्लेषणात्मक बुद्धि को और भगवान् श्रीकृष्ण के कर्मयोग को चरितार्थ करने का भरपूर प्रयत्न किया था और कितने ही लोग उन्हें अवतार भी मानने लगे थे, पर महात्माजी इस प्रकार की प्रशंसाओं को सर्वथा निराधार और उपेक्षणीय ही मानते थे। महात्माजी ने एक बार लिखा भी था :

"लोग मेरी तारीफों के पुल बांधते हैं, पर वे यह नहीं जानते कि दिन में मेरा कितना पतन होता है।"

महात्माजी अपनेको साधारण मनुष्य ही मानते थे और मामूली-से-मामूली आदमी के दुखों में हिस्सा बंटाना वह अपना कर्तव्य समझते थे। महात्माजी का अन्तिम पत्र, जो अपनी शहादत के एक दिन पहले लिखा गया था, संवेदना-सूचक ही था। उसे यहां उद्धृत किया जाता है :
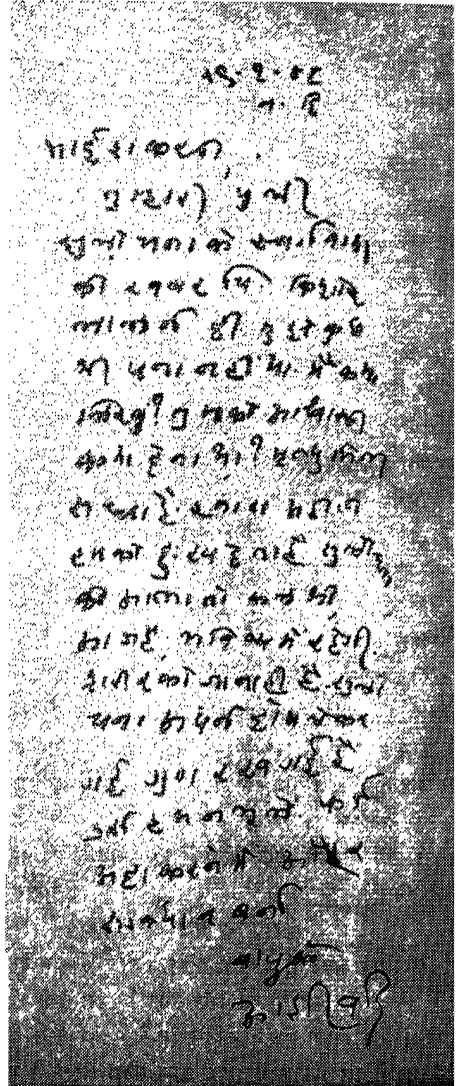
प्रार्थना का अर्थ

मो० क० गांधी

प्रार्थना का अर्थ पूछा आपने
और उसकी जरूरत पूछी—
मुझे अच्छा लगा यह,
प्रश्न मन में आपके अच्छा जगा यह,
क्योंकि मैं तो प्रार्थना को
धर्म का आनन्द सुख और सार
सबकुछ मानता हूं
पहचानता हूं मैं कि यदि इस तत्त्व को
हम मर्म जीवन का बना लें

तो विषम कोई परिस्थिति
कर न पाये हमें विचलित
और आये भी कभी दुख एक पल को
छोड़कर जाये हमें बलवान पहले से।

लोग अपनी बुद्धि को निर्भ्रम समझकर
कभी ऐसा कह दिया करते हैं—
जीवन का भला भगवान से संबंध क्या ?
धर्म का हमसे नहीं है वास्ता कुछ !

बात कुछ ऐसी हुई यह,
जिस तरह कोई कहे—
मैं सांस लेता हूं मगर
इस सांस का संबंध क्या है
नाक से या फेफड़े से !

बुद्धि कहिए उसे,
कहिए एक सहज प्रवृत्ति
हम जाने-अजाने
दिव्य कोई तत्त्व ऐसा मानते हैं,
जो हमें आधार देता है, चलाता है,
कभी करता है नियंत्रित गति हमारी,
कभी देता है दिशा मानो अंधेरे में
परम नास्तिक भी किसी सिद्धांत का हामी
हुआ करता है ऐसा दृढ़
कि उसको घना सुख मिलता है उसके अनुसरण में
और यह जो सुख उसे मिलता है
अपने सत्य के अनुसार चलने में निरन्तर
तत्त्व उसमें मात्र भौतिक ही नहीं होता।

नास्तिक का भी
परम आनन्द आखिर मानसिक है
और भी सोचें तो मन से परे का है,
आत्मिक है;
आत्मिक सुख अंततोगत्वा
सभीको चाहिए
और मैं इसलिए कहता हूं कि जो
भगवान में विश्वास के कायल नहीं हैं
धर्म वे भी मानते हैं,
धर्म माने बिना जीना
नासिका के बिना जैसे हवा पीना !

और अब मैं दूसरी एक बात कहता हूं
प्रार्थना है सार जैसे धर्म का,
वह जिन्दगी का भी हमारी मर्म है
प्रार्थना में कभी हम कुछ मांगते हैं,
या कि फिर हम लौ लगाते हैं
कभी परमात्मा से।

मांगना भी असल में
लौ लगाना है
याचना भी करें हम तो करें अपनी शुद्धि ही
घन अंधेरे के पड़े हैं आवरण जो,

या चकाचौंधें अड़ी हैं बीच में जो,
आत्मा परमात्मा के
सत्य को जो सामने होने नहीं देता
उन्हींको हटाने के लिए प्रभु से लौ लगायें—
हम जगायें तत्त्व-चिन्तन से
जिसे मूर्च्छित किया है मोह ने या दंभ ने
या द्वेष ने या क्रोध ने
और थोड़े में कहें तो अहं ने जिसको
नहीं जगने दिया है।

जो तड़पता हो जगाने के लिए इस दिव्य लौ को
उसे फूंकना चाहिए प्रभु के चरण में प्रार्थना-रत,
किन्तु करना प्रार्थना
व्यायाम कानों का नहीं है,
जीभ भर नाम रटना भी नहीं है
प्रार्थना का अर्थ कोई।

रामनाम सहस्र जपिए
लक्ष जपिए मंत्र गायत्री
अगर उससे नहीं मन शुद्ध होता,
हृदय की हलचल नहीं रुकती,
नहीं थमता विचारों के प्रबल प्रचण्ड लौध का
गिरना बड़प्पन के अचल ऊंचे शिखर से
या नहीं हम भूलते हैं भान
अपनी दीनता का,
याद आते हैं हमें

प्रभु चरण में बैठे हुए भी
कष्ट अपने नित्य के,
जो आत्मा के नहीं केवल देह के हैं,
तो हमारी प्रार्थना में बल नहीं आया समझिए,
व्यर्थ है वह प्रार्थना आचार केवल ऊपरी है।

हृदय जिनमें ओतप्रोत हुआ नहीं है
शब्द वे निःशब्द हो जायें
हृदय में हो विकलता
और हार्दिक प्रार्थना में
आत्मा फिर लीन हो जाये
झरे आनन्द का झरना,

विचरना बंद हो जाये विचारों का निरर्थक।
कभी क्षण ऐसे मिलेंगे
और फिर अनुभव-कमल ऐसे खिलेंगे
एक क्षण भी प्रार्थना के बिना रहना
असंभव लगने लगेगा।

आप कह सकते हैं सुनकर यह
कि तब तो हमें जीवन में प्रतिक्षण
प्रार्थना में लगे रहना चाहिए
है यही आदर्श सचमुच किन्तु
मोहों से घिरे हम
एक क्षण भी यदि किसी दिन
नियत अपनी प्रार्थना की घड़ी में
तम या किरण के आवरण से मुक्त होकर
ज्योति पालें
तो प्रतिक्षण निरत रहकर काम में हम दूसरों के
प्रार्थना ही कर रहे हैं!

और फिर भी सूर्य
जैसे नियम के अनुसार
आता और जाता है,
प्रार्थना के नियत क्षण में
नित्य सेवा से विरत
प्रभु के चरण में लीन हों हम
काम अपने प्रार्थना से ही शुरू हों
और उनका विलय भी हो प्रार्थना में।

रूप क्या हो प्रार्थना का यह अवान्तर,
आप चुप हैं
या कि कोई मंत्र मुंह से बोलते हैं
यह नहीं है मुख्य—
मन की शांति, निष्ठा-भावना ही
मुख्य इसमें।
चित्त-वृत्ति-निरोध ऐसा
रात को सोयें तो जैसे
लीन हुए समाधि में हम
और खोली आंख तो
जैसे परम आनन्द में
विकसित हुए हैं।

यंग इंडिया,
३०-१-१९३०

(रूपांतर—भवानीप्रसाद मिश्र)

एक में अनेक
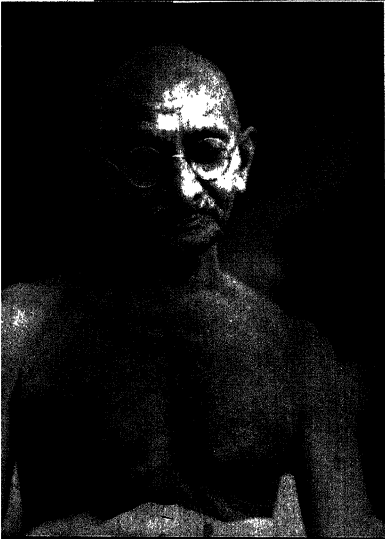
स्वतन्त्र आंदोलन के महान सूत्रधार
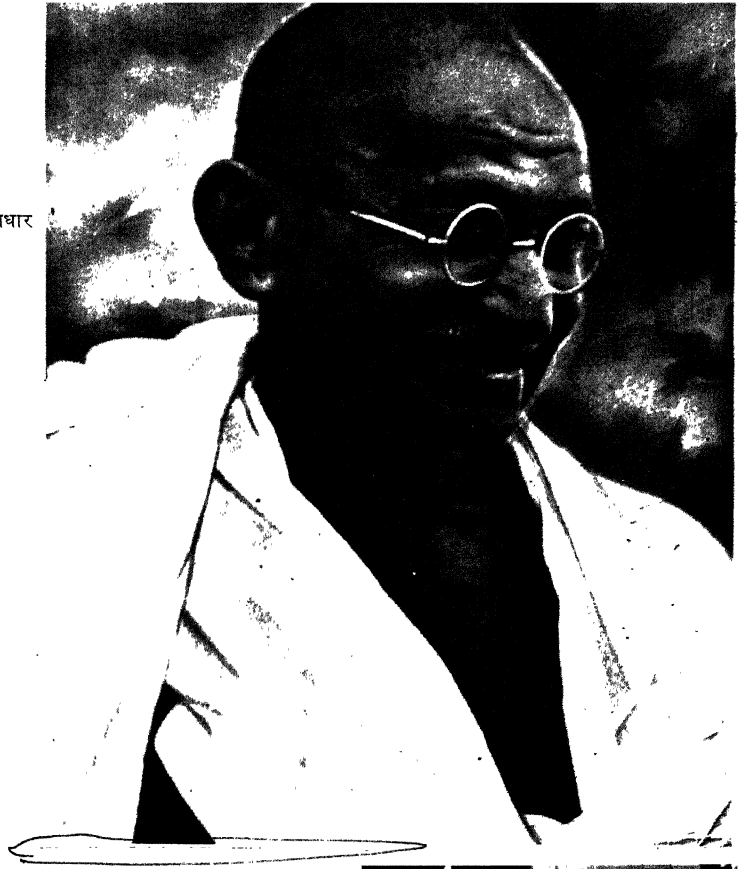
माउंटबेटन-दम्पती के साथ

सर पैथिक लॉरेंस के साथ

सर स्टैफर्ड क्रिप्स के साथ

देश स्वतन्त्र हुआ,
पर विभाजन के
साथ सांप्रदायिक
आग भड़क उठी

नोआखली के दूभर पथ पर

पीड़ितों के बीच

कांग्रेस महासभा का ऐतिहासिक बम्बई अधिवेशन जिसमें 'भारत छोड़ो' का स्वर ऊंचा हुआ।

◀ "चर्खा तो सूरज है, दूसरे उद्योग ग्रह हैं, जो सूरज के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं। अगर सूरज डूब जाय तो दूसरे ग्रह चल नहीं सकते।"

◀ "ईश्वर की पहचान सेवा से ही होगी, यह मानकर मैंने सेवाधर्म स्वीकार किया है।"

शासन ने अश्रुगैस छोड़ी

आगाखां महल में नज़रबन्द किया

विवश होकर छोड़ा
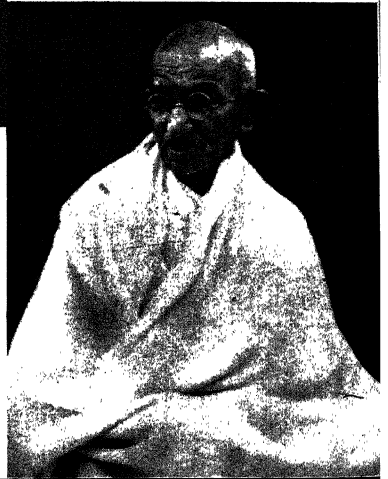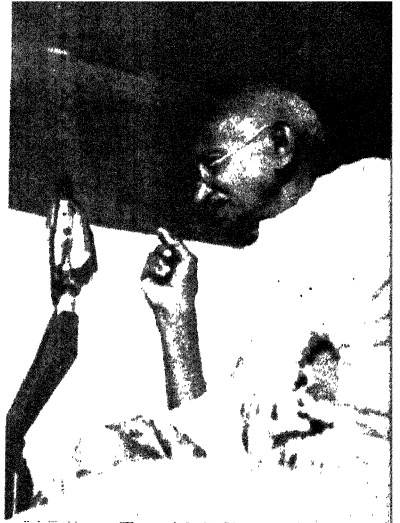
विदा

पुण्यतीर्थ राजघाट

साधना के सोपान

श्रीअरविन्द

●

जिज्ञासा तथा व्यक्तिगत पुरुषार्थ

अनुभव का विकास कितने वेग एवं विस्तार से होता है और उसके परिणाम कितने तीव्र एवं प्रभावशाली होते हैं—यह मार्ग के प्रारम्भ में और बाद में भी दीर्घकाल तक मुख्यत: साधक की अभीप्सा और उसके वैयक्तिक प्रयत्न पर ही निर्भर करता है। योग-साधना का सार है ही यह कि मानव-आत्मा वस्तुओं के बाह्य रूपों और आकर्षणों में ग्रस्त अहंभावमय चेतना से मुंह मोड़कर एक उच्चतर चेतना को अधिकृत करे जिसमें परात्पर और विराट् ईश्वर अपने-आपको व्यक्तिरूपी सांचे के अन्दर उंडेल सकें और उसे रूपांतरित कर सकें। अतएव सिद्धि का सर्वप्रथम निर्धारक तत्त्व यही है कि आत्मा उच्चतर चेतना की ओर कितनी तीव्रता से अभिमुख होती है अथवा अपनेको अन्तर्मुख करनेवाली शक्ति उसमें कितनी है। इस तीव्रता के नाप हैं—

(१) हृदय की अभीप्सा की शक्ति, (२) संकल्प का बल, (३) मन की एकाग्रता, (४) सक्रिय शक्ति का अध्यवसाय और (५) निश्चय। आदर्श साधक को बाइबल की उक्ति के अनुसार यह कहने में समर्थ होना चाहिए, "मेरे भगवत्प्राप्ति के उत्साह ने मुझे पूर्णत: ग्रस लिया है।" भगवान के लिए ऐसा उत्साह, अपनी दिव्य परिणति के लिए सम्पूर्ण प्रकृति की व्यग्रता एवं व्याकुलता और भगवान की प्राप्ति के लिए हृदय की उत्सुकता ही उसके अहं को ग्रस लेती है और इसके क्षुद्र तथा संकीर्ण सांचे की सीमाओं को तोड़ डालती है। फलत: अहं अपने ध्येय को पूर्णतया विशाल रूप में उपलब्ध करता है— उस ध्येय को, जो विश्वव्यापी होने से विशालतम तथा उच्चतम व्यष्टिगत आत्मा और प्रकृति से बना है और परात्पर होने के कारण उससे अत्यन्त उत्कृष्ट है।

कर्म, ज्ञान और भक्ति

मानव-प्रकृति और मानव-जीवन में संकल्प, ज्ञान और प्रेम तीन दिव्य शक्तियां हैं। ये उन तीन मार्गों की सूचक हैं, जिनसे मानव-आत्मा भगवान की ओर आरोहण करती है। अतएव, जैसाकि हम देख चुके हैं, इन तीनों की सम्मिलित परिपूर्णता, इन तीनों में मनुष्य का भगवान से मिलन ही पूर्ण योग की नींव है।

कर्म जीवन की प्रमुख शक्ति है। प्रकृति पहले शक्ति और उसके कर्मों को हाथ में लेती है, जो मनुष्य में सचेतन होकर इच्छाशक्ति और उसकी सफलताओं का रूप धारण कर लेते हैं। इसीलिए हम देखते हैं कि अपने कर्म को भगवान की ओर मोड़ देने पर मनुष्य का जीवन सुचारु और सुनिश्चित रूप से दिव्य बनने लगता है। यह प्रथम प्रवेश का द्वार है, दीक्षा का श्रीगणेश है। जब उसकी इच्छा भगवान की इच्छा के साथ एक हो जाती है और सत्ता का सम्पूर्ण कर्म भगवान से प्रवाहित होता है और भगवान को लक्ष्य में रखकर किया जाता है, तब 'कर्मों में मिलन' पूर्ण रूप से सम्पन्न हो जाता है। परन्तु कर्म ज्ञान में ही चरितार्थ होते हैं। गीता कहती है कि सारे-के-सारे कर्म-ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं—**'सर्वकर्माखिलं ज्ञाने परिसमाप्यते।'** इच्छाशक्ति और कर्मों में मिलन होनेपर हम उन सर्व-व्यापक चिन्मय पुरुष के साथ एकमय हो जाते हैं, जिनसे हमारी सम्पूर्ण इच्छाशक्ति और कर्म उद्भूत होते हैं और अपना बल आहरण करते हैं और जिनमें वे अपनी शक्तियों का चक्र पूरा करते हैं। इस मिलन का मुकुट है प्रेम। कारण, जिन परम पुरुष में हम रहते-सहते, चलते-फिरते और काम-काज करते हैं, जिनके आश्रय पर हमारी सत्ता स्थित है, जिनके लिए ही हम अन्त में काम करना और अस्तित्व में रहना सीखते हैं, उनके साथ सचेतन

मिलने से उत्पन्न आनन्द को ही प्रेम कहते हैं। यही है हमारी शक्तियों का त्रिक, तीनों का भगवान में संगम। जब हम कर्मों को अपने प्रवेश-पथ और अपने मिलन-मार्ग के रूप में अपनाकर अपनी यात्रा शुरू करते हैं तब हम इसी त्रिवेणी पर पहुंचते हैं।

भगवान में नित्य निवास की नींव है ज्ञान। कारण, समस्त जीवन और अस्तित्व की नींव है चेतना, और ज्ञान चेतना की एक क्रिया का ही नाम है। ज्ञान वह प्रकाश है, जिससे चेतना अपने-आपको तथा अपने तथ्यों को जानती है, वह शक्ति है, जिससे हम कर्म से प्रारम्भ करके, विचार और क्रिया के आन्तरिक परिणामों को अपनी चेतन सत्ता के दृढ़ विकास के भीतर धारण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार अन्त में हमारी सत्ता, मिलन के द्वारा, दिव्य सत्ता की अनन्तता में अपनी पूर्णता प्राप्त करती है। भगवान हमें अनेक रूपों में दर्शन देते हैं और उनमें से प्रत्येक की कुंजी है ज्ञान। फलतः ज्ञान से हम अनन्त एवं भगवान में सर्वभाव से (सर्वभावेन्) प्रवेश करते हैं तथा उन्हें अधिकृत करते हैं, उन्हें सर्वभाव से अपने अन्दर ग्रहण करते तथा उनसे अधिकृत होते हैं।

ज्ञान के बिना हम प्रकृति की शक्ति की अन्धता में ग्रस्त होकर, अन्धभाव से भगवान में निवास करते हैं। प्रकृति की शक्ति अपने कामों में व्यस्त है, पर अपने मूल स्रोत और स्वामी को भूली हुई है। इस प्रकार हम भगवान के अन्दर अदिव्य ढंग से वास करने के कारण अपनी सत्ता के सच्चे एवं पूर्ण आनन्द से वंचित रहते हैं। ज्ञान से ज्ञेय के साथ सचेतन एकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि पूर्ण और सच्चा ज्ञान तादात्म्य के आश्रय पर ही स्थित रह सकता है; ऐसे ज्ञान से भेदभाव दूर होता है और हमारी सारी संकीर्णता, विषमता, दुर्बलता तथा तृष्णा समूल नष्ट हो जाती है, परन्तु ज्ञान कर्मों के बिना पूर्ण नहीं होता; क्योंकि केवल पुरुष या उसकी आत्म-चेतना प्रशान्त सत्ता ईश्वर नहीं है, बल्कि पुरुष में निहित परम इच्छाशक्ति भी ईश्वर ही है। अतः यदि कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं तो ज्ञान भी कर्मों में चरितार्थ होता है। यहां भी प्रेम ज्ञान का मुकुट है; क्योंकि प्रेम है मिलन का आनन्द; एकत्व को अपने आनन्द का अशेष ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए मिलन के हर्ष को सचेतन होना होगा। अवश्य ही पूर्ण ज्ञान का फल होता है पूर्ण प्रेम, सर्वांग ज्ञान का फल होता है प्रेम का परिपूर्ण एवं बहुल ऐश्वर्य। गीता कहती है, "जो मुझे पुरुषोत्तम के रूप में जानता है—केवल इस रूप में नहीं कि मैं अक्षर एकत्व हूं वरन् भगवान की अनेकात्मक गति के रूप में (क्षर रूप में) भी और उस रूप में भी जो क्षर-अक्षर दोनों से उत्तम है, जिसमें दोनों दिव्य ढंग से धारित है"—"वह पूर्ण ज्ञान से युक्त होने के कारण प्रेम के द्वारा सर्वात्मना मुझे ही खोजता है, वह सर्ववित् सर्वभाव से मुझे ही भजता है।" यह है हमारी शक्तियों का त्रिक, तीनों का भगवान में संगम। जब हम ज्ञान-मार्ग से अपनी यात्रा शुरू करते हैं तब हम इसी त्रिवेणी पर पहुंचते हैं।

प्रेम समस्त सत्ता का किरीट और उसकी परिपूर्णता का पथ है; इसीसे सत्ता चरम आत्म-अन्वेषण की समस्त तीव्रता और सम्पूर्ण सम्पदा तथा आनन्दोल्लास की ओर आरोहण करती है। यद्यपि परम सत् का साक्षात् स्वरूप है चित् और चेतना से ही, अर्थात् एकात्मता में कृतार्थ होनेवाले पूर्ण ज्ञान से ही, हम उसके साथ एकाकार होते हैं, तथापि चेतना का स्वरूप ही है आनन्द और आनन्द के शिखर की कुंजी एवं रहस्य है प्रेम। इच्छा चेतन-सत्ता की एक ऐसी शक्ति है, जिससे यह अपनेको चरितार्थ करती है और इच्छाशक्ति में एकत्व स्थापित करके ही हम परम सत्ता के साथ उसकी स्वाभाविक अनन्त शक्ति में एकाकार होते हैं। ऐसा होते हुए भी उस शक्ति के सभी कार्य आनन्द से उत्पन्न होते एवं आनन्द में निवास करते हैं और आनन्द ही उनका लक्ष्य एवं परिणति है; शुद्ध परम सत् से और उसकी चेतनशक्ति द्वारा अभिव्यक्त सब रूपों से प्रेम करना ही आनन्द की पूर्ण विशालता का पथ है। प्रेम है दिव्य आत्म-आनन्द का वेग और मद और प्रेम के बिना हम सत् की अनन्तता की मुग्ध शान्ति, आनन्द की लवलीन नीरवता भले ही प्राप्त कर लें, पर उसकी ऐश्वर्य-सम्पदा की अथाह गहराई तक नहीं पहुंच सकते। प्रेम हमें विरह के दुःख से ले चलकर पूर्ण मिलन के आनन्द तक पहुंचाता है, पर साथ ही हम मिलन की क्रिया के उस हर्ष को भी नहीं खोते, जो आत्मा की सबसे बड़ी खोज है और जिसके लिए संसार का जीवन एक लम्बी तैयारी है। इसलिए

प्रेम-मार्ग से भगवान तक पहुंचना अपने-आपको यावत्संभव सबसे महान् आध्यात्मिक परिपूर्णता के लिए तैयार करना है ।

प्रेम कृतार्थ होकर ज्ञान का बहिष्कार नहीं कर डालता, बल्कि स्वयं ज्ञान को उत्पन्न करता है; ज्ञान जितना ही अधिक पूर्ण होता है, प्रेम की सम्भावना उतनी ही अधिक समृद्ध होती है । गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, "भक्ति से मनुष्य मुझे पूर्ण रूप से जान लेता है—मैं तत्त्वत: जितना और जो कुछ भी हूं—अपने सम्पूर्ण विस्तार और महानता में तथा अपनी सत्ता के तत्वों में जो कुछ भी हूं उस सबको —मनुष्य भक्ति से अवश्यमेव जान लेता है और मुझे तत्त्वत: जानकर वह मुझमें प्रवेश करता है ।" ज्ञान के बिना प्रेम प्रगाढ़ और उत्कट, पर अन्ध, असंस्कृत और प्राय: भयानक, महाशक्तिसम्पन्न पर साथ ही बाधक होता है; सीमित ज्ञान से युक्त प्रेम अपने उत्साह में और प्राय: अपने उत्साह के कारण ही संकीर्णता का दोषी बनता है, किन्तु जो प्रेम पूर्ण ज्ञान की ओर ले जाता है उससे अनन्त एवं परम मिलन (सायुज्य) की प्राप्ति होती है । ऐसा प्रेम दिव्य कर्मों से असंगत नहीं, वरन् अपनेको हर्ष-पूर्वक उनमें नियोजित करता है, क्योंकि यह ईश्वर से प्रेम करता और उनकी सम्पूर्ण सत्ता में, सर्वभूत में, प्राणिमात्र में, उनसे एकमय होता है, तब संसार के लिए कर्म करना (लोकसंग्रह) अपने ईश्वर-प्रेम को अनेकानेक रूपों में अनुभव चरितार्थ करना होता है ।

भागवत कृपा

इस सिद्धि को प्राप्त करने के लिए हमें भगवती शक्ति से सतचेन होना होगा, उसे अपनी ओर खींच लाना तथा अपने अन्दर उसका आवाहन करना होगा ताकि वह हमारे सारे आधार को अपनी सत्ता से परिपूरित कर दे तथा हमारे सारे कार्यों का भार अपने ऊपर ले ले । तब कोई ऐसा पृथक निजी संकल्प या व्यक्तिगत शक्ति नहीं रहेगी, जो हमारे कार्यों का संचालन करने का यत्न करती हो, न हमारे अन्दर कोई ऐसी भावना रहेगी कि तुच्छ व्यक्तिगत सत्ता ही कार्य करती है और न ही तब तीन गुणोंवाली निम्नतर शक्ति अर्थात् मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक प्रकृति हमारे कार्यों का संचालन करेगी । भागवत शक्ति हमें अपने दिव्य प्रवाह से भर देगी और हमारी सब आन्तरिक क्रियाओं, हमारे बाह्य जीवन तथा योग के ऊपर अध्यक्षता करेगी और उसकी बागडोर अपने हाथ में ले लेगी । वह मानसिक शक्ति को, अपनी ही एक निम्नतर रचना को हाथ में लेकर उसे उसकी बुद्धि, संकल्प शक्ति और चैत्य क्रिया की उच्चतम, शुद्धतम एवं पूर्णतम शक्तियों तक ऊपर उठा ले जायगी । वह मन, प्राण और देह की उन यांत्रिक शक्तियों को, जो आज हमपर शासन करती हैं, अपनी जीवंत और सचेतन शक्ति एवं उपस्थिति की आनन्दपूर्ण अभिव्यक्तियों में रूपांतरित कर देगी । मन जिन नानाविध आध्यात्मिक अनुभवों को प्राप्त कर सकता है उन सबको वह हमारे अन्दर प्रकट करके एक दूसरे के साथ सम्बद्ध कर देगी । इस प्रक्रिया की सर्वोच्च परिणति के रूप में वह मानसिक स्तरों में अतिमानसिक ज्योति उतार लायगी, मन के उपादान को अतिमानस के उपादान में बदल डालेगी, समस्त निम्नतर शक्तियों को अपनी अतिमानसिक प्रकृति की शक्तियों में रूपांतरित कर देगी और हमें ऊंचे उठाकर हमारी विज्ञानमय सत्ता में ले जायगी । वहां यह महाशक्ति अपने-आपको पुरुषोत्तम की शक्ति के रूप में हमारे सामने प्रकट करेगी और वस्तुत: ईश्वर ही अपनी अतिमानसिक और आध्यात्मिक शक्ति के रूप में अपने-आपको प्रकट करेंगे और हमारी सत्ता तथा हमारे कर्म, जीवन एवं योग के स्वामी बन जायंगे ।

पूर्ण शुद्धता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को मन, वचन और कर्म में सर्वथा विकाररहित बनना पड़ता है । उसे प्रेम और घृणा तथा राग और द्वेष की विरोधी घटनाओं से ऊपर उठना पड़ता है ।

—मो० क० गांधी

विष्णु : मंगलमूर्ति

हरिभाऊ उपाध्याय

मानव-जीवन में चिन्तन और साधना दोनों परस्पर पूरक हैं। बुद्धि के द्वारा चिन्तन और चिन्तन का जो निष्कर्ष निकलता है उसे कर्म—इन्द्रियों—के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न साधना है। इस साधना के फलस्वरूप चिन्तन या तो दृढ़ होता है, या आगे बढ़ता है, पुनश्चिन्तन की भी आवश्यकता हो जाती है। विज्ञान के क्षेत्र में यही साधना 'प्रयोग' कहलाती है। साधना में मनुष्य अपने शरीर और इन्द्रियों के व्यापार तक ही सीमित रहता है, जबकि प्रयोग में दूसरी बाह्य वस्तुओं पर भी क्रिया करता है। इसी प्रक्रिया ने उच्च दार्शनिक तत्वों और विज्ञान के सिद्धान्तों को जन्म दिया है। जीव और ईश्वर, आत्मा-परमात्मा पर चिन्तन करते-करते मनीषियों ने दो मत स्थिर किये : एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। जड़ और चेतन अलग-अलग हैं। दोनों अन्ततोगत्वा एक ही हैं, रूप भले ही दो दिखाई दें, किन्तु मूल वस्तु दोनों में एक ही है। जड़ गौण है, चेतन—परमात्मा ही मुख्य है। विज्ञान ने जगत् के पदार्थों की, मूल स्वरूप की खोज बाह्य उपकरणों से आरंभ की, उसकी इस यात्रा में बड़ी-बड़ी शक्तियां उसके साथ लगीं। सृष्टि के मूल में एक तत्व है या अनेक, यह खोज करते-करते वे भी इस निश्चय पर पहुंच रहे हैं कि जड़ पदार्थों के अन्दर—सबमें—अन्ततोगत्वा एक ही सूक्ष्म तत्व विद्यमान है। इधर दार्शनिकों में भी, वेदांतियों ने यही निष्कर्ष निकाला है कि दो तत्व—प्रकृति-पुरुष—भिन्न नहीं, पुरुष परमात्मा में ही प्रकृति—सृष्टि—छिपी हुई है। सूक्ष्म तत्व के विषय में विज्ञानियों और वेदान्तियों की खोज ने हमें एक ही तत्व के दर्शन कराये हैं। सृष्टि की इस विविधता के अन्दर चेतन-रूप में एक ही तत्व, प्राण, शक्ति, कुछ भी कहिए, विद्यमान् है, यह दोनों का अभिमत है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक से अनेक हुए हैं—भीतर से एक हैं, बाहर से अनेक हैं। अनेकता ऊपरी है, एकता असली है।

अतः जब हम राष्ट्रीय एकता, मानवीय एकता या विश्वबन्धुत्व, विश्व राज्य की बात करते हैं तो हम इसी सत्य का प्रतिपादन करते हैं। मनुष्य का शरीर एक है, उसमें सूक्ष्म प्राण की धारा भी एक ही है, परन्तु इन्द्रियां—अवयव—जुदा-जुदा हैं; पर क्या वे एक ही शरीर के साथ जुड़े हुए नहीं हैं और क्या शरीर के किसी अंग पर कोई चोट पहुंचती हो तो दूसरे अंग अपने-आप उसकी सहायता के लिए नहीं पहुंचते? शरीर के सारे सुख-दुःखों में क्या उसके अंग-प्रत्यंग सभी साझी नहीं होते? शरीर का यह प्रत्यक्ष उदाहरण—अनेक में एक का—हमारे सामने है, हमारे नित्य अनुभव भी वस्तु है; फिर भी यह सोचने की बात है कि हमें अपने परिवार में, समाज में, देश में, विश्व में, शान्ति, सहयोग और एकता की आवश्यकता पर इतने व्याख्यान, ग्रन्थ आदि के द्वारा घोर प्रचार क्यों करना पड़ता है? इसलिए कि हम पेड़ की शाखा-पत्तों को ही मुख्य मानकर उसके तने, जड़ और इन सबके अन्दर जो जीवन-रस रहता या बहता है, उसकी अनेक छोटे स्वार्थी एकांगी कारणों से उपेक्षा कर जाते हैं। इसीका हमें ध्यान रखने की आवश्यकता है।

जब विश्व के अधिकांश चिन्तक एक ही मूल तत्व में आस्था रखते हैं तो उसीके आधार पर समाज और राष्ट्र के संचालन की व्यवस्था बननी चाहिए। अर्थात् विश्व के—परिवार, समाज, विभिन्न देश आदि—के रूप में जो भिन्न छोटे-बड़े विभाग बन गए हैं, या बनाए गये हैं उनकी एक अंश तक सीमित स्वतन्त्रता मानते हुए भी, वे सब एक-दूसरे से जुड़े हुए, अभिन्न हैं—यही मूल तत्व, मूल उद्देश्य, हमारी समाज-व्यवस्था और राज्य-संगठन का होना चाहिए। हमारा विश्व-राज्य-संघ, या विश्व की एक सर-

कार हो, यह विचार—नारा—इसी दिशा की ओर संकेत करता है।

इधर हमारे भारतीय चिन्तक इसी बात तक सीमित नहीं रहे—इस निष्कर्ष को मानकर ही नहीं बैठे रहे। उन्होंने सृष्टि की विविध क्रिया-प्रक्रियाओं को देखकर उसका और अधिक विचार किया। उन्होंने देखा कि सृष्टि में वस्तुएं पैदा होती हैं, उनका मूर्त रूप दिखाई देता है, फिर कुछ समय तक रहती हैं, बढ़ती रहती हैं, फिर उनका अन्त हो जाता है, वे अपने इसी रूप में नहीं रहतीं, नहीं दिखाई देतीं। ये तीन परिवर्तन प्रायः नित्य अवलोकन में आते हैं। तो उन्होंने उसी चेतन तत्व या शक्ति के तीन रूप निर्धारित किये : एक उत्पन्नकर्ता, एक पालनकर्ता, एक संहारकर्ता और आर्य-चिन्तकों ने उनके तीन नाम भी दे दिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश। एक ही मूल शक्ति—चेतना—के ये तीन क्रियामूलक नाम हुए।

इनमें आदि और अन्त के दो कार्य—लम्बा समय नहीं लेते। मध्य का, समाज की स्थिरता का, विकास का काल बहुत लम्बा चलता है, इसलिए उनका महत्व, मानव-समाज के लिए विशेष मानकर इस पालन-क्रिया या शक्ति की साधना पर विशेष जोर दिया है। भारतीय या हिन्दू-शास्त्रों में विष्णु का, वैष्णवी—मांगलिक—शक्ति की उपासना का, इतना महत्व बताया गया है, उसका यही कारण है।

हिन्दू घरों में, उनके प्रत्येक संस्कार, विधान में, जीवन के प्रत्येक मोड़ के अवसर पर, इस मंगल-तत्व, मांगलिक शक्ति, वैष्णवी संकल्प का स्मरण किया जाता है :

"मंगलं भगवान् विष्णुः, मंगलं गरुडध्वज।
मंगलं पुण्डरीकाक्ष, मंगलायतनो हरिः॥"

इसको आधार मानकर, सौराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त, नरसी महेता ने वैष्णव जन की एक मूर्ति अपने सामने खड़ी की और उसपर एक भजन गाया, जिसे गांधीजी ने अपने जीवन का आदर्श या लक्ष्य मानकर अपने आश्रम के गीत-भजनों में पर्वोपरि स्थान दिया, जो हमारे राष्ट्रीय गान—राष्ट्र-गीत—की तरह गांधीजी की संस्थाओं में परम्परा में उतना ही स्थान रखने लगा है।

इस एक ही भजन में गीता के स्थित-प्रज्ञ और ज्ञानी, भागवतकार के मुनि, महावीर के तीर्थंकर और तथागत यानी बुद्ध के सभी लक्षणों का सार आ जाता है। इस भजन में वैष्णव जन का प्रथम लक्षण **"जे पीड़ पराई जाणे रे"** ध्यान देने योग्य है। इसमें ईसा की करुणा की अप्रतिहत ध्वनि है और अब तो पूज्य बाबा—विनोबा—ने भी सत्य, अहिंसा के साथ 'करुणा' को पृथक् रूप से गिनाना शुरू किया है। पर-पीड़ा से आहत और प्रेरित होकर मनुष्य जो कुछ उसके हित में करता है, वही 'मंगलाचरण' है और वही भगवान् विष्णु का असली रूप, व्याख्यान और आशीर्वाद है।

●

सब जन एक समान

एक ब्राह्मण गंगा नहाकर लौट रहा था। रास्ते में एक चाण्डाल आ गया। ब्राह्मण ने उससे कहा, "एक ओर को हट।"

चाण्डाल ने उसकी ओर देखा। बोला, "तुम किसे हटाना चाहते हो? यह देह तो गंदगी की खान है। लेकिन आत्मा सबकी शुद्ध है। ऐसी हालत में बताओ, कौन ऊंच है, कौन नीच ?

ब्राह्मण कुछ कहे कि उससे पहले ही चाण्डाल बोल उठा, "अच्छा गंगा-जल के चांद में और हमारी पोखर के चांद में कोई अंतर है ? नहीं है तो ब्राह्मण और अछूत का भ्रम तुम्हारे मन में कैसे पैदा हुआ ?"

ब्राह्मण की आंखें खुल गईं। वह बोला, "तुम ठीक कहते हो। मैं भूल में था। यह देह तो किसी की नहीं रहती। एक दिन मिट्टी में मिल जाती है। पर आत्मा तो सबकी एक-सी है। वह कभी नहीं मरती।"

चाण्डाल ने फिर कहा, "महाराज, ब्राह्मण और अछूत कोई जनम से नहीं होता, यह सब भेदभाव तो आदमी का बनाया हुआ है।"

ब्राह्मण की आंखों से भ्रम का पर्दा हट गया और वह सबको बराबर समझने लगा।

प्रभु की उपलब्धि का द्वार सदा

रजनीश

मैं यह क्या देख रहा हूं ? यह कैसी निराशा तुम्हारी आंखों में है ? और क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि जब आंखें निराश होती हैं, तब हृदय की वह अग्नि बुझ जाती है और वे सारी अभीप्साएं सो जाती हैं, जिनके करण कि मनुष्य मनुष्य है !

निराशा पाप है, क्योंकि जीवन उसकी धारा में निश्चय ही ऊर्ध्वगमन खो देता है ।

निराशा पाप ही नहीं, आत्मघात भी है, क्योंकि जो श्रेष्ठतर जीवन को पाने में संलग्न नहीं है, उसके चरण अनायास ही मृत्यु की ओर बढ़े जाते हैं ।

यह शाश्वत नियम है कि जो ऊपर नहीं उठता, वह नीचे गिर जाता है और जो आगे नहीं बढ़ता, वह पीछे ढकेल दिया जाता है ।

मैं जब किसीको पतन में जाते देखता हूं तो जानता हूं कि उसने पर्वत-शिखरों की ओर उठना बंद कर दिया होगा । पतन की प्रक्रिया विधात्मक नहीं है । घाटियों में जाना, पर्वतों पर न जाने का ही दूसरा पहलू है । वह उसकी ही निषेध छाया है ।

और जब तुम्हारी आंखों में मैं निराश देखता हूं तो स्वाभाविक ही है कि मेरा हृदय प्रेम, पीड़ा और करुण से भर जाय, क्योंकि निराशा मृत्यु की घाटियों में उतरने का प्रारम्भ है ।

आशा सूर्यमुखी के फूलों की भांति सूर्य की ओर देखती है और निराशा ? निराशा अंधकार से एक हो जाती है । जो निराश हो जाता है, वह अपनी अंतर्निहित विराट शक्ति के प्रति सो जाता है और उसे विस्मृत कर देता है जो कि वह है और जो कि वह हो सकता है ।

बीज जैसे भूल जाय कि उसे क्या होना है और मिट्टी के साथ ही एक होकर पड़ा रह जाय, ऐसा ही वह मनुष्य है जो कि निराशा में डूब जाता है ।

और आज तो सभी निराशा में डूबे हुए हैं !

नीत्से ने कहा है : "परमात्मा मर गया है ।" यह समाचार उतना दुखद नहीं है, जितना कि आशा का मर जाना । क्योंकि आशा हो तो परमात्मा को पा लेना कठिन नहीं और यदि आशा न हो तो परमात्मा के होने से भी कोई भेद नहीं पड़ता । आशा का आकर्षण ही मनुष्य को अज्ञात की यात्रा पर ले जाता है । और आशा ही प्रेरणा है जो कि उसकी सोयी शक्तियों को जगाती और उसकी निष्क्रिय चेतना को सक्रिय करती है ।

क्या मैं कहूं कि आशा की भावदशा ही आस्तिकता है ?

और यह भी कि आशा ही समस्त जीवन-आरोहण का मूल उत्स और प्राण है ?

पर आशा कहां है ? मैं तुम्हारे प्राणों में खोजता हूं तो वहां तो निराशा की राख के सिवा और कुछ भी नहीं मिलता ? और आशा के अंगारे न हों तो तुम जिओगे कैसे ? निश्चय ही तुम्हारा यह जीवन इतना बुझा हुआ है कि मैं इसे जीवन भी कहने में असमर्थ हूं ।

मित्र, मुझे आज्ञा दो कि मैं कहूं कि तुम मर गये हो ! असल में तुम कभी जिये ही नहीं । तुम्हारा जन्म तो जरूर हुआ था, लेकिन वह जीवन तक नही पहुंच सका ! जन्म ही जीवन नहीं है । जन्म मिलता है । जीवन पाना होता है । इसलिए जन्म मृत्यु में छीन भी लिया जाता है । लेकिन जीवन को कोई भी मृत्यु नहीं छीन पाती है । जीवन जन्म नहीं है ओर इसलिए जीवन मृत्यु भी नहीं है ।

जीवन जन्म के भी पूर्व है और मृत्यु के भी अतीत है । और जो उसे जानता है, वही केवल भयों और दुखों के ऊपर उठ पाता है ।

किन्तु, जो निराशा से घिरे हैं, वे उसे कैसे जानेंगे ? वे तो जन्म और मृत्यु के बीच के तनाव में ही समाप्त हो जाते हैं !

जीवन एक संभावना है और उसे सत्य में परिणत करने के लिए साधना चाहिए। निराशा में साधना का जन्म नहीं होता, क्योंकि निराशा तो बांझ है ओर उसमें कभी भी, किसीका जन्म नहीं होता है। इसीलिए मैंने कहा कि निराशा आत्मघाती है, क्योंकि उससे किसी भी भांति की सृजनात्मक शक्ति का आविर्भाव नहीं होता है।

मैं कहता हूं—उठो और निराशा को फेंक दो। उसे तुम अपने ही हाथों से ओढ़े बैठे हो। उसे फेंकने के लिए और कुछ भी नहीं करना है, सिवा इसके कि तुम उसे फेंकने को राजी हो जाओ। आह ! तुम्हारे अतिरिक्त और कोई उसके लिए जिम्मेदार नहीं है।

मनुष्य जैसा भाव करता है, वैसा ही हो जाता है। उसके ही भाव उसका सृजन करते हैं। वही अपना भाग्य-विधाता है।

विचार—विचार—विचार, और उनका सतत् आवर्तन ही अंततः वस्तुओं और स्थितियों में घनीभूत हो जाता है।

स्मरण रहे कि तुम जो भी हो, वह तुमने ही अंनत बार चाहा है, विचारा है और उसकी भावना की है। देखो, स्मृति में खोजो तो निश्चय ही जो मैं कह रहा हूं, उस सत्य के तुम्हें दर्शन होंगे। और जब यह सत्य तुम्हें दीखेगा तो तुम स्वयं के आत्म-परिवर्तन की कुंजी को पा जाओगे। फिर अपने ही द्वारा ओढ़े भावों और विचारों को उतारकर अलग कर देना कठिन नहीं होता है। वस्त्रों को उतारने में भी जितनी कठिनता होती है उतनी भी उन्हें उतारने में नहीं होती है, क्योंकि वे तो हैं भी नहीं, सिवा तुम्हारे ख्याल के उनकी कहीं भी कोई सत्ता नहीं है।

हम अपने ही भावों में अपने ही हाथों से कैद हो जाते हैं, अन्यथा वह जो हमारे भीतर है, सदैव ही स्वतन्त्र है।

और, क्या निराशा से बड़ी और कोई कैद है ? नहीं, क्योंकि पत्थरों की दीवारें जो नहीं कर सकतीं, वह निराशा करती है। दीवारों को तोड़ना सम्भव है, लेकिन निराशा तो मुक्त होने की आकांक्षा को ही खो देता है।

और, निराशा से मजबूत जंजीरें भी नहीं हैं, क्योंकि लोहे की जंजीरें तो मात्र शरीर को बांधती हैं, निराशा तो आत्मा को बांध लेती है।

मेरे प्रिय ! निराशा की इन जंजीरों को तोड़ दो। इन्हें तोड़ा जा सकता है, इसीलिए ही मैं तोड़ने को कह कह रहा हूं। उनकी सत्ता स्वप्न सत्ता मात्र है। उन्हें तोड़ने के संकल्प मात्र से ही वे टूट जायंगी। जैसे दीये के जलते ही अन्धकार टूट जाता है, वैसे ही संकल्प के जागते ही स्वप्न टूट जाते हैं।

और, फिर निराशा के खण्डित होते ही जो आलोक चेतना को घेर लेता है, उसका ही नाम आशा है।

निराशा स्वयं आरोपित दशा है। आशा स्वभाव है, स्वरूप है।

निराशा मानसिक आवरण है, आशा आत्मिक आविर्भाव है। मैं कह रहा हूं कि आशा स्वभाव है। क्यों ? क्योंकि यदि ऐसा न हो तो जीवन-विकास की ओर सतत् गति और आरोहण की कोई सम्भावना न रह जाय। बीज अंकुर बनने को तड़पता है, क्योंकि कहीं उसके प्राणों के किसी अन्तरस्य केन्द्र पर आशा का आवास है। और सभी प्राण अंकुरित होना चाहते हैं और जो भी है वह विकसित और पूर्ण होना चाहता है। अपूर्ण की पूर्ण के लिए अभीप्सा आशा के अभाव में कैसे हो सकती है और पदार्थ की परमात्मा की ओर यात्रा क्या आशा के बिना सम्भव है ?

मैं नदियों को सागर की ओर दौड़ते देखता हूं तो मुझे उनके प्राणों में आशा का संचार दिखाई पड़ता है। और जब मैं अग्नि को सूर्य की ओर उठते देखता हूं तब भी उन लपटों में छिपी आशा के मुझे दर्शन होते हैं।

और क्या यह ज्ञात नहीं है कि छोटे-छोटे बच्चों की आंखों में आशा के दीप जलते हैं ? और पशुओं की आंखों में भी और पक्षियों के गीतों में भी ?

जो भी जीवित है, वह आशा से जीवित है और जो भी मृत है वह निराशा से मृत है।

यदि हम छोटे बच्चों को देखें, जिन्हें कि अभी समाज, शिक्षा और सभ्यता ने विकृत नहीं किया है, तो बहुत-से जीवन-सूत्र हमें दिखाई पड़ेंगे। सबसे पहली बात दिखाई पड़ेगी आशा, दूसरी बात जिज्ञासा और तीसरी बात श्रद्धा।

निश्चय ही यह गुण स्वाभाविक हैं। उन्हें अर्जित नहीं करना होता है। वे हममें हैं। हां, हम चाहें तो उन्हें खो अवश्य सकते हैं ! फिर भी हम उन्हें बिल्कुल ही नहीं खो सकते हैं, क्योंकि जो स्वभाव है, वह नष्ट नहीं होता। स्वभाव केवल आच्छादित ही हो सकता है, विनष्ट नहीं। और जो स्वभाव नहीं है, वह भी केवल वस्त्र ही बन सकता है, अन्तस् कभी नहीं। इसलिए मैं कहता हूं कि वस्त्रों को अलग करो और उसे देखो जो कि तुम स्वयं हो। सब वस्त्र बन्धन हैं और निश्चय ही परमात्मा निर्वस्त्र है।

क्या ही अच्छा हो कि तुम भी निर्वस्त्र हो जाओ ? मैं उन वस्त्रों की बात नहीं कर रहा हूं, जो कि कपास के धागों से बनते हैं। उन्हें छोड़कर तो बहुत-से व्यक्ति निर्वस्त्र हो जाते हैं। और फिर भी वही बने रहते हैं, जो कि वे वस्त्रों में थे। कपास के कमजोर धागे नहीं, निषेधात्मक भावनाओं की लौह श्रृंखला तुम्हारे बन्धन हैं। उन्हें जो छोड़ता है, वही उस निर्दोष नग्नता को उपलब्ध होता है, जिसकी ओर कि महावीर ने इशारा किया है।

सत्य को पाने को—स्वयं को जानने को—स्वरूप में प्रतिष्ठित होने को सब वस्त्रों को छोड़ नग्न हो जाना आवश्यक है।

और निराशा के वस्त्र सबसे पहले छोड़ने होंगे, क्योंकि उसके बाद दूसरे वस्त्र छोड़े जा सकते हैं।

परमात्मा की उपलब्धि के पूर्व यदि तुम्हारे चरण कहीं भी रुकें तो जानना कि निराशा का विष कहीं-न-कहीं तुम्हारे भीतर बना ही हुआ है। उससे ही प्रमाद और आलस्य उत्पन्न होता है।

संसार में विश्राम के स्थलों को ही प्रमादवश गन्तव्य समझने की भूल हो जाती है। परमात्मा के पूर्व और परमात्मा के अतिरिक्त और कोई गन्तव्य नहीं है, इसे तुम्हारी समग्र आत्मा को कहने दो। कहने दो कि परमात्मा के अतिरिक्त और कोई चरम विश्राम नहीं है, क्योंकि परमात्मा में ही पूर्णता है।

परमात्मा के पूर्व जो रुकता है, वह स्वयं का अपमान करता है, क्योंकि वह जो हो सकता था, उसके पूर्व ही ठहर गया होता है।

संकल्प और साध्य जितना ऊंचा हो, उतनी ही गहराई तक स्वयं की सोयी शक्तियां जागती हैं। साध्य की ऊंचाई ही तुम्हारी शक्ति का परिणाम है। आकाश को छूते वृक्षों को देखो। उनकी जड़ें अवश्य ही पाताल को छूती होंगी और तुम भी यदि आकाश छूने की आशा और आकांक्षा से आन्दोलित हो जाओगे तो निश्चय ही जानो कि तुम्हारे गहरे-से-गहरे प्राणों में सोई हुई शक्तियां जाग जायंगी। जितनी तुम्हारी अभीप्सा की ऊंचाई होती है, उतनी ही तुम्हारी शक्ति की गहराई भी होती है।

क्षुद्र की आकांक्षा चेतना को क्षुद्र बनाती है, तब यदि मांगना ही है तो परमात्मा को मांगो। वह जो कि अन्ततः तुम होना चाहोगे, प्रारम्भ से उसकी ही तुम्हारी मांग होनी चाहिए, क्योंकि प्रथम ही अन्ततः अन्तिम उपलब्धि बनता है।

मैं जानता हूं कि तुम ऐसी परिस्थितियों में निरंतर घिरे हो, जो कि प्रतिकूल हैं और परमात्मा की ओर उठने से रोकती हैं, लेकिन ध्यान में रखना कि जो परमात्मा की ओर उठे, वह भी कभी ऐसी ही परिस्थितियों से घिरे थे ? परिस्थितियों का बहाना मत लेना। परिस्थितियां नहीं, वह बहाना ही असली अवरोध बन जाता है। परिस्थितियां कितनी ही प्रतिकूल हों, वह इतनी प्रतिकूल कभी भी नहीं हो सकती हैं कि परमात्मा के मार्ग में बाधा बन जायं। वैसा होना असम्भव हैं। वह तो वैसा ही होगा जैसे कि कोई कहे कि अंधेरा कभी इतना घना नहीं है कि प्रकाश के जलने में बाधा बन गया है। अंधेरा कभी इतना घना नहीं होता और न परिस्थितियां इतनी प्रतिकूल होती हैं कि वे प्रकाश के आगमन में बाधा बन सकें। वस्तुतः तुम्हारे अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है।

उसे बहुत मूल्य कभी मत दो, जोकि आज है और कल नहीं होगा, जिसमें पल-पल में परिवर्तन है, उसका मूल्य ही क्या ? परिस्थितियों का प्रवाह तो नदी की भांति है। उसे देखो। उसपर ध्यान दो, जोकि नदी की धार में भी अडिग चट्टान की भांति स्थिर है। वह कौन है ? वह तुम्हारी चेतना है, वह तुम्हारी आत्मा है, वह तुम अपने वास्तविक रूप में स्वयं हो। सब बदल जाता है। बस, वही अपरिवर्तित है। उस ध्रुव-बिन्दु को पकड़ो और उस पर ठहरो, लेकिन तुम तो आंधियों के साथ कांप रहे हो

और लहरों के साथ थरथरा रहे हो ? क्या वह शान्त और अडिग चट्टान तुम्हें नहीं दिखाई पड़ती है, जिसपर कि तुम खड़े हो और जोकि तुम हो ? उसकी स्मृति को लाओ। उसकी ओर आंखें उठते ही निराशा आशा में परिणत हो जाती है और अन्धकार आलोक बन जाता है ।

और स्मरण रखना कि जो समग्र हृदय से, आशा और आश्वासन से, शक्ति और संकल्प से, प्रेम और प्रार्थना से, स्वयं की सत्ता का द्वार खटखटाता है, वह कभी भी असफल नहीं लौटता है, क्योंकि प्रभु के मार्ग पर असफलता है ही नहीं। पाप के मार्ग पर सफलता असम्भव और प्रभु के मार्ग पर असफलता । पाप के मार्ग पर सफलता हो तो समझना कि भ्रम है और प्रभु के मार्ग पर असफलता हो तो समझना कि परीक्षा है ।

वस्तुतः तो प्रभु की उपलब्धि का द्वार कभी बन्द ही नहीं । हम अपनी ही निराशा में अपनी ही आंखें बन्द कर लेते हैं, वह बात दूसरी है । निराशा को हटाओ और देखो, यह कौन सामने खड़ा है ? क्या वही वह सूर्य नहीं है, जिसकी खोज थी, क्या यही वह प्रिय नहीं है, जिसकी कि प्यास थी ?

ईसा ने कहा था—"मांगो और मिलेगा । खटखटाओ और द्वार खुल जायंगे ।" वही मैं पुनः कहता हूं । वही ईसा के पहले भी कहा गया था, वही मेरे बाद भी कहा जायगा । धन्य हैं वे लोग जो खटखटाते हैं और आश्चर्य है उन लोगों पर, जोकि प्रभु के द्वार पर ही खड़े हैं और आंखें बन्द किये हैं और रो रहे हैं !

पवित्र कौन ?

मुनिश्री सुमेरमल

'सुइ सया वियड भावो' भगवान महावीर के इस उद्घोष में पवित्र उसे कहा गया है, जो खुला है, जिसके जीवन में कोई छुपाव नहीं है, जीवन का हर पहलू निरावरण है । आवरण हमेशा कुत्सित को ढांकने के लिए होता है। पवित्र को नहीं। अशुभ को सदैव ढांकने का प्रयत्न होता है, शुभ को नहीं।

व्यक्ति अपनेको इतना शुभ बना ले कि उसके किसी भी पहलू को देखने पर पवित्रता ही दृष्टिगोचर हो, ऐसा तभी हो सकता है जब व्यक्ति अभय होकर सत्य की साधना करे। भय से सत्य बोलनेवाला जीवन में निखार नहीं ला सकता और न अधिक समय तक वह सत्य पर टिक सकता है । सत्य की साधना के लिए अभय की उपासना जरूरी है और पवित्र होने के लिए स्वयं में सच्चा होना जरूरी है।

वाणी और कर्म की एकात्मकता सत्य के आलोक में ही सम्भव है। पवित्र जीवन में कथनी-करनी की एकता सहज संभाव्य है। क्या उसे पवित्र माने, जो स्नान तो दो समय करता है, किन्तु चिन्तन में अस्पष्टता, वाणी में शठता और कर्म में वक्रता रखता हो, वासना का पुतला केवल ऊपर से भला दीखना चाहता है ?

क्या उसे भी पवित्र मानें, जो व्यसनों में आकंठ निमग्न होते हुए भी जल से शुद्ध होने की विडम्बना करता है ?

असद् व्यवहारी कभी पवित्र नहीं बन सकता, आंतरिक पवित्रता ही जीवन को संभालती है, कर्त्तृत्व को निखारती है । इसीलिए ऋषियों ने व्यसन व वासना दोनों को छोड़ना अनिवार्य बताया है। सत्य को भगवान् की तरह उपास्य कहा है ।

धर्म का निवास पवित्र हृदय में होता है—"धम्मो सुद्धस्स चिठ्ठइ ।" अपवित्र व्यक्ति धर्म नहीं कर सकता । अपवित्र जन्म से नहीं, वर्ण से नहीं, जाति से नहीं, दुराचार से होता है। जीवन में सदाचरण आये, मानसिक कालुष्य मिटे, फिर जीवन सर्वथा निर्विकार होकर पवित्र बन जाता है ।

सन्तों का मानव-धर्म

बाबूराव जोशी

●

स्मृतिकार कुछ विशेष प्रकार के नैतिक नियमों के पालन तथा कुछ सामाजिक व्यवस्थाओं के अनुसरण को धर्म मानते हैं। उन्होंने कहा है—"**आचार प्रथमो धर्मः।**" मीमांसक धर्म को प्रेरणा-प्रधान मानते हैं। उनके अनुसार धर्म विविध प्रवृत्तियों पर अर्गला देनेवाला तत्त्व है—"**चोदना लक्षणयो धर्मः।**" महाभारत का कहना है—

> **धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।**
> **यस्माद् धारण संयुक्त स धर्म इति निश्चयः॥**

अर्थात्, धर्म शुद्ध 'धृ' धातु से बना है। धर्म से सब प्रजा बंधी हुई है। समाज में व्यवस्था करनेवाले सारे तत्त्व धर्म हैं। महर्षि कणाद ने कहा है—"**यतो अभ्युदयानि श्रेय संसिद्धिः सः धर्माः।**" अर्थात्, धर्म एक ऐसी साधना-पद्धति है, जो लौकिक एवं पारलौकिक समृद्धि तथा शांति का विधान करती है।

ये सभी परिभाषाएं धर्म के विभिन्न पक्षों पर बल देती हैं। ध्यान देने पर उसके दो पक्ष प्रमुख दिखाई देते हैं—साधारण और विशेष। धर्म का विशेष स्वरूप देश-काल और व्यक्ति की सीमाओं से बंधा हुआ रहता है। इसी कारण विभिन्न देशों के धर्मों में अनेक प्रकार की विभिन्नताएं दिखाई देती हैं, किन्तु धर्म का साधारण स्वरूप देश, काल और व्यक्ति की सीमाओं से परे रहता है। वह प्रायः सभी धर्मों में समान रूप से परिव्याप्त होता है। इसमें मानव-मात्र के नैतिक नियमों की प्रतिष्ठा रहती है। यही मानव-धर्म है। यद्यपि सभी धर्म-संस्थापक अपने धर्म में इन दोनों पक्षों की प्रतिष्ठा करते रहे हैं तथापि ज्योंही संस्थापक उठे, धर्म के ठेकेदारों ने उसके विशेष पक्ष पर बल दिया और उसे स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाकर विकृत बना दिया। किन्तु यह विकृत स्वरूप भी आगे अधिक समय तक चल नहीं पाता। उसकी प्रतिक्रिया होती है और फिर साधारण धर्म की प्रतिष्ठा होने लगती है। धर्मों का इतिहास वस्तुतः इस क्रिया-प्रतिक्रिया का ही इतिहास है।

वेदों के ब्रात्य इसी सहज पंथ के प्रवर्तक माने जाते हैं। बौद्धों का सहजयान, बाउल सम्प्रदाय और सहज सम्प्रदाय आदि सभी मत और पंथ धर्म के साधारण स्वरूप ही थे। इन सबके द्वारा साधारण धर्म की ही पुनः प्रतिष्ठा की गई। सन्तों की धार्मिक विचार-धारा भी हिन्दू और इस्लाम के पाखण्डपूर्ण विकृत रूप की प्रतिक्रिया के रूप में उदित हुई। यही कारण है कि सन्तों ने विधि-विधान-पूर्ण हिन्दू और मुस्लिम धर्म का विरोध करके सहज मानव-धर्म की प्रतिष्ठा की। इस सहज मानव-धर्म की व्याख्या करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा था—"कबीर, दादू आदि के मत से साधना सहज होनी चाहिए। आज की वैज्ञानिक भाषा में अगर कहना हो तो कह सकते हैं कि पृथ्वी जिस प्रकार अपने केन्द्र के चारों ओर घूमती हुई अपनी दैनिक गति सम्पन्न करती है और यही गति उसे सूर्य के चारों ओर बृहत्तर वार्षिक गति में अग्रसर करती है, उसी प्रकार दैनिक जीवन इतना सहज और सरल होना चाहिए कि वह शाश्वत जीवन की ओर अग्रसर करे।" इस सहज मानव-धर्म ने ही उन्हें गृहस्थ के साथ-साथ संन्यासियों का शिरोमणि भी बना दिया था।

सन्तों का सारा जीवन अध्यात्म साधना में बीता था। उनकी साधना का आधार था अनुभूति। वस्तुतः अनुभूति के द्वारा ही आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि की जा सकती है। मुण्डकोपनिषद में कहा गया है—"**न चक्षुसा गृह्यते नापि वाचा।**" अर्थात्, न चर्म चक्षुओं से उसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, न वाणी से। तैतरीयोपनिषद् में कहा गया है कि वह मन के लिए भी अप्राप्य है—"**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**" सन्तों का सहज धर्म अध्यात्म के

रस में डूबा हुआ था। उनके सारे प्रयोग अनुभूति के सहारे होते थे। इन प्रयोगों में जो सत्य अनुभूत होता उसीको वे मान्य करते थे। इनमें उन्होंने अधिकतर उन्हींको महत्व दिया, जिनका स्वरूप उन्हें सहज और सरल प्रतीत हुआ। नतीजा यह हुआ कि इन सरलतम सत्य खण्डों से ही उनका धर्म निर्मित हुआ।

इस सहजता का एक प्रभाव यह भी हुआ कि वे तर्कों के इन्द्रजाल से मुक्त रहे। तर्क का सम्बन्ध भौतिक बुद्धि से होता है। अन्याश्रित होने के कारण भौतिक बुद्धि अभौतिक बुद्धितत्व का निरूपण नहीं कर सकती। कबीर ने अध्यात्म को कभी तर्क का विषय नहीं माना। उन्होंने कहा था—"**कहै कबीर तरक दुई साधे तिनकी मति है मोटी।**" दादू ने भी कहा था—

भाई रे ऐसा पंथ हमारा

वाद-विवाद काहु सो नाहीं, मांहि जगत थे न्यारा।

उपनिषद्, वेदान्त, सूत्र, महाभारत सभी अध्यात्म में तर्क की अप्रतिष्ठा की घोषणा करते हैं। कठोपनिषद् में "**नेषा मतिः तर्कणापनीयौ**", ब्रह्मसूत्र में "**तर्का प्रतिष्ठानात्**" और महाभारत में "**अचिन्त्या खलु मे भावा न तांस्तर्केण साधयेत**" कहकर यही बात कही गई है।

सन्तों का यह अनुभूतिमूलक दर्शन अद्वैतवादी है। उन्हें अणु-अणु में ब्रह्म के दर्शन होते थे। उन्होंने अनुभव किया था—"**जामे हम, सोई हम ही में, नीर मिले जल एक हुआ।**" तथा "**हम सब माँहि सकल हम माहीं, हम थे और दूसरा नाहीं।**" यही अद्वैत भावना उनमें सहज-सरल मानव-धर्म का आधार थी। इसीसे वे पूर्ण आस्तिक थे। उनकी आस्तिकता का आधार भी सहज तत्व ही है। वह तत्व न हिन्दुओं के ईश्वर से मिलता है, न मुसलमानों के अल्लाह से। योगियों के गोरख से भी उसकी समता नहीं की जा सकती।

सन्त दर्शन के क्षेत्र में तर्क-विरोधी होते हुए भी जीवन में बुद्धिवादिता के समर्थक थे। उनकी बुद्धिवादिता तर्क-मूलक नहीं, अनुभवगम्य थी। उन्होंने वही कहा जो उनकी प्रत्यक्षानुभूति का परिणाम था। कबीर ने कहा था—"हे पण्डित, तू कागज में लिखी हुई बात कहता है। मैं तो आंख से देखी हुई बात कहता हूं। फलतः तू उलझाने की बात कहता है, मैं सुलझाने में प्रयत्नशील हूं।" सन्त सुन्दरदास ने प्रत्यक्ष ज्ञान को ही अनुभव कहा है। वे कहते हैं—"**अनुभव साक्षात् ज्ञान प्रलय की अगिनि सम।**" उनका विश्वास था कि अनुभव के बिना सत्य का परिज्ञान नहीं होता—"**अनुभव बिना नहि जान सके निरसंघ निरंतर नूर है जो।**"

अनुभव-ज्ञान में दृढ़ आस्था होने के कारण सन्तों ने अन्धविश्वासों, मिथ्याचारों और आडम्बरों पर कस-कसकर प्रहार किये हैं। उस जमाने में एक-दो नहीं, सभी इनके जाल में फंसे हुए थे। कबीर ने कहा था—"**एक न भूला, दोय न भूला, भूला सब संसार।**" वह इसी जाल-जंजाल में से सर्वसाधारण को निकालना चाहते थे। उनके सारे धार्मिक विश्वास सत्य पर आधारित थे। इसीलिए तो वे लोक और वेद का अन्धानुसरण पसन्द नहीं करते थे। उन्होंने मिथ्याडम्बरों के प्रवर्तक पण्डित, मुल्ला और क़ाज़ी की निन्दा ही नहीं की, उनके मिथ्याचारों का भी खण्डन किया। हिन्दू-धर्म का आधारभूत तत्व है वर्णाश्रम-धर्म। सन्तों ने उसपर भी तीव्र प्रहार किया।

हिन्दू-धर्म में आचारों का बड़ा महत्व है। बहुत-से आचार्य तो आचार को ही धर्म का सच्चा स्वरूप मानते हैं। हिन्दू धर्म के प्रमुख आचार हैं—जप, तप, व्रत, माला, मुद्रा, यज्ञ, योग आदि। मूर्ति-पूजा भी इसके अन्तर्गत आती है। यह हिन्दू-धर्म का विशेष स्वरूप था। इसके चक्कर में पड़कर हिन्दू-धर्म विकृत होता जा रहा था। अतः इस पर भी चोट करना आवश्यक था। सन्त सुन्दरदास ने इन सबका खण्डन करते हुए कहा :

जोग करे, यज्ञ करे तीरथउ व्रत करे,
पुण्य नाना विधि करे मन में सिहात है।
और देवी देवता उपासना अनेक करे,
अरबन की होस करे अकडोडे न जात हैं।
सुन्दर कहत एक रबि के प्रकाश बिन,
जेगने की जोपत कहा रजनी बिलात है।

सन्तों ने बड़े विश्वास के साथ कहा था, "**तीरथ व्रत नेम किये ते सबै रसातल जाहि।**" भीखासाहब के अनुसार योग, यज्ञ, दान आदि के द्वारा राम को प्राप्त करने का प्रयत्न करना ऐसा ही है, जैसा बांझ का बेटा प्राप्त करने

के लिए प्रयत्न करना। इस्लाम के मिथ्याचारों की भी खबर लेते हुए कबीर ने कहा था :

यह सब झूठी बन्दगी बिरिया पांच निमाज।
सांचे मारे झूठि पढ़ि काजी करे अकाज॥

सन्तों का मानव-धर्म आन्तरिक शुद्धता पर आधारित है। उनका दृढ़ विश्वास था कि मन की शुद्धता न केवल बिना पढ़े ही ज्ञान प्राप्त होता है, अपितु भगवान की प्राप्ति भी होती है। कबीर ने कहा था—"**हरि न मिले बिन हिरदे सूद।**" शुद्ध हृदय में मन की पवित्रता और विचारों की सात्विकता आ ही जाती है। धर्म के प्रधान अंग हैं नीति-शास्त्र और अध्यात्म। ये दोनों ही विचारों की पवित्रता पर बड़ा जोर देते हैं। जब विचारों की पवित्रता और सत्यता नष्ट हो जाती है तो धर्म विकृत हो जाता है। यह ठीक है कि धर्म की प्रतिष्ठा करनेवाले अथवा वेद-शास्त्र मिथ्या तत्व का प्रचार नहीं करते। यह सब तो धर्म का अन्धानुकरण करनेवाले ही करते हैं।

यदि कोई मानव-धर्म या विश्व-धर्म हो सकता है तो वही जो ऐसे नैतिक आचारों पर आधारित हो जिनसे मनुष्य की धारणा होती है और जो समाज की स्थिति का कारण हो। इन नैतिक आचरणों में कुछ विधि रूप होते हैं, कुछ निषेध रूप। सन्तों ने इन दोनों स्वरूपों का निर्देश किया है। विधि रूप में पाये जानेवाले नैतिक आचरणों में सत्याचरण, सारग्राहिता, समदर्शिता, शील, क्षमा, दया, दान, धीरज, सन्तोष, परोपकार, अहिंसा आदि प्रमुख हैं। निषिद्ध आचरणों में प्रमुख हैं—मद्य, मांस, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, कपट, तृष्णा आदि। सन्त चरणदास ने घट के तीर्थ की कैसी सदाचार-मूलक व्याख्या की है :

घट में तीरथ क्यों न नहायो
इत उत डोलो पथिक बने ही,
भरमि भरमि क्यों जनम गवायो।
गोमती कर्म सुकारथ कीजिये,
अधरम मैल छुटाओ।
सील सरोवर हित करि न्हैये,
काम अगिनी की तपन बुझाओ।
रेवा सोई छिमा को जानो,
तामे गोता लीजै।
तन में काम रहम नहि पावे,
ऐसी पूजा चित दे कीजै।
सत जमुना सन्तोष सरस्वती,
गंगा धीरज धारो।
झूठ कपट निर्लोभ होम करि,
सबही बोझा सिर सू डारो।
दया तीर्थ कर्मनाशा कहिये,
परसे बदला जावै।
चरनदास सुकदेव कहत हैं,
चौरासी में फिर नहि आवै।

सभी सन्तों के साहित्य में इसी प्रकार के पद प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं। निश्चय ही सन्तों का धर्म सच्ची नैतिकता के ऊपर खड़ा हुआ है।

प्रत्येक धर्म का एक पक्ष 'रहनी' होता है। सन्तों के 'रहनी' स्वरूप में मध्यमार्गानुसरण का ऊंचा स्थान है। बौद्धों ने मध्य मार्ग के अनुसरण पर जोर दिया था। सन्तों को वह बुद्धिवादी प्रतीत हुआ। कबीर ने 'मधि को अंग में' इस सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा है। उनकी एक उक्ति देखिये :

कबीर मधि अंग जे को रहे, तो तिरत न लागे बार।
दुई दुई अंग को लागि करि, डूबत है संसार॥

मध्य मार्ग का अनुसरण करके वे हिन्दू-मुसलमानों में एकता पैदा कर सके, इस्लाम और हिन्दू-धर्म की अच्छाइयों को ग्रहण कर सके।

सन्त महान क्रांतिकारी होने के साथ-साथ सच्चे साम्यवादी भी थे। वे जीवन में, समाज में, धर्म में, साधना में सर्वत्र एक समरसता लाना चाहते थे। वे जीवन में सुख-दुख, मानापमान, निन्दास्तुति को सम कर देना चाहते थे। वे जाति-भेद के ऊबड़-खाबड़ टीले को सम भूमि के रूप में बदलना चाहते थे। वे साधना में कथनी और करनी तथा धर्म में अनुराग और विराग को समान महत्व देना चाहते थे। उनका सारा जीवन इन विषमताओं को मिटाने में ही व्यतीत हुआ।

सन्तों के सहज धर्म का साधना-मार्ग भी 'सहज है। उसके प्राणभूत उपादान हैं सहज ज्ञान, सहज वैराग्य, सहज योग और सहज भक्ति। सहज ज्ञान और सहज वैराग्य उनकी

साधना के प्रारंभिक सोपान हैं। वैराग्य-शुद्धि का प्रयोग उन्होंने प्रचलित अर्थ में नहीं किया था। वे गेरुआ वस्त्र पहनकर जंगल में चले जाने को वैराग्य नहीं मानते थे। वैराग्य से उनका आशय था वासना-क्षय से। उन्होंने कहा था—**"वनह बसे का कीजिये, मन नहि तजे विकार।"**

उनके अनुसार मन का संयम ही सच्चा वैराग्य था। सहज वैराग्य की भांति सहज ज्ञान के उपर भी वे उतना ही बल देते थे। कबीर ने कहा था—"जहां ज्ञान तहां धर्म है।" वे कहते थे कि जिसने अपने जीवन में ज्ञान का चिन्तन नहीं किया उसका जन्म व्यर्थ गया। प्रश्न यह हो सकता है कि ज्ञान है क्या? कबीर ने लिखा है—**"राजा राम मोरे ब्रह्म ज्ञान।"** इस ज्ञान के प्रकाश से सारे भ्रम-जालों का अन्धकार विलीन हो जाता है। यद्यपि सन्तों की धर्म-साधना में कर्म को कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया है, तथापि वे उसके विरोधी नहीं थे। उन्होंने 'रहनी' के साथ करनी को आवश्यक ठहराया था। उनकी करनी का रूप हठयोगियों का-सा नहीं था। साधना के प्रारंभ में उसका रूप चाहे जो रहा था, किन्तु उनका अन्तिम मान्य रूप सहज योग ही था।

सन्तों की सहज भक्ति की प्रमुख बातें हैं: नाम-स्मरण, अजपा जाप और प्रपत्ति। सभी सन्तों को कीर्तन बड़ा प्रिय था। उनका विश्वास था कि भगवान का गुणगान और उसके नाम का स्मरण करने से कर्म-बन्धन कट जाते हैं। प्रपति का अर्थ है शरणागति। प्रपत्ति को हिन्दू साधना में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उधर इस्लाम शब्द का अर्थ ही है प्रपत्ति। सन्तों की रचनाओं में भगवान की शरण में जाने के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं।

सारांश यह कि सन्तों के सहज धर्म का स्वरूप सब प्रकार से सरल, सात्विक, भावात्मक और बौद्धिक है। उसका अद्वैत दर्शन अनुभूति पर आधारित है और धार्मिक विश्वास बुद्धिवादिता पर। उनकी नैतिकता, सरलता, सात्विकता और मानव-धर्म से अनुप्राणित है और साधना मनोजय और प्रेम-भक्ति से। यही सन्तों का सहज धर्म है। यह मानव-धर्म या विश्व-धर्म नहीं तो और क्या है?

सुख बाहर नहीं, अंदर है

एक नगर के लोग बड़े दुखी थे। किसी के बच्चा नहीं था तो किसी के बहुत-से थे, किसी के पास काम नहीं था, तो कोई काम से पिस रहा था। मतलब यह कि किसी को कोई दुख था तो किसी को कोई, सारा नगर परेशान था।

अचानक एक दिन आकाशवाणी हुई कि लोग अपना-अपना दुख एक गठरी में बांधकर ले जायं और शहर के बाहर अमुक जगह पर पटककर वहां से सुख बांध लावें।

लोग बड़े खुश हुए। उन्होंने अपने दुख की गठरी बांधी और उसे लेकर चल दिये। रास्ते में देखते क्या हैं कि एक साधु बैठा खिलखिला कर हँस रहा है। लोगों ने कहा, "महाराज, आपको कोई दुख हो तो गठरी में बांधकर ले चलो और फेंककर सुख ले आओ।"

लेकिन साधु ने उनकी बात की ओर ध्यान नहीं दिया। उसी तरह हँसता रहा।

लोग दुख को फेंककर सुख को लेकर अपने-अपने घर लौट आये। शहर में सुख का साम्राज्य छा गया।

लेकिन मुश्किल से दो दिन बीते होंगे कि लोग फिर हैरानी अनुभव करने लगे। उनका पड़ोसी जितना सुखी है, वे उतने सुखी क्यों नहीं हैं? एक के पास इतना ज्यादा पैसा क्यों हैं? आदि-आदि बातों ने फिर दुख को बुला लिया।

पर उन्होंने देखा कि वह साधु उसी तरह मस्त था और उसी तरह हँसता खिलखिलाता था।

वे उनके पास गये और कहा, "महाराज, दुख हमारा पीछा नहीं छोड़ता। लेकिन आप इतने सुखी कैसे हैं?"

साधु बोला, "बात यह है कि तुम लोग सुख बाहर खोजते हो, पर वह सुख तो अपने अन्दर है।"

उस दिन से लोगों के हाथ सुख की कुंजी आ गई।

कला, सौन्दर्य एवं सृजन

जे० कृष्णमूर्त्ति

हममें से अधिकांश व्यक्ति स्वयं से पलायन करने का निरंतर प्रयत्न कर रहे हैं और चूंकि कला इसके लिए हमें प्रतिष्ठापूर्ण एवं सुलभ उपकरण प्रदान करती है, अतः अनेक व्यक्तियों के लिए कला असाधारण रूप से महत्वपूर्ण हो गई है। आत्म-विस्मरण की खोज में कुछ व्यक्ति कला की ओर मुड़ते हैं तो कुछ शराब की ओर तथा कुछ काल्पनिक व रहस्यपूर्ण धार्मिक सिद्धान्तों की ओर मुड़ जाते हैं।

जब हम जाने या अनजाने में किसी भी वस्तु का उपयोग स्वतः से पलायन के लिए करते हैं तब हम आवश्यक रूप से उससे बंध जाते हैं। अपनी मुसीबतों और अपनी चिन्ताओं से छुटकारा पाने के लिए जब हम किसी व्यक्ति, किसी कविता या किसी भी अन्य वस्तु के आश्रित हो जाते हैं तब भले ही हमें क्षणभर के लिए धन्यता महसूस हो, पर ऐसा कर हम और अधिक संघर्ष व और अधिक विरोध पैदा कर लेते हैं।

जहां संघर्ष है वहां सृजन असम्भव है। अतः वास्तविक शिक्षा का कार्य पलायन के उपकरणों की स्तुति करना नहीं अपितु व्यक्ति को जीवन की समस्याएं समझने में सहयोग करना है। सही शिक्षा व्यक्ति को संघर्ष समझने और उसे दूर करने में योग देती है। ऐसी शिक्षा में ही सृजन की सम्भावनाएं निहित हैं।

जीवन से छूटी हुई कला का कोई विशेष अर्थ नहीं है। जबतक कला हमारे दैनिक जीवन से अलग है, तबतक हमारे सहज स्वाभाविक जीवन में और हमारे द्वारा निर्मित मूर्तियों, कविताओं या चित्रों में फासला है तबतक कला हमारी केवल उन छिछली अभिलाषाओं को प्रकट करती रहेगी जो हम जीवन की कठोर वास्तविकताओं से बचने के लिए किया करते हैं। निःसन्देह इस फासले को मिटाना अत्यन्त कठिन है और विशेषकर उन व्यक्तियों के लिए जो बुद्धिमान हैं, विशेषज्ञ हैं; पर जीवन की समग्रता के लिए इसका समाप्त होना अनिवार्य है। तभी एक ऐसी कला के अंकुर फूट सकेंगे जो जीवन से ओतप्रोत होगी।

हमारा मन बड़ा विचित्र है। यह अनेक भ्रान्तियों को पैदा करने की क्षमता रखता है। अतः इसे समझने के पहले ही यदि हम किसी प्रेरणा की खोज करेंगे तो ऐसा कर हम केवल अपने-आपको धोखा देंगे। प्रेरणा बुलाने से नहीं आती है, उसका आगमन तो तब होता है जब हम उसके प्रति खुले रहते हैं। किसी भी उत्तेजना के माध्यम में प्रेरणा प्राप्त करने का अर्थ होगा गलत मान्यताओं को अपनाना।

जबतक हम जीवन के अर्थ को नहीं समझते तबतक हमारी क्षमता एवं प्रतिभा हमारे 'अहम्' के महत्व पर जोर देती रहेगी। हम अधिकाधिक खुदगर्ज एवं अधिकाधिक पृथक बनकर स्वयं को दूसरों से अलग व विशेष महत्वपूर्ण समझते रहेंगे; जिससे समाज में अनेक बुराइयां और कभी न समाप्त होनेवाले संघर्ष और दुख पैदा होंगे। हमारा यह 'अहम्' कितनी ही परस्पर विरोधी सत्ताओं की गठरी है। यह अनेक विसंगत वासनाओं की रण-भूमि और 'यह मेरा है', 'यह मेरा नहीं है' के सतत संघर्ष का केन्द्र है और जबतक हम इस 'अहम्' को इस 'मैं' और 'मेरे' को भावना कौ विशेष महत्व देते रहेंगे तबतक हमारा यह आन्तरिक और बाह्य संघर्ष बढ़ता ही रहेगा।

एक सच्चा कलाकार इस 'अहम्' के अभिमान एवं इसकी महत्वाकांक्षाओं से परे होता है। स्वयं को कुशलता से प्रकट कर सकने की क्षमता रखनेवाले प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति जब दुनिया के घिसेपिटे रास्तों पर चलने लग जाते हैं तब वह खुद अपने में अगणित विरोध व संघर्ष पैदा कर लेते हैं। जब हमें स्तुति व चापलूसी प्रभावित करने लगती

है तब हमारा 'अहम्' विस्तार पाता है और हमारी ग्रहण-शीलता कुण्ठित हो जाती है। सफलता की पूजा, फिर चाहे वह किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो, निश्चित रूप से हमारी बोधक्षमता में रुकावट डालनेवाली है।

हमारी कोई भी प्रवृत्ति या चतुराई, फिर चाहे वह कितनी ही प्रोत्साहित करनेवाली क्यों न हो, यदि हमें पृथक खड़ा कर देती है अथवा किसी भी रूप में आत्म-प्रसिद्धि पैदा करती है तो वह निश्चित रूप से हमारी संवेदन-क्षमता को मन्द कर हमें संवेदन-शून्य बनानेवाली है। जब प्रतिभा व्यक्तिगत बन जाती है, जब 'मैं' और 'मेरे' को ऊंचा स्थान दिया जाता है, जब कहा जाता है "यह मैंने चित्रित किया है", "यह मैंने लिखा है", "यह मैंने खोजा है" तब हमारी संवेदन-क्षमता अन्धी हो जाती है। जब हम वस्तुओं, व्यक्तियों और प्रकृति के साथ के अपने सम्बन्धों में उत्पन्न होनेवाले अपने प्रत्येक विचार, प्रत्येक अनुभूति के प्रति क्षण-क्षण सजग रहते हैं, जब हमारा मन खुला हुआ है, ग्रहणशील है और आत्म-सुरक्षा की इच्छाओं व प्रयत्नों से बंधा हुआ नहीं है तभी हममें संवेदन-क्षमता का आगमन होता है—एक ऐसी अहम्मुक्त संवेदन-क्षमता, जो सुन्दर व कुरूप दोनों के प्रति होती है।

इस संवेदन-शीलता का—सुन्दर व कुरूप दोनों के प्रति संवेदन-क्षमता का आगमन आसक्ति के माध्यम से नहीं हो सकता। इसका आगमन तो तब होता है, जब हममें प्रेम हो, स्वनिर्मित संघर्षों का अभाव हो। जब हम अन्दर से निर्धन होते हैं तभी हम स्वयं को हर तरह के बाहरी दिखावे, धन-सामर्थ्य और अधिकारों में उलझा लेते हैं। जब हमारे हृदय रीते होते हैं तभी हम वस्तुओं का संग्रह करते हैं। हम अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार अपने इर्द-गिर्द अनेक सुन्दर वस्तुओं का संग्रह कर लेते हैं और उन्हें अत्यधिक महत्व देकर हम विश्व में घना दुःख और विनाश फैलाने में कारणीभूत बनते हैं।

संग्रह-वृत्ति का यह अर्थ नहीं कि सुन्दरता के प्रति हमारा प्रेम है। यह तो आत्म-सुरक्षा की इच्छा से उत्पन्न होती है और सुरक्षित होने का अर्थ है संवेदन-शून्य होना। यह सुरक्षित होने की इच्छा ही हमारे भय का कारण है। यही इच्छा हममें इस अलगाव की प्रक्रिया को जन्म देती है, जो हमारे चारों ओर सुरक्षा की दीवारें खड़ा करती है और ये ही वे दीवारें हैं जो हमारी संवेदन-क्षमता नष्ट कर देती हैं। किसी भी वस्तु के, चाहे वह कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, ज्योंही हम अभ्यस्त हो जाते हैं त्योंही हमारे लिए उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है। कुछ ही समय पूर्व जो वस्तु आनन्दप्रद थी वही अब नीरस व बोझिल लगने लगती है। सौन्दर्य तो अभी भी उसमें है पर हम ही उसके प्रति खुले नहीं हैं। हमारे वही-वही थका देनेवाले रोजमर्रा के जीवन में यह सौन्दर्य विलीन हो जाता है।

चूंकि हमारे हृदय सूख गये हैं और हम यह भूल ही गये हैं कि कैसे दयालु हुआ जाता है, किस प्रकार ये वृक्ष, यह आसमान, ये सितारे, यह पानी की सतह पर प्रति-बिम्बित होनेवाली परछाइयां देखी जाती हैं। यही कारण है कि हम दिलबहलाव के लिए चित्र, जवाहरात, पुस्तकें आदि के रूप में सहस्रों उत्तेजनाएं चाहते हैं। हम निरन्तर नई-नई उत्तेजनाओं और नये-नये रोमांचों की खोज में लगे हैं। हम नई-नई संवेदनाओं के लिए तरसते हैं और ये संवे-दनाएं कभी समाप्त नहीं होतीं। हमारी ये उत्तेजनाएं और इनसे प्राप्त होनेवाली तृप्तियां हमारे हृदय और हमारे मन को थका देती हैं, सुस्त कर देती हैं। जहांतक हम इनके पीछे भागते रहेंगे वहांतक हमारे लिए सुन्दरता और कुरूपता का अत्यन्त छिछला अर्थ होगा। हम चिरन्तन आनन्द की अनुभूति तो तभी कर सकेंगे जब हम प्रत्येक वस्तु को क्षण-क्षण ताजगी के साथ देख सकने की क्षमता प्राप्त कर सकेंगे और यह तबतक सम्भव नहीं है जबतक कि हम अपनी वासनाओं से बंधे हुए हैं। इन उत्तेजनाओं और तृप्तियों के लिए हमारी आतुरता ही हमें क्षण-क्षण होनेवाली नूतन अनुभूति से वंचित करती है। ये उत्तेज-नाएं खरीदी जा सकती हैं पर यह प्रेम—सुन्दरता के प्रति प्रेम नहीं खरीदा जा सकता है।

जब हम अपने हृदय और मन के इस रीतेपन के प्रति सजग हों, किसी उत्तेजना या संवेदना के माध्यम से इससे पलायन न करें, इसके प्रति पूर्णतया खुले हों, अत्यन्त संवे-दनक्षम हों, केवल तभी सृजन सम्भव है तभी हम आनन्द की अनुभूति कर पाते हैं। अन्तर को पूर्णतया समझे बिना ही जब हम बाहरी सुधार करने में लग जाते हैं तब हम

निश्चित रूप से ऐसे जीवन-मूल्यों की रचना कर बैठते हैं जो मानव को विनाश और पीड़ा की ओर उन्मुख करते हैं।

किसी कुशलता का सम्पादन कर भले ही हम कोई व्यवसाय प्राप्त कर लें, लेकिन ऐसा कर हम सृष्टा नहीं बन सकते। इसके विपरीत यदि हममें आनन्द है, सृजन की ज्वलन्त प्यास है तो यह निश्चित ही प्रकट होकर ही रहेगी, भले ही हमें इसके लिए आवश्यक तरीकों का ज्ञान न भी हो। जब कोई सचमुच कविता लिखना चाहता है तो वह लिख ही लेता है। इसके विपरीत यदि कोई छन्द-शास्त्र का ज्ञाता है, लेकिन उसका हृदय यदि रिक्त है तो क्या वह कविता लिख सकेगा ? जब हमारा हृदय प्रेम से परिपूर्ण है तब हमें शब्द नहीं ढूंढ़ने पड़ते हैं वे तो अपने-आप ही फूट पड़ते हैं।

महान् कलाकार व महान् लेखक भले ही सृष्टा रहे हों पर हम तो सृष्टा नहीं हैं। हम तो दर्शक मात्र हैं। हम अगणित पुस्तकें पढ़ते हैं, अलौकिक संगीत सुनते हैं, भव्य कलाकृतियां देखते हैं; पर हम स्वयम् प्रत्यक्ष रूप में उस दिव्यता की अनुभूति नहीं करते हैं। हमारी अनुभूति तो सदैव किसी-न-किसीके माध्यम से होती है, फिर वह माध्यम चाहे कोई कविता हो, चित्र हो अथवा किसी सन्त का व्यक्तित्व। संगीत की सृष्टि के लिए यह आवश्यक है कि हमारा हृदय संगीत से परिपूर्ण हो; पर चूंकि हमने अपने हृदय का संगीत खो दिया है अत: संगीतज्ञों का पीछा किये जा रहे हैं। माध्यम की अनुपस्थिति में हमें खोया-खोया-सा लगता है। लेकिन सत्य की खोज के लिए हमें स्वयम् को खोना ही होगा। वह खोज ही सृजन की बुनियाद है और सृजन के अभाव में हम आनन्द और शांति को उपलब्ध नहीं कर सकते, भले ही इसके लिए चाहे कितने ही प्रयत्न क्यों न कर लें।

हमारी धारणा है कि हम कोई तरीका या कोई शैली या कोई कला सीखकर सृजनात्मक आनन्द को प्राप्त कर लेंगे। लेकिन हमारी आन्तरिक समृद्धि के अभाव में यह आनन्दानुभूति असम्भव है और यह सम्पन्नता हम किसी भी माध्यम से नहीं प्राप्त कर सकते। यह तथाकथित आत्म-सुधार भी इस "मैं" और "मेरे" की सुरक्षा का साधन मात्र है। इससे न तो सृजन फलित होता है और न प्रेम-सौन्दर्य के प्रति फलित होता है प्रेम। जब हम मन की प्रत्येक क्रिया के प्रति, इसके द्वारा निर्मित की गई समस्त रुकावटों के प्रति क्षण-क्षण सजग रहते हैं तभी इस सृजनावस्था का आगमन होता है।

सृजन के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता का आगमन आत्म-ज्ञान के साथ ही होता है; पर यह आत्म-ज्ञान कोई ईश्वरीय देन नहीं है। सृजन के लिए किसी विशेष प्रतिभा की आवश्यकता नहीं है। यह तो एक ऐसी अवस्था है जहां न तो व्यक्तिगत संघर्ष है और न व्यक्तिगत दु:ख और जहां मन अपनी इच्छाओं और प्रयत्नों की दौड़ से परे है।

सृष्टा होने का केवल यह अर्थ नहीं कि हम कविताएं रच लें या बच्चे पैदा कर लें या सम्मान प्राप्त कर लें। सृजनशील होने का अर्थ है एक ऐसी अवस्था में रहना जहां सत्य के अंकुर प्रस्फुटित होते हैं। विचारों के विसर्जन के साथ ही सत्य का आगमन होता है और विचार तभी विसर्जित होते हैं जब हमारा यह 'अहम्', हमारी यह मन की दौड़ विलीन हो जाती है।

हमारा यह सुन्दरता के प्रति प्रेम किसी भी रूप में अभिव्यक्त हो सकता है—किसी संगीत में, किसी मुस्कान में या किसी मौन में। पर मुश्किल तो यह है कि हममें से अधिकांश व्यक्ति मौन रहना ही नहीं चाहते हैं। हम तो अपने सुख और अपने प्रयत्नों की दौड़ में इतने व्यस्त हैं कि आसमान में उड़नेवाले पक्षियों और गुजरते हुए बादलों को देख भी नहीं पाते हैं। जब हमारे ही हृदय में सौन्दर्य नहीं है तो हम युवकों को किस प्रकार सौन्दर्य के प्रति सजग एवं संवेदनक्षम होने में सहायता दे सकेंगे ? हम तो कुरूपता का तिरस्कार करते हुए सौन्दर्य के प्रति संवेदनशील बनने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु यह हमारा कुरूपता के प्रति तिरस्कार ही हमें संवेदनशून्य बना देता। यदि हम युवकों में यह संवेदन-क्षमता जागृत करना चाहते हैं तो हमें स्वयम् संवेदनक्षम होना होगा। हमें उस सुषुप्त आनन्द को जगाने का हर क्षण प्रयत्न करना होगा जिसकी अनुभूति केवल मानव-निर्मित सौन्दर्य के दर्शन से ही नहीं अपितु विराट् प्रकृति-दर्शन से भी होती है।[1]

अनु०—सुन्दरलाल बी. मल्हारा

१. प्रो० जे० कृष्णमूर्ति की 'एजुकेशन एण्ड दी सिगनीफिकेंस ऑफ लाइफ' के आठवें अध्याय का हिन्दी-रूपान्तर।

प्रार्थना का महत्व और वैष्णव धर्म

लक्ष्मी देवदास गांधी

पादरी चार्ल्स एंड्रूज साहब ने 'क्राइस्ट इन दी साइलेंस' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है :

"हम सबको प्रतिदिन उठते ही प्रभु का ध्यान करना चाहिए। थोड़ी देर मौन प्रार्थना करनी चाहिए। परमात्मा के साथ इस प्रकार का निकट सम्बन्ध नित्य अवश्य होना चाहिए। उसमें अड़चनें जरूर आयंगी। उनको हटाना आसान भी नहीं होगा। फिर भी सुबह की प्रार्थना को एक नियम बना लें तो हमें दिनभर के कामकाज के लिए प्रेरणा मिलेगी। उसके बाद नित्य के कामकाज में उत्साह के साथ, निश्चितता के साथ, लग सकते हैं।

"दिन के काम-धन्धों से निवृत्ति पाकर जब रात को सोने लगते हैं तब भी हमें कुछ आत्म-निरीक्षण करना होगा। यदि हमसे कुछ अपराध हो गया हो तो उसके लिए और कुछ कमजोरी आ गई हो तो उसके लिए भी परमपिता से क्षमा-याचना करनी चाहिए।"

पादरी एंड्रूजसाहब के ये वाक्य अनुसरण करने योग्य हैं। विनम्र प्रार्थना से हमारा उद्धार अवश्य होगा।

जैसे-जैसे हम ज्ञान की ओर आगे बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे हमारी श्रद्धा कम होती दिखाई दे रही है। यह दुःख की बात है। परमात्मा के प्रति श्रद्धा और वैज्ञानिक प्रगति परस्पर विरोधी क्यों बनें? मनुष्य-जाति के लिए प्रभु ने मस्तिष्क का एक बहुत ही उत्कृष्ट वरदान दिया है। बुद्धिबल से हमने प्रभु के विश्वव्यापी चमत्कारों का कुछ-कुछ प्रकाश इधर-उधर पाया है। वैज्ञानिक प्रयोगों से जब-जब रहस्यों का उद्घाटन होता है, तब-तब उस महान सृष्टिकर्ता के प्रति हमें श्रद्धांजलि अर्पित करनी चाहिए। यह न सोचने लग जायं कि हम ही सृष्टिकर्ता हैं।

परमपूज्य बापू आधुनिक युग के ही थे। पाश्चात्य शिक्षा उन्होंने पाई थी। बापू प्रार्थना में अटूट विश्वास रखते थे। हमेशा सुबह-शाम प्रार्थना करते थे। बीमार हों या स्वस्थ, प्रवास में हों या घर पर या कारावास में, अपनी प्रार्थना से वह कभी नहीं चूके। प्रार्थना से उन्हें कठिन-से-कठिन समस्याओं को हल करने की, अपने सिद्धांतों को अमल में लाने की अद्भुत शक्ति मिल जाती थी। बापूजी का बहुत प्रिय भजन सन्त नरसी मेहता का 'वैष्णव जन' था। उस भजन में सन्त नरसी मेहता कहते हैं कि सच्चे वैष्णव के लक्षण होते हैं, दूसरे के दुःख से दुखी होकर उसकी सहायता करना, अपनी की हुई सहायता पर अभिमान न करना, सबके साथ विनम्र बर्ताव, दूसरों की बुराई न करना, अपनेको स्थिर रखना, दूसरी स्त्रियों के साथ शुद्ध आचरण करना, चोरी और कपट-लोभ से मुक्त होकर ईश्वर की भक्ति करना।

यदि इन बातों का सचाई से पालन करें तो ईश्वर उसीको सच्ची प्रार्थना के रूप में स्वीकार कर सकता है। किन्तु प्रार्थना और भक्ति के बिना सच्चा वैष्णव बनना कठिन है।

सन्त नरसी मेहता का वैष्णव केवल अपनेको परमार्थ की ओर नहीं ले जाता, बल्कि जिस दुनिया में हम सब वास करते हैं, उसीको स्वर्ग बना देता है।

आज के द्वेष, हिंसा और दुराचार से भरे युग में नरसी मेहता के वैष्णव सिद्धांत की बहुत ही आवश्यकता है।

गौड़ीय वैष्णव धर्म और लौकिक व्यवहार

राधागोविन्द नाथ

●

कृष्ण, राम, नृसिंह, शिव, दुर्गा, परमात्मा, शास्त्रविहित निर्विशेष ब्रह्म प्रभृति विभिन्न उपासक सम्प्रदाय के उपास्य होते हैं। गौड़ीय वैष्णव शास्त्र के मत से इन सब उपास्यों के बीच स्वरूपगत कोई भी पृथकता नहीं है। ये सभी परतत्व वस्तु—स्वयं भगवान के विभिन्न स्वरूप हैं। अतएव इनमें कोई भेद नहीं है। भेद मानने से अपराध होता है। परतत्व वस्तु एक ही विग्रह से विभिन्न स्वरूपों में नित्य विराजमान हैं, विभिन्न साधकों को कृतार्थ करने के निमित्त। साकार जो हैं, निराकार भी वे ही हैं; जो सविशेष हैं, निर्विशेष भी वे ही हैं। अतएव सभी स्वरूप सच्चिदानन्द हैं, सभी स्वरूप नित्य हैं, सभी स्वरूपों में परमार्थिक नित्यता है।

सब नहीं तो समाज के अधिकांश लोग भी इसका अनुसरण कर सकें तो यह वाद-विसम्वादमय संसार शान्तिमय बन सकता है। सब वाद-विसम्वाद एवं अशान्तिमय संघर्षों का मूल हेतु है अभिमान। **'जीवे सम्मान दिबे जानि कृष्णेर अधिष्ठान', 'सर्वोत्तम आपना के हेय करि माने', 'अमानि किन्तु मानद हइबे', 'प्राणिमात्रे मनोवाक्ये उद्वेग ना दिबे।'** अर्थात् श्रीकृष्ण का अधिष्ठान मानकर जीव मात्र को सम्मान दो, सर्वश्रेष्ठ होकर भी अपनेको तुच्छ मानो, स्वयं अमानी और दूसरे को मान देनेवाले बनो, प्राणिमात्र को वचन से, मन से भी उद्वेग न पहुंचाओ इत्यादि। ऐसी शिक्षा जहां हो, वहां किसी भी प्रकार का अभिमान नहीं रह सकता।

कई लोग ऐसा मानते हैं कि वैष्णव सम्प्रदाय के उल्लिखित उपदेश लोगों में क्लिवत्व (नपुंसकता) ला देते हैं और मनुष्यता के विकास में प्रतिबन्धक हैं। जो ऐसा कहते हैं, प्रतीत होता है, वे एक मात्र शारीरिक सामर्थ्य को मनुष्यता की सच्ची भित्ति समझते हैं। किन्तु निरपेक्ष भाव से विचार करने पर वे भी—अपने मन का गुरुत्व कितना है—इस बात को समझ जायंगे, ऐसा लगता है। शारीरिक सामर्थ्य का प्रयोग मनुष्य की विशेषता नहीं है, पशुओं में भी वह देखने में आती है; प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिए पशुगण भी अपने शारीरिक सामर्थ्य का प्रकाश करते हैं। उनमें और किसी प्रकार की सामर्थ्य नहीं है इसलिए शारीरिक सामर्थ्य को पशु-शक्ति भी कहा जाता है। मनुष्य की विशेषता होती है पारमार्थिक एवं नैतिक सामर्थ्य। यह और किसी जीव में दृष्टिगोचर नहीं होती। पारमार्थिक एवं नैतिक सामर्थ्य का प्रभाव पशु-शक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक है। शारीरिक सामर्थ्य से अर्थात् पशु-शक्ति से दूसरे के देह को नियन्त्रण में रखा जा सकता है, लेकिन चित्त को वशीभूत नहीं किया जा सकता। पारमार्थिक एवं नैतिक सामर्थ्य से ही देह, मन—दोनों को सब प्रकार से वश में किया जा सकता है। श्री चैतन्य भागवत से जाना जाता है कि जब मुलुकपति के आदेश से उसके अनुचर ठाकुर हरिदास के प्रति निर्मम अत्याचार कर रहे थे, तब ठाकुर हरिदास ने अपने शारीरिक सामर्थ्य से उनके काम में बाधा देने की चेष्टा नहीं की। उन्होंने केवल भगवान के निकट प्रार्थना की थी कि मुलुकपति या उसके अनुचर लोगों का किसीका अमंगल न हो। इसके फलस्वरूप उनके मन का परिवर्तन हो गया। मुलुकपति भी हरिदास के प्रति आन्तरिक श्रद्धा प्रदर्शन करने लगे। अत्याचारीगण महात्मा यीशु को क्रुशविद्ध कर रहे थे, तब उन्होंने उनके लिए केवल भगवान से क्षमा प्रार्थना की थी। उसका फल क्या निकला, वह सबको पता ही है। वास्तविक विजय महात्मा यीशु की ही हुई। इन दो महात्माओं की जो बात यहां सुनाई गई, उसमें उनका आचरण क्या क्लैव्य सूचक है। अथवा मनुष्यत्व विरोधी है? मनुष्य की विशेषता जब पारमार्थिक एवं नैतिक सामर्थ्य है, तब जो कुछ

भी ऐसी सामर्थ्य के विकास के अनुकूल होगा वही होगा मनुष्यत्व विकास का एवं सच्ची शक्ति-विकास का सहायक। पशुशक्ति उसके अनुकूल नहीं हो सकती।

लौकिक व्यवहार की उल्लिखित नीति केवल गौड़ीय सम्प्रदाय की ही सम्पत्ति हो, यह मानना भी संगत नहीं होगा। सभी सत्यदर्शी इस प्रकार का उपदेश दे गये हैं। महात्मा यीशु ने भी कहा है—"दूसरे से अपने प्रति जैसा व्यवहार तुम चाहो, वैसा ही व्यवहार तुम दूसरे के प्रति करो। तुम्हारे एक गाल पर कोई थप्पड़ लगावे तो तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर देना।" ये सब क्लैव्य के लक्षण नहीं है, पारमार्थिक एवं नैतिक शक्ति के एवं सच्ची मनुष्यता के ही परिचायक हैं।

आचरण के लिए एक मात्र भित्ति होती है ईश्वर में विश्वास। जहां इस विश्वास का अभाव होगा, वहां उल्लिखित आचरण असम्भव कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। कहीं-कहीं पर वैसा बाह्य आचरण दीख पड़ने पर भी मन के भावों के साथ उसकी संगति नहीं रह सकती, क्योंकि अन्य के प्रति असंगत आचरण का हेतु आचरणकारी का किसी-न-किसी रूप में अभिमान ही होता है। सब प्रकार के अभिमान में माया का प्रभाव ही हेतु होता है। जीव अपनी चेष्टा से माया को दूर नहीं हटा सकता, भगवान के आनुगत्य स्वीकार करने पर ही माया और माया के प्रभाव से निवृत्ति मिल सकती है। यह बात श्रीकृष्ण ने भी गीता में कही है—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"

सर्वशक्तिमान, सर्वद्रष्टा, सर्वनियंता, सर्वज्ञ, सर्व-ऐश्वर्य-पति भगवान के नित्य अस्तित्व में जिनका विश्वास है, वे कभी भी अपने-आपको किसी भी विषय में सर्वश्रेष्ठ नहीं मान सकते, वैसा कोई भी अभिमान उनके चित्त में स्थान नहीं पा सकता; कभी कदाचित दैवसंयोग से इस प्रकार के अभिमान का उदय हो भी जाय, तो भगवान की बात का स्मरण करते ही वह अभिमान दूर हो जायगा। इस प्रकार भगवान के अस्तित्व में जिनका विश्वास नहीं, वे ही अपने-आपको किसी विषय में सर्वश्रेष्ठ मान सकते हैं एवं वैसे आचरण में भी प्रवृत्त हो सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप अशान्ति एवं उपद्रव की सृष्टि ही होगी, शान्ति नहीं मिल सकती।

महात्मा यीशु ने कहा है कि उनके उपदेश पर आचरण करने से लोग इस पृथ्वी पर ही भगवान का राजत्व देख पायेंगे। भगवान को बाद देकर भगवान के राजत्व की बात उन्होंने नहीं कही, वह हो भी नहीं सकती।

आजकल कई लोग महात्मा गांधी की नीति का अनुसरण करने की बात कहते हैं। उनके द्वारा प्रदर्शित नीति महिमामयी है, इसमें संदेह नहीं। पूर्वोलिखित नीति का ही उन्होंने प्रसार किया है, किन्तु उनकी आचरित एवं प्रचारित नीति की मूल भित्ति तो ईश्वर में विश्वास है। वह बात लोगों ने जन-सामान्य में प्रचारित नहीं की। भगवान में महात्माजी का सुदृढ़ विश्वास था। वह अविचल भाव से भगवद्भजन किया करते थे। भगवान में दृढ़ विश्वास की प्रयोजनीयता की बात साधारण लोगों को बताने के उद्देश्य से वह प्रार्थना-सभा का अनुष्ठान किया करते थे।

वास्तव में जहां भगवान के विश्वास का अभाव है, वहीं उद्वेग, अशान्ति है; वहीं परायेपन, पराये राज्य की लालसा रहती है; वहीं परस्पर के प्रति अविश्वास है, सच्चे बंधुओं का अभाव है; वहीं युद्ध-विग्रह की आशंका है।

जड़वाद के प्रभाव से आजकल ईश्वर-विमुखता का ही सब जगह बाहुल्य देखने में आता है, यहांतक कि राष्ट्र-नायकों के बीच भी कई जगह ऐसा है। इसीके फलस्वरूप अनवरत युद्ध-विग्रह की आशंका देखने में आती है। कोई भी युद्ध-विग्रह नहीं चाहता; उससे विरत रहने की ही बात सब लोग कहते हैं। किन्तु उनमें किसी-किसीका भाव इस प्रकार का है—"हमारी अधीनता स्वीकार कर लो, हम युद्ध नहीं करेंगे।" कोई-कोई अपने युद्धकौशल एवं युद्ध-यन्त्रों की महिमा का प्रचार करके दूसरे के मन में त्रास उत्पन्न करके युद्ध-विरति चाहते हैं। किन्तु यह युद्ध-विरति का सच्चा प्रयास नहीं है। जिस मनोवृत्ति के फल से युद्ध-विग्रह की आशंका है, उसमें वह मनोवृत्ति बनी रहती है। कोई-कोई अनेक प्रकार के 'शील' की बातों का प्रचार करते हैं। वह भी अच्छा है। किन्तु भगवद्विश्वास को बाद देकर केवल 'बाह्य शील' युद्धविग्रह की मनोवृत्तिरूपी व्याधि

की श्रेष्ठ ओषधि नहीं हो सकती। इस 'शील' के अणुसृत होने से युद्धविग्रह की आशंका दूर हो सकती है, यह ठीक है; किन्तु युद्ध-विग्रह की भित्ति की जो मनोवृत्ति है, वह दूर हो जायगी, इसमें सन्देह है। युद्ध छिड़ जाने से हमारी विजय होगी या नहीं, इस प्रकार का संशय जहां हो, वहां भी यह हो सकता है कि बाहर से 'शील' की महिमा स्वीकार करके युद्ध से विरति दिखाई दे, किन्तु अपनी विजय के लिए सब सन्देह जाता रहेगा, तब फिर युद्ध छेड़ा जा सकता है। यदि ईश्वर में विश्वास उत्पन्न हो जाय, तो ही 'स्नायु-युद्ध' की या 'शीतयुद्ध' की आशंका भी दूर होनी संभव है।[1]

१. श्री राधागोविन्दनाथ के 'गौड़ीय वैष्णव दर्शन' नामक बंगला ग्रन्थ के पहले खण्ड की भूमिका के एक अंश से अनूदित

बाह्य और आंतरिक शुद्धि

आचार्य तुलसी

वास्तव में वे ही शुद्ध हो सकते हैं और शुद्ध कर सकते हैं, जिनका स्वयं का जीवन उठा हो। किसी पानी में स्नान करने से ही आत्मा उज्ज्वल नहीं हो सकती। व्यक्ति आत्म-रमण करे, त्याग और संयमरूपी जल से स्नान करे तभी आत्मा उज्ज्वल होती है। जल से ऊपरी शुद्धि हो सकती है, आन्तरिक नहीं। मुझे श्रीकृष्ण की एक युक्ति याद आती है। महाभारत की एक घटना है। गोत्र का नाश करनेवाले पाण्डवों ने सोचा—हमने बहुत पाप किया है, अब तीर्थ कर आयें। पापों को धो आयें। वे श्रीकृष्ण के पास आये। उनके सामने अपने विचार प्रकट किये। श्रीकृष्ण ने कहा, "ठीक है, मेरी एक तूम्बी ले जाओ, उसे भी स्नान करा लाना।" पाण्डव जहां एक बार स्नान करते, तूम्बी को वहां तीन बार नहलाते।

वे वापस लोटे। श्रीकृष्ण के पास आये। श्रीकृष्ण ने पूछा, "स्नान कर आये?"

उत्तर मिला, "जीहां।"

"मेरी तूम्बी?" श्रीकृष्ण ने पूछा।

पाण्डवों ने तूम्बी उन्हें दे दी। श्रीकृष्ण ने उसे उनके सामने काटा, पीसा और सबको थोड़ी-थोड़ी दी। पाण्डवों ने कहा, "क्यों मुख खारा करवाते हो?"

श्रीकृष्ण ने कहा, "मुख खारा थोड़े ही होगा।"

पाण्डवों ने ज्योंही तूम्बी मुंह में डाली, स्वभावतः खारापन अनुभूत हुआ। उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा। श्रीकृष्ण बोले, "वाह! तूम्बी तीर्थ कर आई है न? फिर कैसे खारी है? क्या तुमने स्नान नहीं कराया?"

पाण्डवों ने कहा, "इसके अन्दर का खारापन कैसे जायगा?"

श्रीकृष्ण ने कहा, "तीर्थ-स्नान तो कर आये, पर भीतर के पाप कैसे मिटेंगे?"

पाण्डवों की समझ में सब बातें आ गईं। उन्होंने कहा, "पहले ही तो कहना था, ताकि हम नहीं जाते।"

श्रीकृष्ण ने कहा, "यह उस समय सम्भव नहीं था।"

"तो अब क्या करना चाहिए?" पाण्डु-पुत्रों ने पूछा।

श्रीकृष्ण ने कहा, "संयम, तप, इन्द्रिय-दमन। जिस प्रकार ऊपर से रगड़ने से मैल साफ हो जाता है, उसी तरह ये अन्दर के कालुष्य को साफ कर देते हैं।"

सदाचार और संयम की ओर बढ़ो। सत्य और अहिंसा को अपनाओ। चोरी मत करो। आत्म-रमण करो। किसीको गाली मत दो, किसीके साथ क्रूर व्यवहार मत करो, सबको आत्म-तुल्य समझो। जीवन में आई इन बुराइयों को मिटा दो। जीवन की दिशा बदल दो। उसे एक नये सांचे में ढाल दो।

बंगाल के वैष्णव साहित्य में एकपत्नीव्रत

मन्मथनाथ गुप्त

बंगाल का सन्त और भक्ति-साहित्य हिन्दी की ही तरह ऐश्वर्यशाली है और उसके पीछे वही विचारधारा तथा उसमें वही विविधता दृष्टिगोचर होती है, जो हिन्दी में है। वह वही उद्देश्य भी सिद्ध करता है यानी आम जनता तक साहित्य, सौन्दर्य, सेक्स, समाज पर विचार पहुंचाना तथा उनमें एक प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करना, ताकि किसी विशेष स्थिति में एक ही प्रतिक्रिया उत्पन्न हो। इस प्रकार इस साहित्य ने न केवल भाषा-निर्माण किया, बल्कि एकता का निर्माण किया, जो धीरे-धीरे राष्ट्रीयता की सामग्री बन गया। अवश्य यह सारा कार्य ही एक धर्म माननेवाले लोगों तक ही सीमित रहा।

एकपत्नीव्रत का आदर्श भारत में अब सर्वमान्य हो चुका है। ऐसा निश्चित रूप से पाश्चात्य समाज-चिन्तन के कारण हुआ है, फिर भी कानूनी रूप से भारत में यह विचार मुसलमानों पर लागू नहीं किया जा रहा है। शायद इसके पीछे यह विचार है कि ऐसा करना उचित नहीं होगा, क्योंकि यह मुसलमानों के धार्मिक शास्त्रों के विरुद्ध पड़ता है। हम यहां इस बहस में नहीं पड़ेंगे कि धर्मनिरपेक्ष राज्य के लिए इस प्रकार से लोगों के धार्मिक संस्कारों को चोट न पहुंचाने के डर से हजारों बल्कि करोड़ों मुस्लिम स्त्रियों को उन प्राथमिक अधिकारों से वंचित करना, जो उनकी हिन्दू तथा ईसाई बहनों को प्राप्त हैं, कहांतक उचित है या अनुचित है।

मध्य युग में धार्मिक साहित्य ही एकमात्र साहित्य था, जो जनता तक पहुंचता था। मध्ययुगीन धार्मिक साहित्य में अवश्य ही यह उल्लेख खुलकर कहीं देखने को नहीं मिलता कि एकपत्नीव्रत कोई आदर्श भी है। बात यह है कि हमारे समाज में नहीं, उस समय सारे संसार का समाज पुरुष-प्रधान समाज था। एकपत्नीव्रत बहुत बाद की धारा है। हमारी भारतीय भाषाओं में बाइगैमी ऐसा कोई शब्द नहीं था, न किसीको बाइगैमिस्ट कहने से वह चौंक पड़ता था। अवश्य ही स्त्रियों के लिए एक से अधिक पति करने की प्रथा को, सिवा कुछ लोगों के जैसे जौनसार-बावर के, जहां वह सामाजिक-आर्थिक कारणों से चुपके-चुपके प्रचलित थी, साहित्य और समाज में कोई मान्यता प्राप्त नहीं थी।

बंगाल के मध्ययुगीन धार्मिक साहित्य में दो अवतारों के इर्द-गिर्द सारी रचनाएं प्रस्तुत की गई हैं। एक कृष्ण, जिन्हें पूर्ण अवतार माना गया है और एक राम। इस संबंध में एक बात और बता दी जाय कि पहले वैष्णव धर्म में सीधे-सीधे विष्णु की पूजा होती थी और उसका उद्देश्य मुक्ति माना गया था, बाद को कृष्ण की पूजा होने लगी और उसका उद्देश्य भक्ति माना गया, ऐसा डाक्टर सुकुमार सेन का विचार है।

इस सम्बन्ध में और एक मजेदार बात यह है कि जहां तक बंगाल का सम्बन्ध है, कृष्ण-पूजा अधिक प्राचीन है। रामपूजा या राम की उपासना बहुत बाद को प्रचलित हुई, ऐसा मालूम होता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि प्राचीन बंगला साहित्य में कृष्ण का नाम कान्ह या कान्हाई, राधिका का नाम राई, अभिमन्यु का नाम आयान, गोपियों तथा गोपिकाओं का उल्लेख गोई या गुई के रूप में, सखियों का नाम जैसे लोभना का नाम लहना और विह्वला का नाम बेहला इस रूप में प्रचलित है, जबकि इसके विपरीत युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, द्रौपदी, राम, सीता इत्यादि महाभारत, रामायण के नाम तत्सम यानी अपने संस्कृत रूप में ही बंगाल के प्राचीन साहित्य में प्रचलित हैं। इससे यह अनुमान किया गया है कि कृष्ण तथा उससे सम्बन्धित कहानियां धारावाहिक रूप से प्राकृत, अपभ्रंश,

अवहट्ट और प्राचीन बंगला के जरिये से आये हैं। पर राम-उपासना के तत्सम नाम सीधे-सीधे संस्कृत से आये हैं।

पहले कृष्ण की पूजा आई और बाद को राम की पूजा आई, अतः पहले कृष्ण-साहित्य और उसके बाद राम का साहित्य आया। इससे कई अन्य निष्कर्ष निकलते हैं, उनमें एक निष्कर्ष यह है कि पहले किसी भी प्रकार यानी किसी रूप में भी एकपत्नीव्रत का कोई प्रश्न नहीं था। अब हम थोड़े में यह दिखलायेंगे कि प्राचीन बंगला के वैष्णव साहित्य में कृष्ण का रूप किस प्रकार आया है और राम का रूप बिल्कुल दूसरे रूप में आया है। कृष्ण उस समय के समाज के अधिक निकट मालूम होते हैं और उसमें एकपत्नीव्रत का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, बल्कि कृष्ण का जो रूप तरह-तरह से साहित्य के जरिये सामने आया है, वह यों कहना चाहिए कि एक भ्रमर-वृत्तिवाले साधारण पुरुष का रूप है।

श्रीकृष्णकीर्तन बंगला की काफी प्राचीन कृति मानी जाती है और यह विद्यापति से कुछ प्राचीन ही है। यहां यह बता दिया जाय कि विद्यापति को बंगाली लोग अपना आदि कवि मानते हैं, पर वह असल में मैथिल के कवि हैं, पर उनकी कुछ मैथिल रचनाओं का इस तरह बंगीकरण किया गया है कि उनके सम्बन्ध में यह पता ही नहीं लगता कि वे मैथिल की रचनाएं थीं। जो कुछ भी हो, कृष्ण-कीर्तन में कृष्ण का जो रूप है उसका हम थोड़ा-सा वर्णन पाठकों के सामने रख देते हैं। इस काव्य, बल्कि गीत-संग्रह में कृष्ण के जन्म की वह कहानी है जो सर्वत्र प्रचलित है यानी कंस को यह पता लगा कि देवकी के गर्भ में से उस व्यक्ति का जन्म होगा, जो कंस का विनाश करेगा। उसने देवकी के सारे बच्चों को मार डाला, पर कृष्ण बच गये और वह बढ़कर जवान हो गये। हमें यहां कृष्ण के कंस वध के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है और सच बात तो यह है कि कृष्णकीर्तन में उसको विशेष महत्व भी नहीं दिया गया है। कथा यों है :

राधा की शादी आइह्न नाम नपुंसक के साथ हुई थी। राधा की रक्षा के लिए एक बुढ़िया बड़ाई नियुक्त हुई थी। राधा जब-तब बड़ाई के साथ मथुरा में जाकर दही-दूध बेचा करती थी। किसी कारण से एक दिन राधा पीछे रह गई और बड़ाई दूसरे रास्ते से राधा को खोजती-खोजती कृष्ण का दर्शन पा गई। कृष्ण गाय चरा रहे थे। बड़ाई ने पूछा कि क्या तुमने राधा को देखा है ? राधा खो गई है। तब कृष्ण ने पूछा कि राधा कौन है तो बड़ाई ने उसके रूप का बिल्कुल शास्त्रीय वर्णन किया। बड़ाई के मुंह से राधा के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर कृष्ण राधा के प्रेम में पड़ गये और वह बड़ाई से बोले कि मेरे साथ राधा का मिलन करा दो। बड़ाई इसपर राजी हो गई और बोली, "मुझे कुछ फूल और पान दे दो, मैं तुम्हारा सन्देश ले जाऊंगी। इसपर कृष्ण ने बड़ाई के हाथ में कपूर से सुगन्धित पान और चम्पा नागेश्वर आदि फूलों की माला दी और साथ ही अपना प्रेम-सन्देश भेज दिया। बड़ाई ने जाकर वह प्रेम-सन्देश दे दिया, पर राधा इसपर राजी नहीं हुई और कहती रही कि यह उचित नहीं है, यह गलत बात है।

बाद को कृष्ण और राधा की भेंट हुई तो कृष्ण ने, जैसाकि श्री सुकुमार सेन ने दिखलाया है, राधा से यह कह दिया कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम पराई स्त्री हो, पर प्रेम होनेपर पर-स्त्री-गमन में कोई दोष नहीं है। इसपर भी राधा ने कृष्ण की बात नहीं मानी। सारे गीतों में इसी प्रकार यह दिखलाया है कि राधा कृष्ण से प्रेम से इन्कार कर रही है और कृष्ण उसके पीछे पड़े हुए हैं। बड़ाई बराबर कृष्ण का पक्ष ले रही है और वह कोई मौका ऐसा बना देती है जबकि कृष्ण की भेंट राधा से हो जाती है। राधा एक बार वन में गई, पर कृष्ण ने जाकर आगे से रास्ता रोक लिया। उस समय बड़ाई उसके साथ थी, पर वह चली गई। कृष्ण ने राधा की आंखें पोंछकर उससे प्रेम-निवेदन किया। फिर दोनों में बातचीत हुई। कृष्ण ने प्रेम-निवेदन किया और राधा ने उसका घोर विरोध किया। अन्त में कवि ने यह दिखलाया है कि थकी-मांदी राधा ने यह समझकर कि दैव को यही मंजूर है, और अनिच्छा के साथ कृष्ण को आत्म-समर्पण कर दिया। इसीको कृष्ण-कीर्तन का तृतीय खण्ड, यानी दानखण्ड कहा गया है।

इसके बाद राधा फिर हाथ नहीं आई। तब बड़ाई ने ऐसा प्रबन्ध किया कि नाव से नदी पार करना पड़े। एक-एक करके स्त्रियों को पार किया जाता था क्योंकि नाव छोटी थी। एक-एक करके दूसरी सखियां पार हो गईं, जब

अंत में राधा की बारी आई तो राधा ने पहचान लिया कि यह नाव खेनेवाले और कोई नहीं कृष्ण ही हैं। दोनों में इसपर बड़ा तर्क-वितर्क हुआ। कृष्ण ने कहा कि अब पार होना कठिन दिखाई पड़ रहा है। फिर भी दोनों नाव पर चढ़ गये। कृष्ण ने चालाकी से नाव को इस तरह हिलाना शुरू किया कि राधा डर जाय। तब कृष्ण ने कहा कि बेचने के लिए जो माल ले जा रही हो, वह सब नदी में डाल दो, तभी नदी पार हो सकती है। तब राधा ने सारी चीजें नदी में डाल दीं। कृष्ण ने तब भी नाव को हिलाना जारी रखा। तब राधा को भय लगा और वह कृष्ण से लिपट गई। इस बीच कृष्ण ने कुछ ऐसा तमाशा किया कि वह नाव डूब गई। कृष्ण अच्छी तरह तैरना जानते थे। उन्होंने राधा को बचा लिया और दोनों तैरकर पार उतर गये। तब यह प्रश्न आया कि सब माल तो डूब गया, अब घर जाकर क्या कहेगी। इसपर दूसरी सखियों ने अपना माल दे दिया। इस प्रकार से वह किसी तरह घर पहुंची। हम इस कहानी को यहीं छोड़ देंगे। यदि आधुनिक नीति की दृष्टि से देखा जाय, तो कृष्ण-कीर्तन का कृष्ण एक साधारण आवारा ही दिखाई पड़ता है, कम-से-कम जहां तक राधा के साथ उनके सम्पर्क का प्रश्न है। मैं यहां पाठकों को याद दिलाऊं कि मूल कृष्णकथा में राधा नहीं थी। यह लगभग आठवीं सदी में आ गई।

बाद को कृष्ण-कीर्तन में यहांतक दिखलाया गया है कि कृष्ण यह कहते हैं कि मैं सिर्फ तुम्हें ही सन्तुष्ट नहीं करूंगा, बल्कि तुम्हारी गोपियों को भी सन्तुष्ट करूंगा। इसके बाद एक साथ बहुत-से रूप धरकर तमाम गोपियों को सन्तुष्ट करते हैं।

कुछ भी हो, कृष्णकीर्तन में कृष्ण और राधा का जो सम्पर्क और रूप दिखलाया गया है, उसमें एकपत्नीव्रत का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वह बिल्कुल एक दूसरा ही रूप है। लगता है, कृष्ण के इस रूप को प्राचीन काल से लोग पसन्द करते थे और यह साहित्य बहुत ही जन-प्रिय था।

अब हम कृत्तिवास पर आते हैं, जो बंगला रामायण के लेखक हैं। उनका जन्म १३४६ ईस्वी की फरवरी में हुआ था। यह कहा जाता है उनके पूर्वपुरुष कन्नौज से आये थे। जो हो, कृत्तिवास के पूर्वपुरुष पहले इधर-उधर भटकते रहे और अन्त में चलकर वह २४ परगने के फुलिया गांव में बस गये। कृत्तिवास विद्या-प्रेमी थे और संस्कृत काव्य और व्याकरण में पाण्डित्य प्राप्त करने के बाद वह गौड राजा से मिलने गये। वहां उनका आदर-सत्कार हुआ और राजा ने सबकुछ सुनकर कहा कि तुम विद्वान हो, कवि हो, तो तुम सप्तकांड रामायण लिखो और उन्होंने ऐसा करना स्वीकार किया।

यह बता दिया जाय कि कृत्तिवास की रामायण का बंगला में वही स्थान है जो हिन्दी-क्षेत्र में तुलसी की रामायण का है। हां, एक बात यह है कि कृत्तिवास ने मूल रूप से रामायण जिस प्रकार लिखी होगी, अब वह रामायण उस रूप में प्राप्त नहीं है, बल्कि बराबर उसमें परिवर्तन होता गया है। लिखित प्रति पर ज्यादा जोर न देकर कथावाचकों की जबान पर चढ़ जाने के कारण उसमें बराबर भाषाई और अन्य परिवर्तन होते रहे। दिनेश सेन ने यह बहुत सुन्दर बात कही है कि कृत्तिवास की रामायण करीब-करीब उस युग की रचना है, जिस युग में अंग्रेज कवि चासर ने कैन्टरबरी टेल्स लिखा था। पर जहां शेषोक्त पुस्तक पुस्तकालय की अलमारियों में बन्द पड़ी रहती है वहां कृत्तिवास की रामायण घर-घर में नित्य-पाठ्य साहित्य बनी हुई है। यह तो ऐसी बात हुई कि जब एक घटना हो गई, तो उसका रूसी रूप लेने की बात है। जो कुछ भी हो, कृत्तिवास के कारण राम की उपासना बंगाल में प्रचलित हुई और कृत्तिवास की सफलता के कारण बहुत-से दूसरे कवियों ने रामायण लिखने का बीड़ा उठा लिया।

राम के चरित्र में एक विशेष बात यह है कि वह सीता तक ही अपनेको सीमित रखते हैं, यहांतक कि जब वह सीता को कई कारणों से तिलांजलि दे देते हैं, तब भी वह किसी दूसरी स्त्री से शादी नहीं करते, जो उस युग को देखते हुए और आज के आदर्श की कसौटी पर एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

हम केवल उस अंश को थोड़े में उद्धृत कर रहे है जहां राम सीताहरण हो जाने के बाद सुग्रीव को गद्दी पर बैठा चुके हैं और वह किष्किन्धा में मौजूद हैं। वहां उस

समय की परिस्थिति का वर्णन करते हुए कृत्तिवास लिखते हैं कि सुग्रीव राजभोग में मस्त पड़ा है, पर रामचन्द्र बिना किसी भोग के शोक में व्याकुल तड़प रहे हैं। सुग्रीव ने सब तरह के राजोचित अलंकार धारणा कर रखे हैं और राम ने जटा धारण कर ली है और वल्कल पहने हुए हैं। सुग्रीव अपूर्व यानी आश्चर्यजनक पलंग पर लेटा हुआ है, राम धूल में शोक में चैतन्यशून्य होकर लेटे हुए हैं। सुग्रीव परम सुन्दरियों को लेकर विलास में मग्न है और राम सीता का स्मरण करते हुए बराबर गहरी सांस लेते हैं। लक्ष्मण ने कहा—प्रभु, मन स्थिर करो, आप भला शरीर को ठीक नहीं रखेंगे, तो दुष्ट राक्षसों पर विजय कैसे पायंगे ?

इस प्रकार सारी रामायण में राम का जो रूप है, वह कृष्ण के मुकाबले बिल्कुल दूसरा ही है और वह एकपत्नीव्रत का है। लक्ष्मण के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। राम का यह एकपत्नीव्रत, जैसाकि मैंने पहले ही कहा, उस युग को देखते हुए बहुत बड़ी उपलब्धि थी। जो कुछ भी हो, इसपर यह मिथ्या प्रचार नहीं किया जा सकता कि उस जमाने में एकपत्नीव्रत का आदर्श सर्वमान्य था और किसी प्रकार से स्वीकृत हुआ था। हिन्दुओं या मुसलमानों में कभी एकपत्नीव्रत का आदर्श स्वीकृत नहीं था। यूरोप के मुकाबले में यह भी एक हीनता थी जिसे स्वतन्त्र भारत ने दूर किया, पर मुसलमानों को अभी उसी गन्दी हवा में रखा गया है।

अवश्य इतना कहा जा सकता है कि मनुष्य में दोनों तरह की वृत्तियां हैं। एक है गृहस्थ की वृत्ति और एक उससे हटकर दूसरी वृत्ति। इन्हीं दोनों वृत्तियों के प्रतीक के रूप में राम और कृष्ण के चरित्र साधारण बंगला-भक्ति साहित्य के पाठकों, बल्कि श्रोताओं में प्रचलित रहे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। फिर हम एक बार यह बता दें कि प्राचीन आलोचकों या धर्म-प्रतिपादकों ने किसीने यह कहने का साहस नहीं किया कि राम एकपत्नीव्रत रहे, इसलिए वह कृष्ण से किसी प्रकार उच्च चरित्र के व्यक्ति रहे, बल्कि इसके विपरीत राम को आंशिक अवतार ही माना गया। यह क्यों हुआ और कैसे हुआ इन तथ्यों की गहराई में जाने का यह अवसर नहीं है। हमने तो केवल जैसी स्थिति है, उसीको सामने रख दिया। उससे जो उपसंहार निकलते हैं, वे स्वयं बोलते हैं।

मन का मैल तो विचारसे, ईश्वर के ध्यान से और आखिर ईश्वरी प्रसाद से ही छूटता है। विकारयुक्त मन विकारयुक्त आहार की खोज में रहता है। विकारी मन अनेक प्रकार के स्वादों और भोगों की तलाश में रहता है और बाद में उन आहारों तथा भोगों का प्रभाव मन पर पड़ता है।

—मो० क० गांधी

श्रीरामानुजाचार्य द्वारा प्रदर्शित वैष्णव जन-संस्कार

र० शौरिराजन

तुलसीदास ने विष्णु-भक्त का परिचय देते हुए कहा है :

काम क्रोध मद मान न मोहा।
लोभ न क्षोभ न राग न द्रोहा ॥
जिन्हके कपट दम्भ नहिं माया।
तिन्हके हृदय बसहु रघुराया ॥

रामसदन का यह अंश पूज्य बापूजी को बहुत प्रिय था। उन्होंने अपने जीवन को पूर्वोक्त वैष्णव जन जीवन बना लेने का प्रयत्न किया। इस साधना में वह सफल हुए; इसीलिए 'महात्मा' भी कहलाये।

वैष्णव जन के लक्षण और परिचय देनेवाले बापू के प्रिय भजन "वैष्णव जन तो तेने कहिये..." को इस गांधी-युग में अधिकांश लोग जानते हैं, किन्तु उसका पूरा अर्थ जाननेवाले और तदनुसार अपने जीवन को, थोड़ा ही सही, गढ़नेवाले कितने हैं ?

गांधीजी के इस साधना-पथ को जो वैष्णव जन संस्कारों से गौरवान्वित था, अपनानेवाले ही नहीं, प्रशस्त करनेवाले एक महान आचार्यवर ग्यारहवीं शती में आविर्भूत हुए। भारत की गौरवप्रद विभूतियों में उन उत्तम आचार्यवर श्री रामानुजाचार्य का विशिष्ट स्थान है। उन्हीं-के तप:पूत आचरणों के कारण, जो अपना आदर्श रखते हैं, 'श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय' दक्षिण में प्रशस्त हुआ और उत्तर को भी उसने गौरवान्वित किया।

गांधीजी के आदर्श संस्कारों में से अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि कई श्रीरामानुजाचार्य में थे, जो उनको श्री-वैष्णवधर्म के रूप में पूर्वाचार्यों के अनुकरण में मिले। उनके पूर्व ही श्रीनाथमुनि, श्रीयामुनाचार्य आदि पांच आचार्य वैष्णव सम्प्रदाय के अनुशास्ता रह चुके हैं। सामान्यतया, भगवान श्रीमन्नारायण ही श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक माने जाते हैं। श्रीवैष्णवों में यह गुरु-परम्परा-स्तुति प्रशस्त है :

"लक्ष्मीनाथ समारम्भां नाथ-यामुनमध्यमाम्।
अस्मदाचार्य पर्यन्तां वन्दे गुरु-परम्पराम् ॥"

इधर अस्मदाचार्य (हमारे आत्मीय आचार्य) श्री-रामानुजाचार्य हैं। उनके बाद उनके समान प्रतिभाशाली एवं प्रभावशाली सार्वजनीन आचार्यवर दूसरे नहीं हुए। रामानुजाचार्य ने श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में कई कालोचित सुधार और परिष्कार किये। 'भागवत गोष्ठी' की स्थापना की। इसमें सभी जाति-कुल के विष्णु-भक्तों को इकट्ठाकर स्वदेशी एवं स्वजन भावना को बढ़ाया। अस्पृश्यता वैष्णवों में, विशेषतया भगवान की सन्निधि में, लेशमात्र भी नहीं बरती जाती।

श्रीरामानुज ने जिन संस्कारों को अपने आचरण के द्वारा चरितार्थ कर दिखाया, उन्हींको वैष्णव जन-संस्कार के रूप में निर्धारित किया और फैलाया। भगवान विष्णु की आराधना के लिए इन गुणों को अनिवार्य घोषित किया, जो सच्चे वैष्णव के संस्कार हैं :

रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनं त्रयम् ॥

—राग-द्वेष आदि से रहित हृदय, असत्य, कपट आदि से अदूषित वाणी, हिंसा, अनाचार आदि से रहित शरीर ये तीनों ही केशव की आराधना के प्रमुख साधन हैं।

भगवान केशव की अर्चना के लिए आठ आत्मगुणरूपी पुष्पों का परिचय श्रीरामानुज ने दिया। इन्हीं पुष्पों से आराधना करने पर भगवान विशेषतया प्रसन्न हो जाते हैं :

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च ॥

शमस्तु पञ्चमं पुष्पं ध्यानं ज्ञानं विशेषतः ।
सत्यं चैवाष्टमं पुष्पं एतैस्तुष्यति केशवः ।।

—अहिंसा, इन्द्रिय-निग्रह, भूतदया, क्षमा (सहनशीलता), संयम, ध्यान, तत्त्वज्ञान, सत्यभाषिता—ये आठों भगवान नारायण के पूजार्ह और प्रिय पुष्प हैं। वैष्णव जनों के लिए इन्हीं उत्तम संस्कारों से भगवान की आराधना फलवती होती है।

पूज्य बापूजी ने भी इन्हीं संस्कारों को मानव-कल्याण और राष्ट्रीय समुन्नति के लिए हमें सुझाया। इन संस्कारों का पालन उन्होंने कितनी दृढ़ता और सच्चाई के साथ किया, यह बात उस युग-पुरुष की जीवना-गाथा बड़ी अच्छी तरह बता देती है।

गांधीजी के समान ही, श्रीरामानुज भी अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय, लोकहितैषी एवं समर्थ मार्ग-दर्शक रहे। उस सामंती युग में स्वतन्त्र गणराज्य या लोकराज का स्वप्न किसीकी परिकल्पना में न उभर पाया, किन्तु राजाओं को **'तथैव सो अभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरं जनात् ।'** -वाली कालिदास की परिकल्पना के अनुसार 'प्रजारंजक, प्रजापालक' बने रहने का सन्देश श्रीरामानुज ने दिया। कर्नाट के विष्णुवर्धन, तमिल देश के पाण्डिय-चोल नरेश आदि पर रामानुजाचार्य के सदुपदेशों का अच्छा प्रभाव पड़ा। उन्हींके कारण उस समय का शैव-वैष्णव-वैमनस्य दूर हुआ। उन राजाओं ने तथा उनके पुत्र-पौत्रों ने भी शैव और वैष्णव दोनों सम्प्रदायों का संवर्धन किया। कई अद्भुत मन्दिर बनवाये। बौद्ध, जैन धर्मावलम्बियों के साथ भी सौजन्यपूर्ण बर्ताव किया गया। उस युग में प्रधान क्षेत्रों में शिव-मन्दिर और विष्णु-मन्दिर दोनों खड़े करने की प्रथा प्रचलित थी-। उस समय के राजा दोनों मन्दिरों के लिए देवस्व के नाम पर सम्पत्ति प्रदान करते थे।

रामानुजाचार्य ने वैष्णव धर्म को व्यापक बनाया। जाति, कुल की परिधि दूरकर सभी विष्णुभक्तों को 'भागवत गोष्ठी' में एकत्र किया। वैष्णवों में जात-पांत की भावना नहीं रखी जाती। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वैष्णव समुदाय में जातिसांकार्य स्वीकृत हुआ हो। 'अविभक्तं विभक्तेषु' की सामासिक भावना विष्णुभक्तों में लाना और फैलाना ही श्रीरामानुज का मुख्य ध्येय रहा। वैष्णवों में श्रेष्ठ और सामान्य के स्तर, भक्ति की पराकाष्ठा तथा सम्प्रदाय ग्रन्थों के दृढ़ ज्ञान के अनुसार ही निर्धारित थे। इसीलिए श्रीरामानुज ने अपने सहस्रों शिष्यों को जिनमें सभी वर्णवाले थे, बार-बार समझाया :

न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः ।
सर्व वर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ।।
श्वपचोऽपि महीपाल विष्णुभक्तो द्विजाधिकः ।
विष्णुभक्ति विहीनस्तु यतिश्च श्वपचाधमः ।।
चतुर्वेद धरो विप्रो वासुदेवं न विन्दति ।
वेदभार भराक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्दभः ।।

—भगवान विष्णु के भक्तों में न कोई शूद्र है, न ब्राह्मण ही है। वे सब 'भागवत' माने जाते हैं। भगवान जनार्दन में भक्ति न रखनेवाले ही शूद्र (निकृष्ट) है, भले ही वे सवर्ण हों।

किसी राजा को सम्बोधित कर कहा गया, "यदि चाण्डाल भी सच्चा विष्णुभक्त निकला हो, तो वह ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ माना जायगा। विष्णुभक्ति-विहीन श्रेष्ठ यति भी चाण्डाल से निकृष्ट माना जायगा।

चारों वेदों का अध्ययन कर चुकने पर भी, यदि वह चतुर्वेदी भगवान वासुदेव की महिमा से अनभिज्ञ हो, विष्णुभक्ति-विहीन हो, तो वह वेद-रूप भार ढोनेवाला 'ब्राह्मणगर्दभ' कहा जायगा।

इस आदर्श 'स्पर्श भावना' के कारण ही श्रीरामानुज 'दयासिन्धु' कहलाने लगे तथा उनका सम्प्रदाय अधिक लोकप्रिय होकर दक्षिण से उत्तर तक फैला। **'भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द'** की सूक्ति प्रशस्त होने का श्रेय मूलतः श्रीरामानुज को ही है।

विष्णु-भक्तों को 'हरिजन' की संज्ञा श्रीरामानुज ने ही सर्वप्रथम दी। उनको सभी भारतीय हरिजन ही प्रतीत हुए। विष्णु को सभी मतावलम्बियों के लिए वन्दनीय स्थापित किया। 'पद्मपुराण' का यह सदुपदेश श्रीरामानुज का अभिमत था, जो साम्प्रदायिक समन्वय का पोषक था :

शिवाय विष्णु रूपाय विष्णवे शिवरूपिणे ।
शिवस्य हृदये विष्णुः विष्णोश्च हृदये शिवः ।।
एकमूर्तिस्त्रयो देवाः ब्रह्म विष्णु महेश्वराः ।
त्रयाणामन्तरं नास्ति गुण भेदाः प्रकीर्तिताः ।।

दक्षिण के वैष्णवों के लिए 'दिव्य प्रबन्धम्' ही सर्वमान्य वेदग्रन्थ है, जो 'द्राविडवेद' के नाम से प्रसिद्ध है। यह बारह आलवारों के भक्तिपुंज तमिल गीतों का संग्रह है। कुल चार सहस्र गीत इसमें है। इनमें तिरुवाय् मोलि, जो एक सहस्र भक्ति-गीतों का प्रबन्ध है, 'द्राविडवेद सागर' माना जाता है। अन्य प्रबन्ध वेदांग, उपनिषद् के समान माने जाते हैं। तिरुवाय् मोलि वैष्णवों के लिए परमपूज्य ग्रन्थ है। इसके रचयिता नम्मालवार श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के परमाचार्य माने जाते हैं। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य श्री नाथमुनि ने (नौवीं शती के हैं) नम्मालवार की महिमा को समझा। उनके प्रयास से ही 'दिव्यप्रबन्धम्' श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के लिए सार्वजनीन वेदग्रन्थ बना।

उल्लेख योग्य बात यह है कि श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के परमाचार्य माने जानेवाले नम्माल्वार जाति से कृषक थे। उनकी पूजा वैष्णव सम्प्रदाय के पीठाधीश ब्राह्मण आचार्यों ने की। प्रथम पीठाधीश श्री नाथमुनि की इस आदर्श भावना को सर्वाधिक प्रशस्त करनेवाले महान आचार्य निकले श्रीरामानुजाचार्य। बारह आल्वारों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और हरिजन सब थे; एक सुशिक्षित कन्या भी थी। इनमें नम्माल्वार को आत्मा तथा अन्य आल्वारों को शारीरिक अंग मानते हैं। श्रीवैष्णवों में संस्कृत वेद की अपेक्षा द्राविडवेद की उपादेयता और प्रतिष्ठा अधिक है। वैष्णव मन्दिरों में देवमूर्ति का जुलूस निकालते समय भगवान के आगे द्राविडवेद का पारायण और पीछे की ओर संस्कृत वेद का पारायण होता है। प्रादेशिक भाषा का महत्व एवं प्रादेशिक भाषा के भक्त-कवियों की मान्यता ही वैष्णव आचार्यों की दृष्टि से मुख्य ध्येय रही। श्रीरामानुज ने इसी परम्परा को पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक बनाया।

श्रीरामानुज के प्रथम गुरु तिरुक्कच्चि नम्बि थे। वह जाति से शूद्र थे। किन्तु श्रीरामानुज उनके शीलसंस्कार पर मुग्ध थे। इनके प्रति अतीव आदर रखते थे। एक दिन उन्हें अपने घर पर बुलाकर आतिथ्य-सत्कार किया। उनके भोजन कर चुकने के उपरान्त उनके उच्छिष्ट को प्रसाद मानकर श्रीरामानुज ने स्वीकार किया। यह उनकी 'स्पर्श-भावना' का आदर्श उदाहरण है।

श्रीरामानुज बड़े दयालु थे। उनके गृहस्थ तथा बाद के संन्यासाश्रम के जीवन में कई ऐसे उत्तम दृष्टान्त मिलते हैं, जो उनकी दयालुता, परोपकारिता आदि का परिचय देते हैं। गृहस्थ जीवन बिताते समय कई ऐसे अवसर उपस्थित हुए जब आये भिखारी को अपना पूरा भोजन देकर उन्होंने स्वयं उपवास किया।

महीनों प्रतीक्षा करके, लगभग अठारह बार यात्रा कर गोष्टीपूरण नामक महान साधक से श्रीमन्नारायण मन्त्रतत्व का उपदेश श्रीरामानुज ने पाया। उपदेशक ने इनसे वचन लिया कि इस मन्त्र-रहस्य को वह सदा गोपनीय रक्खेंगे। किन्तु श्रीरामानुज ने अनुभव किया कि उस मन्त्र-रहस्य के ज्ञान से दुखी संसार का उद्धार अवश्यम्भावी है। उन्होंने तत्काल निश्चय किया कि सबके कल्याण के लिए उसे खुले आम उद्घोषित कर देना मानवता की उत्तम सेवा है। उन्होंने वैसा ही किया। जब मन्त्र-तत्व के उपदेशक गुरु ने रामानुजाचार्य को बुलाकर पूछा कि उन्होंने ऐसा क्यों किया तो उन्होंने सविनय बता दिया, "स्वामिन्, मुझे भले ही गुरुद्रोह का पाप लगे, मैं नरक में जाकर यातनाएं झेलने को तैयार हूं, लेकिन इस मन्त्र को जानकर मानव भगवान विष्णु का सच्चा भक्त बन जायगा और अपना उद्धार कर लेगा। इससे समाज का कल्याण होगा। मानव-जीवन का अधिकांश दुःख दूर होगा।"

गुरु गोष्टीपूरण श्रीरामानुज की दयालुता देखकर चकित हो गये। उन्हें अवतारी महापुरुष समझकर वह उनका समादर करने लगे। इस प्रकार के कई उदाहरण श्रीरामानुज के जीवन में मिलते हैं, जो उन्हें सच्चा वैष्णव जन सिद्ध करते हैं।

अपने शत्रुओं का भी अहित न चाहने का उपदेश श्रीरामानुज अपने शिष्यों को दिया करते थे। इसका वह प्रारंभ से ही पालन करते आ रहे थे। उनकी बढ़ती ख्याति को देखकर जलनवाले कुछ ओछे व्यक्तियों ने एक बार उनके भोजन में विष मिला दिया। उसे खाने के पूर्व ही रहस्य खुल गया, परन्तु श्रीरामानुज के मन में लेशमात्र भी क्षोभ न हुआ। उत्तेजित शिष्यों को भी उन्होंने शान्त किया। 'शठे प्रति शाठ्यम्' से वैष्णव का शील भंग होगा, यही उपदेश दिया।

अपनी प्राण-रक्षा के लिए भी असत्य बोलना उनके लिए अस्वीकार्य था। एक बार कुछ शैवों ने, "शिवजी ही श्रीमन्नायण से श्रेष्ठतर हैं," यह मानने के लिए श्रीरामानुज और उनके शिष्यों को बाध्य किया। श्रीरामानुज ने देश छोड़ा, जंगल में भूखे-प्यासे भटके, नाना प्रकार के कष्ट सहे; किन्तु भयभीत होकर अपनी मान्यता के विरुद्ध मत प्रकट नहीं किया। उनके प्राणप्रिय शिष्य कूरेश ने अपनी दोनों आंखें खो दीं, फिर भी भीरुता का शिकार बन कर उल्टी राय नहीं दी। वैष्णव जनों को अहिंसा, सत्य, संयम आदि संस्कारों पर अटल रहने का उपदेश श्रीरामानुज इसीलिए सफलतापूर्वक दे सके, क्योंकि वह स्वयं उन्हें आचरण में लाये। यही कारण है कि वैष्णव जन श्रीरामानुजाचार्य को 'आत्मगुरु', 'दयैकसिन्धु', करुणासागर', 'आचार्यसार्वभौम', 'भगवान' आदि नाम से स्मरण करते हैं।

सच्ची सेवा

ठाकुर घनश्यामनारायण सिंह

ईंट, चूने और पत्थर के बने हैं
मन्दिर, मस्जिद और गुरुद्वारे
इन्हींमें तुझे ढूंढ़ने को
फिरते हैं, वे लोग
जो होते हैं, अबोध बेचारे
क्योंकि
मैं सोचता हूं
यही यदि दर्शन करें
अस्पताल में
मरीजों के जाकर
जहां वेदना से मनुष्य
बिलबिलाता है
तो
निश्चित है
वे तेरी एक कृति को
संवेदना दे सकेंगे
और
तेरे समीप आ सकेंगे
(यही है ईश्वर से
वास्तविक साक्षात्कार)
तेरे विषय में सुना है—
तेरा अहर्निश है यही काम
सहायता करना
दु:खी की, कातर की, निर्बल की
सताता है तुझे विचार
यही आठों याम
और कहा भी है—
जन-जन के कण्ठों ने
आदिम युग से—समवेत स्वरों में—
"सुना री मैंने निर्बल के बल राम !"

महाराष्ट्र के सन्तों का सामाजिक कार्य

श्रीपाद जोशी

आम तौर पर यह समझा जाता है कि संतों का कार्य भक्ति एवं नीति का प्रचार करना होता है। एक दृष्टि से यह सही भी है। जिन्हें ईश्वर-दर्शन की प्यास लगी होती है वे ही लोग संत बन जाते हैं और अपने जीवन के अनुभवों को वाणी के शब्दों या ग्रंथ के अक्षरों द्वारा लोगों के हृदयों तक पहुंचाने के उनके प्रयत्न में जब उन्हें सफलता प्राप्त होती है तभी प्राणवान् साहित्य का निर्माण होता है। ऐसे संत भारतवर्ष में और भारत से बाहर भी हमेशा होते आये हैं। उनमें से केवल महाराष्ट्र के कुछ प्रतिनिधि संतों का ही विचार इस लेख में किया जायगा।

महाराष्ट्र के संतों में पांच संत प्रमुख एवं प्रातिनिधिक समझे जाते हैं—ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम और रामदास। इनमें से रामदास रामभक्त थे और उन्होंने महाराष्ट्र में राम एवं हनुमान की भक्ति का प्रचार और प्रसार किया। महाराष्ट्र में शायद ही ऐसा कोई गांव मिले, जहां हनुमानजी का मंदिर न हो। कहते हैं कि इसका श्रेय रामदास को ही है। शेष चार संत श्री विट्ठल के भक्त थे। उन्होंने विट्ठल भक्ति की एक ऐसी सशक्त परंपरा की नींव डाली, जो आजतक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। इस तरह भक्ति के प्रचार-प्रसार का अपना उत्तरदायित्व इन संतों ने भली भांति निभाया। उसकी चर्चा हम इस लेख में नहीं करेंगे। हम यह बताना चाहते हैं कि इन संतों ने मराठी भाषा-भाषी समाज की अन्य प्रकार से भी सेवा की है।

इन संतों का सबसे बड़ा सामाजिक कार्य यह है कि उन्होंने उस मूक जनता को वाणी प्रदान की, जिसे सदियों से संस्कृत भाषा में छिपे ज्ञान भंडार से वंचित रखकर उच्च वर्ण का मुखापेक्षी बना दिया गया था। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि मराठी साहित्य का श्रीगणेश ही एक ऐसे महाग्रंथ से हुआ जो आजतक अपनी महानता में अद्वितीय समझा जाता है। उस ग्रंथ का नाम है 'ज्ञानेश्वरी', जो कि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की काव्यमय टीका है। इसका नित्यपाठ करनेवाले लाखों लोग आज भी महाराष्ट्र में पाये जाते हैं। उनमें ब्राह्मण, अब्राह्मण, सवर्ण, हरिजन आदि सभी जातियों के लोग होते हैं। समाज में जो भी लोग भक्ति-मार्ग से परिचय पाना चाहते हैं, उनके लिए 'ज्ञानेश्वरी' का अध्ययन करना अनिवार्य समझा जाता है। उसके बाद तो मराठी भाषा में अनेकानेक संतों ने रचनाएं कीं। उनमें चोखा मेष्ठा (चमार), सेना न्हावी (नाई), गोरा कुंभार (कुम्हार), सावता माली (माली), जैसे सभी जातियों के संत थे। बहिजाबाई, जनाबाई, कान्होपात्रा जैसी स्त्री संतों का भी सहयोग काफी मात्रा में रहा। इससे एक लाभ यह हुआ कि मराठी भाषा का स्वरूप अत्यधिक संस्कृत-प्रचुर या बोझल न रहकर वह सभी वर्गों की समझ में आने जैसी सरल और आमफहम बनी रही। मराठी भाषा का अभिमान भी संतों में कमोबेश मात्रा में पाया जाता है। संत एकनाथ एक जगह लिखते हैं :

संस्कृत वाणी देवें केली। प्राकृत काय चोरापासोनि जाली ?
असोतु या अभिमान भुली। वृथा बोलीं काय काज ?

अर्थात् लोग कहते हैं कि संस्कृत भाषा को देवताओं ने बनाया; तो क्या प्राकृत भाषा को चोर-डाकुओं ने बनाया है ? इस तरह की बातें व्यर्थ हैं। यह तो केवल अभिमान के कारण ही लोग ऐसा बोलते हैं।

और एक जगह वह कहते हैं :

मुक्ताफला लागी सागरीं। बुडया देती नानापरी।
तें सांपडलियां घरीं विहिरीं। जो अव्हेरी तो मूर्ख ॥
तैसी संस्कृत व्याख्यान आटाटी। अतिकष्टें परमार्थी भेटी।
तें जोडल्या मराठीसाठीं। उपेक्षादृष्टि न करावी ॥

अर्थात्, मोतियों के लिए लोग सागरों में लगातार डुबकियां लगाते रहते हैं। ये मोती अगर घर के कुएं में मिल जायं तो क्या उनका त्याग करना चाहिए ? इस तरह जो आसानी से मिलनेवाले मोतियों का त्याग करे, उसे मूर्ख ही समझना चाहिए। इसी तरह संस्कृत भाषा में जो ज्ञान का भंडार भरा पड़ा है, वहांतक पहुंचने में बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं। वह भंडार अगर मराठी में लाया जाय तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

वैसे जात-पांत का विरोध सन्त रामदास जैसे कुछ सन्तों को छोड़कर लगभग सबने किया है। पर कुछ सन्तों की वाणी में इस सामाजिक विषमता का खण्डन करते समय एक और ही तीखापन आ जाता है। सन्त तुकाराम ऐसे सन्तों में अग्रसर कहे जा सकते हैं। वह कहते हैं :

शूद्रवंशीं जन्मलों। मृणोनि दम्भें मोकालिलों ॥
अरे तूच माझा आतां। मायबाप पंढरिनाथा ॥
घोकाया अक्षर। मज नाही अधिकार ॥
सर्व भावे दीन। तुका म्हणे यातिहीन ॥

अर्थात्, मैं शूद्रवंश में पैदा हुआ, इसीलिए मैं दम्भ से बच गया। हे भगवान, अब तू ही मेरा मां-बाप है। (वेद) पठन का अधिकार मुझे नहीं है। मैं सब तरह से दीन और जाति-हीन हूं।

और एक अभंग में वह कहते हैं :

बरा देवा कुणबी केलों। नाहीं तरी दम्भें असतों मेलों ॥
भलें केलें देवराया। नाचे तुका लागे पायां ॥

अर्थात्, अच्छा हुआ हे भगवन्, कि तूने मुझे किसान (अब्राह्मण) बनाया, वरना मैं घमण्ड से भर गया होता। हे ईश्वर, तूने यह अच्छा किया, क्योंकि अब तुकाराम नाचता है और तेरे चरण छूता है।

सन्त एकनाथ इससे एक कदम और आगे बढ़ गये। उन्होंने अछूतों को भी अपनाया। एक बार उन्होंने श्राद्ध के दिन पितरों के लिए बनाया हुआ सारा भोजन हरिजनों को खिला दिया था और उसके कारण वह ब्राह्मण देवताओं के कोप भजन बन गये थे। एक बार गोदावरी के पार में तपती हुई बालू पर खड़े रोते हुए एक हरिजन बालक को उन्होंने गोद में उठाया था और उसकी मां को खोजकर उसे उसको सौंप दिया था। हां, यह ठीक है कि ऐसी घटनाएं इनी-गिनी ही पाई जाती हैं, मगर उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जात-पांत के भेदभाव के खोखलेपन को हमारे सन्त भली भांति जान गये थे। ऊंच-नीच की जो भावना समाज में बरसों से चली आई थी उसे पूर्ण रूप से नष्ट करना तो किसीके भी बस की बात नहीं थी; मगर उस भावना को थोड़ा-बहुत सौम्य बनाकर कम-से-कम कुछ अवसरों पर तो एक-दूसरे के साथ रहने को लोगों को तैयार करना भी कम महत्व का कार्य नहीं था। पंढरपुर के विट्ठल के दर्शनों के लिए महाराष्ट्र और कर्नाटक से हजारों-लाखों कंठीधारी साल में दो बार आषाढ़ और कार्तिक की शुक्ला एकादशी के दिन अपने-अपने गांवों से पंढरपुर पहुंच जाते हैं। अधिकांश लोग पैदल यात्रा करते हैं। इस यात्रा में और पंढरपुर पहुंचने के बाद भी छुआछूत का विचार बहुत कम रह जाता है। केवल भोजन के समय हरेक अपना-अपना चौका अपनी जाति के लोगों के साथ बनाता है। इससे सामाजिक विषमता का जहर इस प्रदेश के समाज में बहुत अधिक तीव्र नहीं हो पाया। सामाजिक समता की दिशा में सन्तों का यह कार्य निःसंशय बड़ा महत्वपूर्ण है।

जैसाकि हम प्रारम्भ में कह चुके हैं, समर्थ रामदास महाराष्ट्र के अन्य सन्तों से कई बातों में भिन्न थे। सबसे बड़ा भेद उनके उपास्य देवता के सम्बन्ध में ही था। श्रीराम की उपासना महाराष्ट्र में बहुत सीमित क्षेत्र एवं वर्ग में पाई जाती है। राम-भक्तों में अधिकतर ब्राह्मण ही होते हैं। इसका कारण शायद यह हो कि रामदासजी के भक्त एवं अनुयायी प्रधानतया ब्राह्मण ही थे। रामदास जात-पांत के समर्थक थे। छुआछूत को ही वह धर्म मानते थे। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि उच्च वर्ग के लोग ही उन्हें अपना गुरु मानते। उनके नाम से जो रामदासी सम्प्रदाय (पन्थ) प्रचलित हुआ उसमें अब्राह्मणों को शायद ही स्थान रहा होगा। अर्थात् क्षत्रियों में भी उन्हें बड़ी मात्रा में अनुयायी नहीं मिले। फिर भी उनका स्थान महाराष्ट्र के ही नहीं बल्कि भारत के महान् सन्तों में बड़ा महत्वपूर्ण समझा जाता है। इसका कारण है उनका समाज-संगठन-कार्य। मुसलमानों के बढ़ते हुए जुल्म व अत्याचार से भयभीत जनता को संगठित करके उन अत्याचारों के

खिलाफ खड़ा करने का जो कार्य रामदास ने किया वैसा सिक्खों के गुरुओं को छोड़ अन्य किसी सन्त ने शायद ही किया हो। इसीलिए महाराष्ट्र के लोग उन्हें 'सन्त रामदास' नहीं बल्कि 'समर्थ रामदास' कहते हैं। राम के अनन्य दास एवं बल के देवता हनुमान के मन्दिर उन्होंने गांव-गांव में बनवाये और उनके साथ ही कुश्ती के अखाड़े भी जोड़ दिये। महाराष्ट्र में एक भी गांव ऐसा नहीं होगा जिसमें बलभीम का मन्दिर और अखाड़ा न हो। इससे महाराष्ट्र के लोगों में बलोपासना का प्रचार बहुत बड़ी मात्रा में हुआ। उन्हींमें से शिवाजी महाराज को सैनिक मिले और आगे चलकर भारतीय सेना में मराठों की संख्या काफी मात्रा में रहने लगी। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि बीसवीं सदी के आरम्भ से महाराष्ट्र में जो राजनैतिक कार्यकर्ता आगे आये उनमें अधिकांश रामदास को अपना गुरु माननेवाले थे। एक समय था जब रामदास के 'मन के श्लोक' और 'दास बोध' का पठन-पाठन हर ब्राह्मण घर में होता था। इन दोनों में भक्ति का प्रचार उतना नहीं है जितना सदाचार का है। परन्तु रामदास पन्थ का यह महत्व समय के साथ घटता गया। नई वर्ग-चेतना के प्रभाव से ब्राह्मणों का प्रभाव भी कम होता गया और उनमें सामाजिक समता की भावना का उदय होने से स्वयं उनमें भी रामदास की शिक्षा का आकर्षण अब पहले जितना नहीं रहा है। इसके विपरीत अन्य सन्तों की शिक्षा में नये जमाने के लिए अनुकूल सामग्री बड़ी मात्रा में होने से उसका अध्ययन बढ़ता जा रहा है। फिर भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि असंगठित एवं भयग्रस्त हिन्दू समाज को संगठित एवं निर्भय बनाने में समर्थ रामदास की शिक्षा ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।

वैसे देखा जाय तो आज सारी दुनिया के सामने जो अनेकानेक जटिल समस्याएं खड़ी हैं उनका समाधान सन्तों के उपदेशों में खोजना मृगजल से पानी की आशा रखना है। फिर भी आज जीवन की कई समस्याएं ऐसी हैं जिनका उत्तर सन्तों के उपदेशों में हमें मिल सकता है। इसीलिए तो सन्त-साहित्य के पठन से हमारे मन को सन्तोष मिलता है। यह ठीक है कि, जैसाकि गांधीजी ने भी एक बार कहा था, आज अगर भगवान को अवतार धारण करना पड़े तो उसे रोटी का रूप धारण करके ही आना पड़ेगा; फिर भी रोटी ही सबकुछ नहीं है। अमरीका जैसे समृद्ध एवं सम्पन्न राष्ट्र के अनुभव से यह ज्ञात हो गया है कि रोटी का सवाल हल हो जाने से सारे सवाल हल नहीं होते। उनका समाधान खोजने के लिए, देर-अबेर, हमें अपने महान् सन्तों की सिखावन की ओर ही जाना पड़ेगा। जब हम इस दृष्टि से सन्त-साहित्य पढ़ेंगे तो निश्चय ही हमें निराश नहीं होना पड़ेगा।

जिस क्षण हम मनुष्य मनुष्य के बीच सच्ची और सजीव समानता फिर से स्थापित कर लेंगे, उसी समय मनुष्य और सारी सृष्टि के बीच समानता स्थापित कर सकेंगे।

—महात्मा गांधी

वैष्णव जन-जीवन को व्यवहार में उतारनेवाले बाबा

राजबहादुर सिंह

●

वैष्णवजनों में जिन गिने-चुने लोगों के जीवन-चरित्र मैंने आधुनिक युग के प्रसंग में सुने हैं, उनमें से दो का प्रभाव मुझपर ही नहीं, बल्कि मेरे सारे परिवार पर पड़ा है। यहां उनका गुरु-शिष्य-क्रम से वर्णन करना अनुपयुक्त नहीं होगा। वास्तव में ये सच्चे जीवन की लघु कथाएं हैं, जिन्हें नई पीढ़ी के लोग विश्वास के योग्य नहीं मानेंगे; पर यह घटनाएं ऐसी हैं, जिन्हें मैं ही नहीं, सम्बद्ध गांवों के कितने ही लोग देख चुके हैं। इसलिए इन्हें मिथ्या समझने का कोई कारण नहीं है।

सीतापुर जिले के एक सैनिक, जो अंग्रेजों के जमाने में वहां के सैनिक शिविर में थे, परम कर्त्तव्यपरायण, धार्मिक और सच्चे सैनिक थे, इसलिए जब एक बार 'ड्यूटी' के समय उनसे सो जाने की गलती हो गई तो उन्हें जागते ही बड़ा भय हुआ और वह फौरन दौड़े-दौड़े अपने अंग्रेज अफ़सर के पास गये और अपनी दो घंटे की गैर-हाजिरी के लिए माफ़ी मांगने लगे। पर अंग्रेज अफ़सर भी कोई सज्जन अधिकारी था। उसने सैनिक से कहा, "तुम क्या बात करते हो? तुम तो यहां पूरे समय तक 'ड्यूटी' देकर गये हो, फिर माफी क्यों मांगते हो?"

सैनिक महोदय विचार-सागर में डूब गये। वह सोचने लगे कि क्या उनका सो जाना भी झूठ हो सकता है। अवश्य ही यह भगवान की मुझपर दया है, जो उसने मेरी चूक को मेरे अफ़सर के मन से निकाल दिया। जब ऐसा है और मेरे लिए भगवान इतना कष्ट करते हैं तो मुझे धिक्कार है, जो मैं उसका स्मरण न कर उसकी सेवा से विलग समय गंवाऊं।

उनके मन पर इस घटना की ऐसी गहरी छाप पड़ी कि वह अब सदैव भगवान के स्मरण में तल्लीन रहने लगे। निष्ठा और श्रद्धा का आधिक्य इतना हुआ कि अन्त में अपनी सैनिक नौकरी से पेंशन का समय निकट आजाने पर भी त्यागपत्र देकर अयोध्या चले गये और वहां भगवदाराधना में समय व्यतीत करने लगे। अन्त में उनकी सच्ची भगवद्भक्ति ने उन्हें वह सिद्धि प्रदान की कि वह अयोध्या में एक 'अखाड़ा' (साधु-आश्रम) स्थापित कर 'रामसनेही' पंथ के संचालक बन गये। जब वह इस स्थिति में पहुंचे तो उनका नाम बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही' पड़ गया। उन्होंने 'विश्राम-सागर' नामक हिन्दी पद्य-ग्रन्थ लिखा, जो 'शुक-सागर' के टक्कर का माना जाता है और जिसका अवधी पद्य-ग्रन्थों में 'रामचरित मानस' के बाद सर्वोच्च स्थान है।

इन पंक्तियों के लेखक को नौं वर्ष की अवस्था में ही सीतापुर जिले में अपने पितामह ठा० गदाधरसिंह के साथ जाकर बाबा के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लेखक के पितामह सुलतानपुर जिले के विख्यात् ठाकुर थे और उन्होंने एक योद्धा के रूप में चांदा में गदर कहे जानेवाले स्वातंत्र्य-युद्ध में अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध किया था। बाद में बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही' के शिष्य बनकर तो वह लगभग एक वैष्णव साधु का जीवन व्यतीत करने लगे थे और भक्त ठाकुर कहे जाने लगे। पर वैष्णव सम्प्रदाय में आने के पहले वह क्या और कैसे थे, यह दिलचस्पी से खाली नहीं है।

इन पंक्तियों के लेखक ने तो अपने पितामह को वृद्धावस्था में ही देखा था, पर उनके जिन समवयस्कों ने उन्हें जवानी में देखा था उनका कहना था कि जब वह बिल्कुल नवयुवक थे तभी चांदे की लड़ाई[1] में भाग लेकर क्षत-विक्षत हो गये थे। जब उनके सीने में तलवार और भालों

१. इस लड़ाई को अवध पर अंग्रेजों के कब्जा करने का निर्णायक युद्ध कहा जाता है।

के कई घाव लगे थे और वह भी भीषण रूप में घायल हो अचेत अवस्था में चांदा के निकट युद्धस्थल में गिर गये तो वह हमारे गांव के एक ब्राह्मण (···मिश्र) द्वारा कम्बल और दोहर में लपेटकर लाठी में लटकाकर मृत समझे जाकर उत्तर क्रिया के लिए गांव लाये गए, बल्कि कुछ उपचार के बाद वह फिर अचेतावस्था से होश में आ गये और फिर पूर्णतः स्वस्थ हो गये थे, किन्तु अच्छे हो जाने पर भी वह चांदा के युद्ध का हाल अपने साथियों को बताते समय कहते थे—"फिरंगी पांव का कच्चा होता है। वह लंगी लगाकर धड़ाम से जमीन पर गिराया जा सकता है। उसकी बन्दूक बहुत बढ़िया होती है। हमारी बन्दूकें तो पलीता का रंजक चाट जाने के कारण कभी-कभी दगती ही नहीं, और दगती हैं तो देरी से।"

मैंने वृद्धावस्था में जब बाबा गदाधरसिंह को देखा था तो उनकी छाती पर कई पुराने घाव के गहरे चिह्न थे। उनके सम-सामयिक बताते थे कि वह चांदा-युद्ध के वर्षों बाद तक कभी यकायक ताव में आने पर कुछ यों बड़बड़ा उठते थे—"फिरंगी आया—फिरंगी आया···तलवार लाओ···भाला उठाओ—बन्दूक तैयार करो···।" आदि आदि।

उनकी यह दशा वर्षों तक रही। उन दिनों हमारे घर में मांसाहार होता था और घर के पास पक्के कुएं के निकट चबूतरे पर शिव-लिंग स्थापित था, जिसपर हमारे पितामह नित्य स्नान कर बिल्बपत्रादि-सहित जल चढ़ाया करते थे।

युद्ध के बाद जब मेरे पितामह घावों के अच्छे हो जाने के पश्चात् सामान्य स्थिति में होकर पुनः शिव-भक्ति में लग गये और नित्यचर्यानुसार स्नान के पश्चात् जल चढ़ाने का क्रम फिर जारी कर दिया तो शरीर स्वस्थ हो जाने पर भी कभी-कभी "हर-हर महादेव" कहकर सैनिक कड़खे का उच्चारण करते और "...फिरंगी आया···तलवार लाओ, माला उठाओ···" आदि-आदि कहकर उच्च स्वर से युद्धाह्वान-सा करने लगते।

उनकी यह दशा देखकर घर और गांववाले चिन्तित रहने लगे। अन्त में परस्पर सलाह-मशविरा करने के बाद यह तय पाया कि अयोध्या जाकर बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही' को अपने गांव लाया जाय और उनसे अनुरोध किया जाय कि वह जो भी उचित समझें, ठाकुर गदाधरसिंह का मानसोपचार करें।

बाबा रघुनाथदास ने सबसे पहले मेरे दादा के आहार-विहार में परिवर्तन कराया। फिर उन्हें वैष्णव मत की दीक्षा स्वयं दी और उन्हें नियमित शाकाहारी बना दिया। दादाजी को जब एक बार बाबा रघुनाथदास के जीवन और उपदेश में श्रद्धा हो गई तो उन्होंने न केवल स्वयं ही आमिषाहार का त्याग कर दिया, बल्कि समूचे परिवार को, जिसमें पचास से अधिक स्त्री-पुरुष और बच्चे थे, सम्पूर्ण शाकाहारी बना दिया और एकादशी के दिन घोड़े, हाथी को भी अन्न त्याग कराकर शाकाहार कराने लगे। धूम्रपान की कुप्रथा भी उन्होंने अपने परिवार से दूर कर दी। रामायण का शतपाठ किया, सम्पूर्ण 'विनयपत्रिका' और 'कवितावली' कंठस्थ कर ली। यही नहीं, दूसरे को दुःख में देखकर दादाजी द्रवित हो जाते थे और यथाशक्य उसकी पूरी सहायता करते थे। मेरे पिताजी पांच सगे और दो चचेरे भाई थे—सब मिलजुलकर रहते थे और न केवल अपनी जाति और सम्प्रदाय का हित करते, बल्कि किसीका भी कोई काम होता तो उसे निस्स्वार्थ रूप में करते थे। दादाजी की देखा-देखी मेरे पिता अपने चचेरे भाइयों-सहित जिन गांवों में और जहां-जहां उनका अधिकार और वर्चस्व था, यही नीति बर्तते थे। दादाजी का कहना था कि आहार की शुद्धि तो चाहिए ही, व्यवहार की भी शुद्धि चाहिए, क्योंकि इसके बिना तो वैष्णव परम्परा का नाम भी नहीं लिया जा सकता। निश्चय ही यह ज्ञान उन्होंने बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही' से ग्रहण किया होगा। बाबा रघुनाथ 'रामसनेही' ११७ वर्ष जीवित रहे। उनके शिष्य सारे देश में फैले हुए हैं। बाबा के उपदेशानुसार वे आहार-शुद्धि पर तो जोर देते ही हैं, व्यवहार-शुद्धि की ओर भी उनका ध्यान कम नहीं रहता।

वैष्णव-सम्प्रदाय की इस शाखा और इसके अनुयायियों ने देश को कितने ही जाज्वल्यमान चरित्रवान सत्पुरुष प्रदान किये हैं, जिनकी धवल कीर्ति का गान अब भी होता है और आगे भी होता रहेगा।

असली वीरता

उपाध्याय अमर मुनि

रूपकोशा पाटलीपुत्र की अद्वितीय नर्तकी थी। प्रकृति ने उसे अपार लावण्य और सौन्दर्य उन्मुक्त हाथों से बांटा था। हर तरफ लोगों की जबान पर एक ही चर्चा थी कि जब वह गाती है तो पवन रुक जाता है, पक्षी चहचहाना बन्द कर मौन हो जाते हैं और जब वह नाचती है तो आकाश के तारे टिमटिमाना भूलकर अपलक देखते रह जाते हैं। मगध जनपद का गौरव थी रूपकोशा! कला और सौन्दर्य का दुर्लभ संगम थी नर्तकी कोशा।

महामुनि स्थूलिभद्र ने वर्षावास के चार मास बिताये कोशा की चित्रशाला में, परन्तु सागर की गहराई में डूबकर भी वह भीगा नहीं। दावानल के बीच रहकर भी वह घृत पिघला नहीं। यह एक चमत्कार था। वह विलक्षण जादूगर था स्थूलिभद्र, जिसने नर्तकी कोशा के दैहिक सौंदर्य में अनन्त आध्यात्मिक सौन्दर्य जगा दिया था। उसका वासना-प्रधान जीवन साधना-प्रधान जीवन में बदल गया। वह नर्तकी से श्राविका बन गई थी।

पाटलीपुत्र नरेश का एक अत्यन्त प्रिय और वीर धनुर्धर था—एक रथकार। सौंदर्य और शौर्य में उसने बड़े-बड़े राजकुमारों को मात दे दी थी। रथकार एक दिन कोशा के द्वार पर पहुंच गया। कोशा के रूप का दीवाना था वह। बार-बार कोशा के समक्ष अपनी काम-चेष्टा करने लगा।

कोशा, रथकार के समक्ष कामविजेता स्थूलिभद्र की प्रशंसा करने लगी तो रथकार ज़रा ठिठक गया। सोचा, यह अभी तक मेरी अद्‌भुत धनुर्विद्या से अपरिचित है, परिचय देना चाहिए।

रथकार कोशा के साथ घूमता हुआ गृह-वाटिका में पहुंचा। फूलों की मधुर गन्ध महक रही थी, निर्मल पानी के फव्वारे छूट रहे थे। सामने आम्रवृक्षों पर पके हुए आमों की सोंधी गन्ध मन को लुभा रही थी। रथकार ने एक बाण छोड़ा। बाण सनसनाता हुआ सीधा वृक्ष पर लगे एक अति सुन्दर फल को बींधकर उसीमें धंस गया। तत्काल दूसरा बाण छोड़ा तो वह बाण उस बाण में अटक गया। फिर तीसरा बाण उस दूसरे बाण में जुड़ गया। इस प्रकार पलक झपकते बाणों की लम्बी पंक्ति बढ़ती-बढ़ती रथकार के पास तक आ पहुंची। वहीं खड़े-खड़े उसने बाण-पंक्ति को खींचा। एक के बाद एक, सब बाण हटाते-हटाते आखिर में सामने आगया मधुर गंध से महकता आम। आम को उछालते हुए रथकार ने कोशा के सामने रखा और एक प्रश्नभरी दृष्टि उसकी दृष्टि पर गड़ा दी।

कोशा ने देखा—कितना अहंकार है? यह शौर्य का अहंकार ही मेरे सौंदर्य का सौदा चाहता है? कोशा की दृष्टि में धन और सौंदर्य का मूल्य कभी रहा होगा, पर आज कुछ भी नहीं। उसने एक ऐसा दर्शन पा लिया था, जिसके प्रकाश में भौतिक ऐश्वर्य का नकली सोना कभी उसे बहका नहीं सकता था।

कोशा ने एक बड़ा सोने का थाल मंगाया। उसमें सरसों के दानों का ऊंचा-सा ढेर लगवाया। सरसों के दानों पर एक सुई रखी और सुई की नोंक पर एक फूल और फूल की कर्णिका पर एक पांव का अंगूठा रखकर कोशा ने नृत्य प्रारम्भ किया तो जैसे प्राण वायु भी स्पन्दनहीन हो गया।

रथकार सांस रोके अपलक देखता रहा। जीवन में आजतक इतना विचित्र, अद्‌भुत नृत्य उसने नहीं देखा था। उसे लगा, जैसे कोशा के मांसल शरीर में कहीं अस्थियां ही नहीं हैं। वह रबर की गेंद की तरह कभी हवा में उछालें मारती है तो कभी पूरे अंग को आमूल-चूल दुहरा करके रख देती है। भार जैसा कुछ है ही नहीं। मात्र

माया का एक दृश्य है और यह छलावा-सा नाच रहा है।

कोशा ने नृत्य समाप्त किया। रथकार गद्‌गद् हो गया। धनुर्विद्या का अहं तो कभी का गल गया था। फिर भी ऐश्वर्य के अहं दीप्त स्वर में बोला—"देवि ! तुम्हारी अद्‌भुत कला पर प्रसन्न हूं। मांगो कुछ।"

कोशा ने नम्रतापूर्वक, किन्तु व्यंग्य-मिश्रित स्वर में कहा, "मैंने ऐसा क्या अद्‌भुत किया है, जिसपर आप इतने विस्मित हो रहे हैं ?"

"इससे अद्‌भुत और क्या हो सकता है !" रथकार ने कहा, "तुम्हारे सदृश अन्य नर्तकी इस धरा पर नहीं देखी।"

"यह तो मेरी अभ्यास की एक कला है, इसमें कोई कठिन बात नहीं है।" वह बोली।

"देवि, क्या कह रही हो ? यदि यह कठिन बात नहीं, तो फिर कठिन बात और क्या हो सकती है ?"

कोशा ने रथकार के हृदय को झकझोरते हुए कहा :

न दुक्करं अंबिय-लुंबि-तोडणं,
न दुक्करं सरिसव नच्चियाहं।
तं दुक्करं तं च महाणुभावं,
जं सो मुणी पमय-वणम्मिबुच्छो॥

बाणों की लम्बी पंक्ति बांधकर दूर से ही आम्र-लुंबिका को तोड़कर लाना कोई कठिन काम नहीं है और न सरसों के दानों पर सुई रखकर उसकी नोक पर नाचना ही कठिन है। वस्तुतः कुछ कठिन है तो महामुनि स्थूलिभद्र का वैराग्य, जो रूप-लावण्यवती रमणियों के मधुवन में रहकर भी कभी प्रमत्त नहीं हुआ, राग के सागर में रहकर भी विरागी बना रहा।

रथकार को जैसे झटका लगा। उसकी आंखें जमीन में झुक गईं। दर्प चूर-चूर हो गया। "कोशा, तुम मेरी गुरु हो। मैं आजतक अपने गर्व में भूला हुआ था। तुमने मेरी मोह-तन्द्रा भंग कर दी। वास्तव में मेरी वीरता अधूरी है, सच्ची वीरता तो अपने मन को विजय करना है।" और रथकार कोशा के चरणों में झुक गया।

कसूर तुम्हारा नहीं, मेरा है

एक बार दक्षिण अफ्रीका में कुछ युवक एक महीने तक बिना नमक भोजन करने की प्रतिज्ञा लेकर फिनिक्स आश्रम में भर्ती हुए। लेकिन शीघ्र ही वे इस सादे भोजन से उकता गये। एक दिन उन्होंने डरबन से खाने की मसालेदार और स्वादिष्ट चीजें मंगवाईं और चुपचाप खा लीं। बाद में उन्हींमें से एक युवक ने, जिसने वे चीजें खाई थीं, इस बात की सूचना गांधीजी को दे दी।

शाम को प्रार्थना में गांधीजी ने उन्हें एक-एक करके बुलाया और पूछा, "क्या तुमने वह खाना खाया ?"

सबने स्पष्ट इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने सूचना देनेवाले को झूठा ठहराया।

इसपर गांधीजी बड़े जोर से अपने गालों को पीटने लगे और बोले, "मुझसे सच्चाई छिपाने में कसूर तुम्हारा नहीं, मेरा है, क्योंकि अभी तक मैंने सत्य का गुण प्राप्त नहीं किया है। सत्य मुझसे दूर भागता है।"

वे अपने को ताड़ना देते ही रहे। यह स्थिति कबतक बर्दाश्त की जा सकती थी ! सारे युवक एक-एक करके उनके सामने आये और उन्होंने अपना अपराध स्वीकार कर लिया।

सच्चा वैष्णव कौन ?

रवीन्द्र

यह इलाका मेरे लिए नया नहीं है। कई बार यहां आ चुका हूं। कभी चुनाव के सिलसिले में तो कभी अछूतोद्धार के बारे में। यह जो गढ़ी दीखती है, इसमें ठाकुर रामरतनसिंह का दरबार लगा करता था। भूखे को अन्न और नंगे को वस्त्र देना तो उनका पहला काम होता था। लोग उनका नाम सुनकर दूर-दूर से आया करते थे और अपनी मुरादें पूरी करके उन्हें असीसते जाते थे। भगवान ने सबकुछ दिया था। घर हमेशा हरा-भरा रहता था, रोज के पन्द्रह-बीस मेहमान तो मामूली बात थी। गढ़ी के पीछे वह मैदान देखते हो, जहां सरकंडे से हाथ-पांव-वाले बच्चे आंख मिचौनी का ढोंग कर रहे हैं, वह सचमुच एक तालाब था, जिसमें बारहों महीने पानी भरा रहता था। बड़े ठाकुर के पुण्य प्रताप से गांव में कभी किसी चीज की कमी न हुई। कभी वर्षा को देर हो गई तो तालाब का पानी खेती को हरा-भरा रखता था। कभी बुद्धिमान लोगों ने सिंचाई के पैसे लेने के लिए सुझाव दिया तो बड़े ठाकुर कह दिया करते थे "अरे, जाने भी दो, हवा और पानी भगवान की देन है। इनके लिए भा पैसा लिया जाता है कहीं ? इतने कंजूस न बनो। हमें भगवान ने सबकुछ दिया है फिर नदीदे की-सी बातें क्यों करते हो ?" कहनेवाला अपना-सा मुंह लेकर रह जाता और फिर बरसों तक यह बात न उठती।

आज ये सब बातें हातिमताई के किस्सों जैसी लगती हैं। बड़े ठाकुर क्या गये, गांव की लक्ष्मी चली गई। उनके जाने के कुछ ही दिनों बाद तालाब में पानी की जगह रेत ने ले ली। गढ़ी के दरवाजे मेहमानों और जरूरतमन्दों के लिए बन्द हो गये। अब आने लगे उनकी जगह कलट्टर साहब और जंट साहब और सेठ साहब और न जाने कौन-कौन साहब ! कोई बड़े ठाकुर की बात चलाता तो नये मालिक कह देते, "हांजी, तुम लोग तो उनकी तारीफ करोगे ही। मुफ्त की रोटियां तोड़ने की आदत जो हो गई है। जब वह मरे तो इतनी बड़ी गढ़ी में पचास रुपये भी न निकले। आज पटना और कलकत्ते तक इस गढ़ी का नाम है। एक चटकल चल रही है, शहर में नाम हो रहा है, फिर भी तुम लोग बड़े मालिक का ही नाम रटते रहते हो।"

बात यह है कि बड़े ठाकुर नये साल के दिन मरे थे और उनकी आदत थी कि पैसा इकट्ठा न करते थे। सारे साल दोनों हाथों से लुटाते रहते थे और साल के आखिरी दिन जो कुछ तिजोरी में होता सबका-सब भगवान के अर्पण कर देते। नया साल नई आमदनी से शुरू होता था।

लेकिन आज इस गांव की क्या हालत है ? लहलहाती खेती के नाम पर कहीं हरी पत्ती तक नहीं दिखाई देती। जिस किसीको कोई हीला मिला, वह गांव छोड़कर भाग गया। यहां रह गये हैं नर-कंकाल, जो मनमानी धूल फांक सकते हैं और हवा पी सकते हैं, क्योंकि और तो कुछ है नहीं। सबका कहना है कि बड़े ठाकुर का भाग्य सबको दो जून खाना देता था और नये मालिक ने मुंह के कौर भी छीन लिये।

इधर दो साल से वर्षा का नाम तक नहीं है। सरकार ने इधर-उधर से खाना जुटाकर यह व्यवस्था की है कि जिनके पास कुछ नहीं है, उन्हें खाना मिल जाय। नये-नये काम शुरू किये गए हैं, जिनमें मजदूरी करके आदमी पैसा कमा सकता है और उस पैसे से सरकारी रसोईघरों से सस्ते दामों में खाना पा सकता है। जो काम करने योग्य नहीं है, उसे लाल कार्ड मिल जाते हैं ताकि वे भी उन रसोईघरों में जाकर अपना गढ़ा भर सके। मुझे इस गांव

में इसी सिलसिले में भेजा गया है। गढ़ी की प्रतिष्ठा तो है ही, इसलिए जिला अधिकारियों ने इस गांव में अन्न बांटने का काम ठाकुर तहसीलदारसिंह को दे दिया है। बड़े-बड़े अफसर ठाकुर से परिचित हैं और उनके काम की बड़ी प्रशंसा करते हैं।

मैंने जैसे ही गांव में पैर रखा कि चारों ओर से हाड़-पिंजरों ने घेर लिया। मैं परेशान था कि हे भगवान, यह कैसा दुःस्वप्न देख रहा हूं। मैंने तुरन्त अपने हाथ में चिउंटी काटकर इस बात की परीक्षा की कि मैं सो तो नहीं रहा। इस गांव के हिसाब में मनों दाल-चावल आ चुका था। रजिस्टरों के हिसाब से हर आदमी को दो समय खिचड़ी मिल रही थी और खिचड़ी भी कैसी ? आलू और प्याज के साथ। इतना खाकर भी इन लोगों का यह हाल क्यों है ? मेरा दिमाग इस प्रश्न का उत्तर न दे पाता था। गढ़ी में मेरा खूब आदर-सम्मान हुआ और वहीं ठहरने का इन्तजाम भी हुआ, पर मैंने चौपाल में रहना पसन्द किया।

चौपाल में रहने से मेरी आंखें खुल गईं। वहां पता लगा कि तहसीलदारसिंह अन्न बांटने का पुण्य तो खूब लूट रहे हैं, पर उनके छोटे भाई दिलदारसिंह अपना घर भरने की योजना पूरी करने में लगे रहते हैं। यानी अन्धा बांटे रेवड़ी, अपने ही को देय। हर बोरे में से पांच सेर चीज तो उनके कोठार में पहुंच ही जाती है और उनके घर के धोबी, नाई, बारी, कहार सब लाल कार्ड लेकर खाने आ पहुंचते हैं और इसके बदले उन्हें काम की तनखा से हाथ धोना पड़ता है।

मैंने ठाकुर को ठीक करने की सोची, परन्तु वाह रे हिन्दुस्तान ! मैंने कई लोगों को साक्षी बनाकर ठाकुर की पोल खोलने की ठानी, पर सभीने कह दिया, "नहीं महाराज, हमने बड़े ठाकुर का नमक खाया है, उनके बेटे को कैसे बदनाम करें ! अब जो जैसा करेगा, भरेगा।"

मैं गांव से निराश होकर लौट रहा था। मैं सोच रहा था यह भी क्या देश है ! दधीचि और कर्ण ने यहीं जन्म लिया था, रन्तिदेव भी इसी देश के थे और कहां आज हमारे ठाकुर दान के अन्न में से पैसा बना रहे हैं। इतने में सामने से एक निहुरी कमर की बुढ़िया दिखाई दी। इसका बेटा सत्याग्रह के दिनों में काम आ चुका था। बुढ़िया इस आयु में इधर-उधर घूमकर गोबर इकट्ठा करती थी, उसके उपले बनाकर बेचती थी और इस तरह अपने पेट को धोखा दे लेती थी। मैं उसे देखकर ठिठक गया। उससे इधर-उधर की बात चलाई और फिर कहा, "दादी, तुम मानो तो लाल कार्ड बनवा दूं। अब तुम्हारी उपले बनाने की उमर नहीं है और आजकल गोबर भी कहां मिलता होगा ?" दादी एकदम सीधी होने की कोशिश करते हुए बोली, "नहीं बेटा, खुदा ने हाथ-पांव दिये हैं, फिर क्यों किसीके आगे हाथ फैलाऊं। जब उसने पेट दिया है तो दो टुकड़े भी देगा। लाल कार्ड उनके लिए हैं, जिनके हाथ-पांव नहीं चलते।"

मैं अवाक् रह गया। कहां गढ़ीवाले और कहां यह बुढ़िया। मैंने सोचा, यह भारत-भूमि पर ही सम्भव है। मैंने मुसलमान बुढ़िया के चरणों की धूल ली और आगे चल पड़ा।

स्वावलम्बन स्वतन्त्रता की बुनियाद और परावलम्बन गुलामी की निशानी है।

—महात्मा गांधी

गांधी-विचारधारा का मूल : हृदय-परिवर्तन

गो० प० नेने

गांधीजी और हृदय-परिवर्तन—इन दो शब्दों का समीकरण आधुनिक काल में इतना दृढ़ हो चुका है कि गांधीजी की जीवन-दृष्टि का मूलगामी विचार करते समय उसपर चिन्तन करना अनिवार्य हो जाता है। गांधीजी के रहते उनके सिद्धान्तों में आस्था रखनेवाले चिंतनशील व्यक्तियों ने इस विषय पर भाष्य और समर्थन किया। गांधीजी के आलोचकों ने और खास तौर से उनके राजनैतिक विरोधियों ने हृदय-परिवर्तन की बात को लेकर काफी टीका-टिप्पणी की। स्वभावतया यह अनेक बार आम लोगों की चर्चा का विषय बना। गांधीजी इस बात पर बराबर जोर देते थे कि मनुष्य विकसनशील प्राणी है। विकासोन्मुख होना उसका स्वभाव धर्म है। मनुष्य की सामाजिक प्रगति का मूलाधार यह विकासोन्मुखता है। यदि मनुष्य-समाज में किसी तरह का राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक जैसा कोई परिवर्तन लाना हो तो हृदय-परिवर्तन से ही यह बात सम्भव होगी। इस प्रकार विचारधारा का मूल आधार ही परिवर्तनशील मानव है। इसीलिए जब कोई समस्या उठती तो गांधीजी मनुष्य की मूलगत सद्भावना के प्रति आस्था दिखाकर उसके आवाहन की बात उठाते थे। इस प्रक्रिया से ही हृदय-परिवर्तन सम्भव होता है और समस्याओं का सुलझाव अपने आप सरल हो जाता है।

परिवर्तन लाने के दो तरीके हैं—१. किसी बाहरी साधन द्वारा विशेष अवस्था का लादा जाना अथवा २. स्वयं प्रेरणा से समाज द्वारा उस अवस्था का स्वीकार किया जाना। यद्यपि इतिहास में ऐसी अनेकानेक घटनाएं मौजूद हैं जो इस बात की साक्षी हैं कि किस प्रकार मनुष्य ने मनुष्य पर घोर अन्याय किये और अपनी ही जातिवालों को गुलाम बनाया। ऐसा माननेवाले लोग भी कम नहीं हैं, जो शासक-शासित, शोषक-शोषित, आक्रामक-आक्रमित, प्रभु-प्रजा जैसे दो वर्गों का अस्तित्व अनिवार्य मानते हैं। यही नहीं, उनकी दृष्टि में समाज में चिर शांति और सुखसमृद्धि के लिए इस स्थिति का होना आवश्यक है। मानव-समाज के लिए आधुनिक समानता का आदर्श उनकी दृष्टि में केवल कल्पना मात्र है जो कभी सिद्ध होनेवाला नहीं। ये लोग ऐतिहासिक सचाई के एक ही पहलू का बोध कराते रहते हैं और उसीको सम्पूर्ण सत्य माने बैठे हैं। उनका ध्यान दूसरी ऐतिहासिक प्रक्रिया की ओर दिलाने की आवश्यकता है। गांधीजी कहते थे कि मानव-समाज के इतिहास को देखने से यह साफ हो जाता है कि मनुष्य धीरे-धीरे और निश्चय से अहिंसक हो रहा है और यह सत्य बात है। मनुष्य के बौद्धिक विकास और ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति का यह अनिवार्य परिणाम है कि उसे विश्व के सन्दर्भ में अपने लघु अस्तित्व का निरंतर भान हो रहा है और वह सर्वसंहारी वैज्ञानिक खोजों पर गर्व करने के बावजूद शांति की चिन्ता में व्यस्त और त्रस्त है। एक ओर उसे बौद्धिक पराक्रम और वैज्ञानिक सामर्थ्य पर गर्व है तो दूसरी ओर वह सर्वनाशकारी भविष्य की कल्पना से धीरज खो रहा है। वह पराक्रम का मोह और नाशकारी चिन्ता के बीच लड़खड़ाता हुआ चिर शांति की प्रस्थापना में संलग्न है। भस्मासुरी मनोवृत्ति और मानवी करुणा की खींचातानी में वह आज अपने को पा रहा है। मनुष्य अभीतक हतबल नहीं हुआ है। आज ऐसा लगता है कि हिंसा और अहिंसा दोनों की धाराएं अबाध और समान्तर चल रही हैं। इतिहासकाल में भिन्न-भिन्न देशों में छोटी-बड़ी लड़ाइयां बराबर होती रहती थीं। साम्राज्यवाद के भिन्न-भिन्न रूप मिलते थे। लेकिन आधुनिक काल में हम सामाजिक समता की ओर धीरे-धीरे अग्रसर हो रहे हैं। समानता, स्वतंत्रता, लोकतंत्र,

समाजवाद आदि के नारों से जागतिक वातावरण गूंज उठा है। लेकिन वैज्ञानिक खोजों के कारण जहां एक ओर सुख की सरिता बहना चाहती वहां दूसरी ओर विस्फोटक हिंसा के गढ़ भी जहां-तहां बनते दिखाई दे रहे हैं। आज छोटी-मोटी लड़ाइयां तो जारी हैं ही, पर अब जब बड़ा विस्फोट होता है तो वह महायुद्ध, जागतिक युद्ध का रूप धारण करता है। अब तो संपूर्ण एवं सर्वसंहारी युद्ध की चर्चा और आशंका है। अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि पहले जो हिंसा बिखरे हुए रूप में दिखाई देती थी, वह अब केन्द्रीभूत एवं विस्फोटक अवस्था में है। कौन किसपर हावी होगा यह प्रश्न है। संसार के चिंतनशील व्यक्तियों को इस स्थिति का भान है। अतः यू. एन. ओ. जैसे जागतिक संगठन द्वारा आजकल शांतिपाठ का गान हो रहा है और वह जागतिक शांति स्थापित करने में यत्नशील है। महान राष्ट्रों के कर्णधारों का आज एकमेव उद्देश्य शांति स्थापना ही है।

व्यक्ति अथवा राष्ट्र में से कोई भी क्यों न हो, हर तरह का परिवर्तन लाने के लिए स्थिति का भान कराना, सद्भावना का आह्वान करना और भविष्यकालीन स्थिति का चित्र स्पष्ट करना, ये अवस्थाएं अनिवार्य होती हैं। ऐसा करते समय उद्देश्य की प्रामाणिकता सिद्ध होनेपर ही परस्पर विश्वास बढ़ता है। इसके लिए अहिंसक मनोवृत्ति की नितांत आवश्यकता होती है। विचारों का आदान-प्रदान करनेवाले दोनों पक्षों में अहिंसक और विश्वासपूर्ण मनोवृत्ति से आदान-प्रदान होता हो तो किसी नतीजे पर पहुंचना आसान हो सकता है। शुद्ध मन से ही यह सम्भव होगा। व्यक्ति अथवा समाज की मूलभूत मनोवृत्ति शांति का उपयोग लेने की ओर होती है। आक्रामक मनोवृत्तिवाले भी अंत में शांति ही चाहते हैं। यदि मनुष्य का मन अंततः शांति चाहता हो तो उसी उपासना में लग जाना और शांतिमय उपायों से समस्याओं का हल निकालना उसका कर्तव्य हो जाता है। हिंसक साधनों से जो साध्य प्राप्त होगा वह अपने में पूर्ण नहीं, क्योंकि हिंसक उपायों से प्रतिहिंसा के बीज बोये जाते हैं और समय पाकर उस हिंसा का विस्फोट होता है। गांधीजी ने इसी कारण साधन की सुचिता पर साध्य के स्थायित्व की दृष्टि से बराबर जोर दिया। समस्या का स्थायी हल निकालने के लिए शुद्ध मार्ग अनिवार्य है। उसीसे मनुष्य में विश्वास पैदा होता है और हृदय-परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त होता है।

वर्तमान युग हिंसा और अहिंसा के बलाबल की परीक्षा का युग है। मास्को में बैठे-बैठे बटन दबाकर अमरीका का नाश करने की ताकत रखनेवाले लोग भी अपने ही साम्यवादी एवं संहारकारी दृष्टिकोण रखनेवाले भाइयों से पूछते हैं कि मनुष्य-समाज का ही संहार हुआ तो क्या उसकी राख के ढेर पर राज करना है? मनुष्य-समाज को जिंदा रखना और उसे शान्तिमय जीवन व्यतीत करने का अवसर देना ही, सबका लक्ष्य होना चाहिए। राष्ट्रों के बीच परस्पर विश्वास और सद्भावना से शान्ति का वातावरण सम्भव होगा। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र इनमें से कोई भी क्यों न हो पारस्परिक विचार-विनिमय और सौहार्द्रपूर्ण वार्तालाप से समस्याएं हल हो सकती हैं। गांधीजी का यही दृष्टिकोण था। सौहार्द्रपूर्ण वार्तालाप एक अहिंसक साधन है। परस्पर विचार जानने और विश्वास पैदा करने का वह उत्तम मार्ग है। इस तरीके से प्राप्त किया गया यश स्थायी हो सकता है।

गांधीजी ने साध्य-साधन को एक-दूसरे से अलग नहीं माना। दोनों सम्पूर्णतः परस्परावलम्बी हैं। गांधीजी ने इस सिद्धान्त का भारत के राष्ट्रीय जीवन में आविष्कार किया और पं० जवाहरलाल नेहरू ने उसीका विस्तार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में किया। अमरीका और रूस जैसे बली राष्ट्र भी इस बात से सहमत हुए कि आपस में वार्तालाप करके ही समस्याओं का हल निकालना चाहिए। अणु-युग में मानव-संहार टालने के लिए यही एकमेव प्रभावी मार्ग है। इससे समस्या का हल भले ही न हो, पर वास्तविकता का ज्ञान तो अवश्य होगा, जिससे जागतिक तनाव कम होने में मदद मिलेगी। शांतिमय वार्तालाप के लिए यू. एन. ओ. जैसे संगठन का उपयोग किया जा सकता है। यह बात ध्यान में रखकर नेहरूजी ने उसे मजबूत बनाने पर बराबर जोर दिया। इस दृष्टि से वह चीन को यू. एन. ओ. का सदस्य बनाने का आग्रह रखते थे। उन्होंने सह-अस्तित्व और सह-जीवन के सिद्धान्त पर बराबर जोर दिया। कांगो, चीन, पाकिस्तान आदि राष्ट्रों के साथ वार्तालाप से ही समस्याओं का हल

निकालने के लिए वह बराबर आवाहन करते रहे। अण्वास्त्र प्रयोग के बारे में समझौते के लिए प्रयत्न जारी रहा और अन्त में समझौता हो गया। पण्डितजी के इस दृष्टिकोण को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मान्यता प्राप्त हुई और उसका स्वागत हुआ। वर्तमान अणु-युग में संसार के लोगों के लिए प्रलयंकारी भविष्य का चित्र अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है। प्रलय या शान्ति में से किसी एक को स्वीकार करने की आवश्यकता में आज का मानव-समाज अपनेको पा रहा है। वह शान्ति चाहता है और उसे प्राप्त करने के लिए यत्नशील है। कम-से-कम आज वह शान्तिघोष तो अवश्य ही कर रहा है। उसके यत्न किस प्रकार साकार होंगे यह बात भविष्य के गर्भ में छिपी है।

जहां शोषक शक्तियां मजबूत एवं प्रभावी होती हैं वहां कई बार शान्तिमय वार्तालाप का साधन सफल नहीं होता। कभी-कभी समाज ऐसी मनोवस्था में होता है कि शोषण की स्थिति को स्वीकार कर लेता है। उससे भी एक तरह से ऊपरी तौर पर समाज में शान्ति और संतोष का वातावरण नज़र आता है। यह अज्ञान, दुर्बलता, जड़ता और मानसिक पिछड़ेपन का द्योतक है। ऐसे समाज में चेतना का स्फुलिंग उत्पन्न करने के लिए बहुत यत्न करना पड़ता है। गलती से कुछ लोग ऐसी स्थिति को शान्ति समझ बैठते हैं और अन्यायपूर्ण स्थिति को बनाये रखने में ही कर्तव्यपूर्ति मानते हैं। लेकिन यह स्थिति बदलने के लिए हर तरह से आवाहन एवं प्रतिकार करने की आवश्यकता होती है।

गांधीजी ने शांतिमय प्रतिकार को भी एक महत्वपूर्ण साधन माना। पर शांतिमय वार्ता असफल होने पर ही उसका उपयोग करना है। उद्देश्य-सिद्धि प्राप्त करने में प्रतिकार अंतिम है। अन्याय का निश्चय होने और अन्य मार्ग अवरुद्ध होने पर ही केवल शांतिमय प्रतिकार की नीति अपनायी जा सकती है। शांतिमय आंदोलन अथवा प्रतिकार में किसी प्रकार के भय की गुंजाइश नहीं। कायरता मनुष्य के लिए लांछन होगा। उसकी अपेक्षा लाचार होकर सशस्त्र एवं हिंसक प्रतिकार समर्थनीय माना जाना चाहिए, क्योंकि उसमें भय का नहीं बल्कि वीरता का प्रादुर्भाव होने का अवसर मिलता है। कायर की अहिंसा की अपेक्षा वीर की हिंसा समर्थनीय है। "कायर की अहिंसा" शब्द-प्रयोग भी ठीक नहीं। "कायर की कायरता" होती है, अहिंसा नहीं। वीर की अहिंसा हो सकती है जिसका आदर किया जाता है। हिंसा की सामर्थ्य होते हुए जो सजगता के साथ सहेतुक अहिंसा का पालन करेगा, उसका महत्व और मान अधिक एवं सार्थ होगा। उसकी क्षमाशीलता का कोई अर्थ है। अहिंसक प्रतिकार शक्ति का महत्व सर्वोपरि है। इसी प्रतिकार-शक्ति के बल का संचय करना मनुष्य समाज का कर्तव्य है। दुर्बल में भी निर्भय प्रतिकार की शक्ति होती है। गांधीजी के नेतृत्व में तो भारतीय स्वतंत्रता का आंदोलन हुआ। उसमें जनता निःशस्त्र थी। पर उसका मनोबल, निर्भयता प्रशंसनीय थी। ऐसे प्रतिकार का प्रयोग अभी हाल ही में चेकोस्लोवाकिया में रूस द्वारा सैनिकी दबाव लाते जाने पर सफल हुआ है। अमरीका में निग्रो के प्रश्न को लेकर स्वर्गीय मार्टिन लूथर किंग के नेतृत्व में जो प्रतिकार हुआ वह इसी मनोबल का उत्तम उदाहरण है।

गांधी-विचार-धारा की मूल भित्ति परिवर्तनशील मानव है। वह स्फोटक शक्ति और शांति सागर भी है। समष्टि-रूप मानव को स्थायी शांति देना सबका साध्य है। उसके लिए यत्नशील होना चाहिए। तभी चलकर ऐहिक एवं पारलौकिक सुख प्राप्त हो सकेगा। मनुष्य के लिए केवल आधिभौतिक प्रगति पर्याप्त नहीं। वह निःश्रेयसाभिमुख होने पर ही अभ्युदय प्राप्त कर सकता है। अहिंसा और शांति उसका मार्ग है। मानव-परिवर्तन की प्रक्रिया में इन दोनों का स्थान अनन्यतम है। उसीके कारण व्यवधान-रहित परिवर्तन सम्भव होगा। विचार-विनिमय, वार्तालाप, स्नेह-विश्वास, प्रमाणिकता और सहयोग, सामाजिक परिवर्तन के आधार हैं। सत्याग्रह अर्थात् अहिंसक प्रतिकार का स्थान अंत में आता है। गांधी विचार-धारा की यह मूल भित्ति है।

जीवन-निर्माण की अनुभूतियां

श्रीमां

१

एक योगी था। उसे अद्भुत शक्तियां प्राप्त थीं। एक बार उसके शिष्यों ने एक बहुत बड़े भोज में उसको निमंत्रित किया। भोजन एक नीची, पर बड़ी-सी मेज पर परोसा गया। उन शिष्यों ने अपने गुरु से कहा, "आप अपनी शक्ति को किसी रूप में दिखाइये।" वह यह जानता था कि ऐसा नहीं करना चाहिए, किन्तु महत्त्वाकांक्षा का बीज उसमें विद्यमान था और उसने सोचा—"मैं जो कुछ करने जा रहा हूं वह आखिरकार एक बहुत निर्दोष चीज है और इससे यह होगा कि इन लोगों को यह विश्वास हो जायगा कि ऐसा कुछ किया जा सकता है और इससे इनको ईश्वर की महानता की शिक्षा मिलेगी।" इस प्रकार विचार करके उसने कहा, "मेज को हटा लो, केवल मेज को ही हटाओ और उसपर बिछी हुई चादर और समस्त थालियां ज्यों-की-त्यों पड़ी रहने दो।" यह सुनकर उसके शिष्य चिल्ला उठे, "ओह! ऐसा कैसे किया जा सकता है? सबकुछ गिर जायगा।" परन्तु उसने आग्रह किया और शिष्यों ने चादर के नीचे से मेज हटा ली। अब तो आश्चर्य के मारे सब-के-सब हक्के-बक्के-से रह गए। चादर और उसके ऊपर का सारा सामान ठीक उसी तरह पड़ा रहा, जैसा मेज नीचे रहने के समय था। परन्तु हठात् गुरु महाराज वहां से कूदकर चीखते और चिल्लाते हुए भागे, उन्होंने कहा, "अब मैं कभी शिष्य नहीं बनाऊंगा, कभी नहीं! मुझपर वज्र गिरे! मैंने अपने भगवान् के साथ द्रोह किया है।" उसके हृदय में आग जल रही थी, उसने स्वार्थ के लिए भागवत शक्तियों का उपयोग किया था।

शक्तियों का प्रदर्शन सदा ही बुरा है। इसका यह अर्थ नहीं कि इनका कोई उपयोग ही नहीं होता, परन्तु जिस प्रकार वे प्राप्त होती हैं उसी प्रकार उनका उपयोग भी होना चाहिए। वे भगवान् के साथ योग होने पर प्राप्त होती हैं और उनका उपयोग भी भगवान् के संकल्प द्वारा ही होना चाहिए, प्रदर्शन के लिए नहीं।

२

एक नवयुवक था। वह योग करना चाहता था। परन्तु उसका पिता नीच और क्रूर था, वह उसको बहुत कष्ट देता और उसको योग-साधना करने से रोकने की चेष्टा करता था। उस नवयुवक की तीव्र इच्छा हुई कि वह अपने पिता के हस्तक्षेप से मुक्त हो जाय। शीघ्र ही उसका पिता बीमार पड़ा, उसका रोग असाध्य हो गया और वह मरने के समीप पहुंच गया। अब उस युवक की प्रकृति का दूसरा भाग जाग्रत हुआ और वह इस दुर्भाग्य को कोसता हुआ विलाप करने लगा, "आह मेरे पिताजी इतने बीमार हो गये! यह बड़े दुःख की बात है। अरे मैं क्या करूं?" उसका पिता अच्छा हो गया। युवक को बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने एक बार फिर योग की ओर मुंह किया। और उसका पिता भी दूने बल के साथ उसका विरोध करने लगा। बेटे ने अपने बाल नोंच लिये और निराश होकर चिल्लाया, "अब मेरे पिताजी मेरे मार्ग में और भी अधिक बाधक हो रहे हैं।"

३

सूर्य के प्रकाश से आलोकित एक सड़क है, जो चढ़ाई पर है और एक खड़े पर्वत की ओर जा रही है। इस सड़क पर एक बड़ा भारी रथ चल रहा है, जिसको छः मजबूत घोड़े बड़ी कठिनाई से धीरे-धीरे खींच रहे हैं। रथ मंद गति से पर लगातार आगे बढ़ रहा है। इतने में एक आदमी आता है, इस परिस्थिति का अवलोकन करता है। वह रथ के पीछे चला जाता है और उसको पीछे से ठेलने लगता है तथा उसको ठेलकर पहाड़ पर पहुंचा देने की

चेष्टा करता है। अब एक समझदार आदमी आता है और उससे कहता है, "भले आदमी, तुम क्यों व्यर्थ परिश्रम कर रहे हो ? क्या तुम यह समझते हो कि तुम्हारी इस मेहनत का कोई फल होगा ? तुम्हारे लिए यह असंभव कार्य है। इसको करने में घोड़ों को भी कठिनाई हो रही है।

अब इस दृश्य-दर्शन का कार्य समझने की चाबी छः घोड़ों के रूपक में है। घोड़े शक्ति के प्रतीक हैं और छः संख्या दिव्य सृष्टि का चिह्न है। अतः छः घोड़ों का अर्थ हुआ दिव्य सृष्टि की शक्तियां। रथ आत्मसाक्षात्कार का, जिस वस्तु को उपलब्ध करना है, प्राप्त करना है, चोटी तक पहुंचना है, उस ऊंचाई तक पहुंचाना है जहां कि दिव्य-प्रकाश का निवास है, उसका प्रतीक है। यद्यपि ये सृजन करनेवाली शक्तियां दिव्य हैं; कारण इनको महान् विरोध का सामना और प्रकृति के अधोगामी आकर्षण के विरुद्ध युद्ध करना पड़ता है। अब बेचारा मानव-प्राणी आता है, जो अपने अभिमान और अज्ञान से ग्रस्त है, जिसके पास मानसिक शक्तियों की ज़रा-सी सम्पत्ति है, और वह समझता है कि वह भी कुछ है और कुछ कर सकता है। उसके लिए तो सबसे उत्तम काम यह है कि वह रथ में जाकर आराम से बैठ जाय और घोड़ों के कार्य में अपनी अनुमति देता रहे।

४

एक बार एक नवीन धर्म के अधिपति ने, जोकि उस धर्म के संस्थापक का पुत्र था कहा कि उस अमुक धर्म की स्थापना में इतने सौ वर्ष लगे और उस अमुक धर्म की स्थापना में इतने सौ, किन्तु अभी पचास वर्ष के अन्दर ही उनके धर्म के अनुयायी चालीस लाख से भी अधिक हो गये हैं। सो "आप देखती हैं" उसने कहा "हमारा धर्म कितना महान् है।" धर्मों की महानता भले ही उनके अनुयायियों की संख्या के परिमाण में समझी जाय, किन्तु सत्य का यदि एक भी अनुयायी न हो तो भी वह सत्य ही रहेगा। औसत मनुष्य बड़ी-बड़ी बातें करनेवालों के प्रति आकर्षित हो जाता है। जहांपर शान्त भाव से सत्य की अभिव्यक्ति हो रही है, वह वहां नहीं जाता। जो लोग बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं, उन्हें ही ढिंढोरा पीटने और विज्ञापन देने की आवश्यकता होती है, क्योंकि इसके बिना वे लोगों को बहुत अधिक संख्या में आकर्षित नहीं कर सकेंगे। जो कार्य सहज भाव से किया जाता है और जिसमें इस बात की परवा नहीं की जाती कि लोग उसके सम्बन्ध में क्या कहते होंगे, वह इतना अधिक विख्यात नहीं होता, इतनी आसानी से लाखों की तादाद में जनसमुदाय को अपनी ओर आकर्षित नहीं करता। परन्तु सत्य को किसी विज्ञापन की आवश्यकता नहीं, वह अपनेको छिपाता नहीं, पर वह अपना ढिंढोरा भी नहीं पीटता। वह अपनी अभिव्यक्ति मात्र से सन्तुष्ट रहता है, परिणामों की ओर से वह बेपरवाह रहता है, उसको न लोगों की स्तुति की चाह होती है, न निन्दा से क्षोभ। अगर संसार उसको स्वीकार करे तो उससे वह आकर्षित नहीं होता, न अस्वीकार किये जाने पर विचलित ही।

जब तुम योगमार्ग को अपनाते हो तो तुम्हें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि तुम्हारे मन ने जो सब इमारतें खड़ी कर रखी हैं और तुम्हारे प्राण ने जो सब मचान बांध रखे हैं उन सबके तुम टुकड़े-टुकड़े होते हुए देख सको। तुम्हें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि तुम हवा में अकेले लटकते हुए रह सको तथा श्रद्धा के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का सहारा वहां तुम्हारे पास न हो। अपने भूतकाल के व्यक्तित्व और उसकी आसक्तियों को तुम्हें एकदम भूल जाना होगा, उसे अपनी चेतना में से निकाल बाहर करना होगा तथा एक ऐसा नया जन्म लेना होगा, जो समस्त बन्धनों से मुक्त हो। तुम पहले क्या थे, इसका चिंतन मत करो, बल्कि अब जो कुछ होना चाहते हो, केवल उसीका चिंतन करो; जिस सिद्धि को तुम प्राप्त करना चाहते हो, केवल उसीमें तन्मय हो जाओ। अपने मृत भूतकाल की ओर पीठ कर लो और सीधे अपने भविष्य की ओर दृष्टि रखो। तुम्हारा धर्म, तुम्हारा देश, तुम्हारा परिवार तो एक ही है—स्वयं भगवान्।

५

एक योगी नर्मदा के तीर पर लगभग एक शताब्दी से रहते थे और इतने वृद्ध होने पर भी अत्यन्त हट्टे-कट्टे और बहुत ही तन्दुरुस्त थे। एक बार उनके किसी शिष्य ने दांत के दर्द के लिए उन्हें कोई औषधि दी। योगी ने औषध लेने से इन्कार करते हुए कहा कि उन्हें वह दांत

तो प्रायः दोसौ वर्षों से कष्ट देता आया है। इन महात्मा ने अपनी स्थूल प्रकृति को इतना वश में कर लिया था कि वह प्रायः आठसौ वर्षों तक जी सकें, किन्तु इतने दीर्घकाल में भी वह इस दांत के दर्द पर विजय प्राप्त नहीं कर सके थे।

कुछ रोग, जो अत्यन्त खतरनाक गिने जाते हैं, उन्हें आराम करना बहुत सहज होता है और कुछ जो अति नगण्य गिने जाते हैं, वे बहुत ही हठपूर्वक प्रतिरोध कर सकते हैं।

रोग के खतरे का नवदसांश भाग भय से पैदा होता है। भय के कारण किसी रोग के लक्षण प्रकट हो सकते हैं, बल्कि इसकी वजह से स्वयं रोग तक भी हो जा सकता है। हाल की ही बात है। एक सज्जन, जो इस आश्रम में बराबर आया-जाया करते हैं, उनकी धर्मपत्नी ने जो स्वयं योग नहीं करतीं, सुना कि उसका ग्वाला जिस घर में रहता है, उस घर में किसीको हैजा हुआ है। वह भयग्रस्त हो गईं और दूसरे ही क्षण उनके अन्दर हैजे के लक्षण दिखाई देने लगे। उनको तुरन्त आराम किया जा सका था, कारण उनके अन्दर रोग के जो लक्षण दिखाई दिये, उन्हें वास्तविक रोग में परिणत न होने दिया गया।

६

मैं कुछ ऐसे लोगों को जानती हूं, जिनकी शिक्षा बहुत कम हुई थी और जो बहुत कुशल नहीं थे, किन्तु फिर भी उनको योग के द्वारा लेखन-कला और चित्रकारी की अति सुन्दर योग्यता प्राप्त हुई थी। मैं तुमको इस बात के दो उदाहरण दे सकती हूं। इनमें एक युवती थी जिसे किसी तरह की भी शिक्षा नहीं मिली थी। वह नर्तकी थी और साधारणतया अच्छा नाचती थी। योग ले लेने के बाद वह केवल अपने-अपने मित्रों के आगे ही नाचती थी, किन्तु अब उसके नृत्य की भावव्यंजना और सुन्दरता में एक ऐसी गहराई आ गई जो पहले नहीं थी, और यद्यपि वह शिक्षित नहीं थी, फिर भी वह आश्चर्य-जनक लेख लिखने लगी। इसका कारण यह था कि उसे सूक्ष्म जगत के दृश्यों का दर्शन होता था और उनका वर्णन वह अत्यंत सुन्दर भाषा में करती थी। परन्तु उसके योग में उतार-चढ़ाव आता था, और जब वह अच्छी अवस्था में होती तब तो सुन्दर ढंग से लिखती, अन्यथा वह सर्वथा मन्द, मूर्ख और रचना-शक्तिविहीन हो जाती थी। दूसरा एक नौजवान था, जिसने कला का अध्ययन किया था, किन्तु बिल्कुल थोड़ा-सा ही। वह किसी कूटनीतिज्ञ का लड़का था, उसे कूटनीतिक जीवन की शिक्षा-दीक्षा दी गई थी, किन्तु उसका जीवन भोग-विलास में बीतने लगा और वह ऊंचे दर्जे की पढ़ाई न कर सका। फिर भी ज्योंही उसने योग करना आरम्भ किया, वह अन्तःस्फुटित चित्रकारी करने लगा जिसमें किसी आन्तरिक ज्ञान की अभिव्यक्ति झलकती थी और जो प्रतीकात्मक प्रकार की होती थी। अन्त में वह महान कलाकार हुआ।

७

जब बचपन में मैं अपनी मां से भोजन या किसी ऐसी छोटी-सी बात के विषय में शिकायत करती तो वह मुझसे सदा यही कहतीं कि जाओ, इन तुच्छ विषयों की चिन्ता न करके अपना काम करो या पढ़ो-लिखो। वह मुझसे कहती कि क्या तुमने अपने विषय में यह सुखद भावना बना रखी है कि तुम आराम के लिए पैदा हुई हो? वह कहतीं 'तुम उच्च आदर्श को चरितार्थ करने के लिए जन्मी हो।' और इतना कहकर मुझे चलता करतीं। वह बिल्कुल ठीक कहती थीं यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि सर्वोच्च आदर्श के विषय में उनका विचार हमारे मानदंडों से कहीं छोटा था। हम सभी सर्वोच्च आदर्श के लिए उत्पन्न हुए हैं। अतः जब कभी हमारे आश्रम में अधिक आराम और भौतिक सुख की कोई तुच्छ मांग पूरी नहीं की जाती तो यह तुम्हारी भलाई के लिए और जिस उद्देश्य के लिए तुम यहां आये हो, उसकी पूर्त्ति के लिए ही होता है। मांग की अस्वीकृति वस्तुतः उतने अंश में कृपा ही है, जहांतक कि तुम इसके द्वारा उस सर्वोच्च आदर्श के योग्य और उसके अनुसार गढ़े जाने के अधिकारी समझे जाते हो।

८

मुझे पेरिस की कला प्रदर्शिनी के उद्घाटन के वार्षिक समारोह का स्मरण हो आता है। उस अवसर पर वहां का राष्ट्रपति चित्रों का निरीक्षण करता है, जोर-जोर से बोलकर बताता है कि अमुक चित्र किसी दृश्य का है और

अमुक किसी प्राणी का। वह इतनी लचर टिप्पणी ऐसे हाव-भाव से करता है मानों उसे चित्रकला का अत्यंत प्रगाढ़ मर्मस्पर्शी ज्ञान हो। चित्रकारों को खूब पता होता है कि यह टिप्पणी कैसी वेकार है और फिर भी वे राष्ट्रपति की साक्षी को अपनी प्रतिभा के प्रमाणस्वरूप उद्धृत करने का मौका कभी नहीं चूकते। सचमुच ही यश का ऐसा भूखा लालची है मनुष्य का प्राण।

प्राण की एक अत्यन्त साधारण मांग प्रशंसा की प्राप्ति होती है। यदि इसकी निन्दा की जाय और इसके साथ ऐसा बरताव किया जाय, मानों यह एक तुच्छ वस्तु हो तो वह इसे बुरा लगता है। परन्तु इसे डाट-फटकार के लिए बराबर तैयार रहना होगा और उसे पूर्ण शान्ति से सहना होगा। इसे अपनी प्रतिष्ठा की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, यह कभी नहीं भूलता चाहिए कि कामनापूर्ति की एक-एक चेष्टा सत्य के अधिपतियों की वेदी पर चढ़ावा चढ़ाने के बराबर है।

... ...

प्राणशक्ति के सूक्ष्म लोक की सत्ताएं, जिनसे हमारा प्राण सम्बन्ध है, अपने भक्तों की पूजा पर फलती-फूलती हैं: इसीलिए वे नए मत-मतान्तरों की प्रेरणा संचारित करती रहती हैं, ताकि उनकी पूजा, प्रतिष्ठा और स्तुति के महा-भोज कभी समाप्त न होने पावें। उसी प्रकार तुम्हारा अपना प्राणमय पुरुष तथा उसकी मूलवर्ती प्राणशक्तियां दूसरों की की हुई चापलूसियों से पल-पुसकर पनपती है अर्थात् और भी अधिक स्थूल अज्ञान में ग्रस्त हो जाती है। परन्तु तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि हमारे समान अज्ञान के स्तर पर रहनेवाले मनुष्य हमारी जो स्तुति करते हैं वह असल में कौड़ी काम की नहीं, वह उतनी ही निरर्थक है जितनी ऐसे आदमियों की की हुई हमारी निन्दा। ऐसे लोग चाहे कितने ही आडंबरशाली क्यों न हों, पर उनकी की हुई निन्दा-स्तुति वृथा एवं निःसार होती है, तथापि दुर्भाग्यवश, प्राण गले-सड़े भोजन के लिए भी तरसता है और इतना लोभी होता है कि अयोग्यता के साक्षात् अव-तारों से भी प्रशंसापत्र स्वीकार कर लेता है।

९

इसका अभिप्राय समझाने के लिए मैं तुम्हें एक निजी अनुभव सुनाती हूं। यह अनुभव उस समय का है जब मैं पांडिचेरी में श्रीअरविन्द से पहले-पहल मिली थी। मैं गहरे ध्यान में थी, अतिमानस में वस्तुओं का स्वरूप देख रही थी—उन वस्तुओं का, जो भविष्य में जन्म लेने-वाली थीं, पर जो किसी कारण प्रकट नहीं हो रही थीं। जो कुछ मैंने देखा था वह श्रीअरविन्द को बताया और उनसे पूछा कि क्या ये चीजें प्रकट होंगी। उन्होंने उत्तर में केवल 'हां' ही कहा। उसी क्षण मैंने देखा कि अति-मानस ने पृथ्वी का स्पर्श किया और चरितार्थ होना शुरू हो गया। यह पहला अवसर था, जब मैंने सत्य को वास्त-विक रूप देने की शक्ति अपनी आंखों देखी। ठीक यही शक्ति तुम्हें सत्य की उपलब्धि करायगी जब तुम पूरी सच्चाई के साथ इसकी शरण में आओगे, यह कहते हुए कि 'इस असत्य से मैं मुक्त होना चाहता हूं' और तुम्हें इसका उत्तर मिलेगा 'हां।'

१०

वह भीषण तूफान की रात तुम्हें याद ही होगी। चारों ओर घनघोर शब्द और मूसलाधार वर्षा हो रही थी। मैंने सोचा, श्रीअरविन्द के कमरे में जाऊं और उन्हें खिड़कियां बन्द करने में सहायता दूं। मैंने उनके कमरे का दरवाजा खोला और देखा कि वह अपनी मेज पर शान्त बैठे हैं और लिख रहे हैं। कमरे में ऐसी ठोस शान्ति थी कि किसीको स्वप्न में भी ख्याल नहीं आ सकता था कि बाहर तूफान चल रहा है। सब खिड़कियां पूरी खुली थीं, वर्षा की एक बूंद भी अन्दर नहीं आ रही थी।

... ...

प्रत्येक मनुष्य के निकटतम प्रभाव के क्षेत्र में, युक्त वृत्ति प्रत्येक घटना को केवल लाभदायक ही नहीं बना सकती, बल्कि उसे पलट भी सकती है। उदाहरणार्थ, जब कोई आदमी तुम्हारा वध करने आता है, तब यदि तुम साधारण चेतना में रहो और भयभीत होकर होश-हवास खो बैठो, तो वह जिस काम के लिए आया था, बहुत सम्भवतः उसे करने में सफल हो जायगा; यदि तुम ज़रा ऊंचे उठ जाओ और चाहे भयग्रस्त दशा के रहते भी भागवत सहायता के लिए पुकार करो, तो सम्भवतः उसका वार ज़रा चूक जायगा और वह तुम्हें मामूली-सी चोट ही पहुंचा पायगा;

परन्तु यदि तुम्हारी वृत्ति युक्त हो और तुम अपने चारों ओर सर्वत्र दिव्य उपस्थिति को पूर्ण रूप से अनुभव कर सको तो वह तुम्हारे ऊपर उंगली भी नहीं उठा सकेगा।

यह सत्य रूपान्तर की सम्पूर्ण समस्या की कुंजी है। सदा दिव्य उपस्थिति के सम्पर्क में रहो, उसे उतार लाने का यत्न करो—और तब सदा वही होगा जो अच्छे-से-अच्छा हो सकता है।

... ...

यदि तुममें से प्रत्येक अपनी शक्तिभर यत्न करे, तो यह एक उचित सहयोग की स्थिति होगी और इसके अनुसार ही सफलता भी शीघ्र प्राप्त होगी। युक्त-वृत्ति के बल के मैंने कितने ही दृष्टान्त देखे हैं। मैंने देखा है कि एक अकेले व्यक्ति के युक्त-वृत्ति धारण करने से जनसमूह संकटों से बच गये हैं।

११

मेरा एक मित्र था। वह अपने प्राणिक शरीर में चला जाया करता था। एक बार उसने शिकायत की कि सदैव एक भयानक शेर मेरे सामने आता है, जो मेरी रात को कष्टपूर्ण बना देता है। मैंने उससे कहा कि तुम सब भय निकाल फेंको और सीधे उस पशु की ओर चले जाओ, उसे घूरकर देखो और यदि आवश्यकता हो तो बेशक सहायता के लिए पुकार भी करो। उसने ऐसा ही किया। फिर क्या था, वह सिंह सहसा एक मामूली बिल्ली ही तो बन गया।

... ...

किसी प्राणिक सत्ता के सामने निर्भयतापूर्वक घूरकर देखने का जो चमत्कार-सा प्रभाव होता है उसका तुम्हें कुछ भी पता नहीं है। इस संसार में भी यदि तुम प्राणिक शक्तियों के उन सब साकार-रूपों के साथ, जिन्हें हम साधारणतः पशु कहते हैं, इसी प्रकार व्यवहार करो तो तुम अवश्य ही आसानी से उन्हें वश में कर लोगे। एक भौतिक सिंह भी तुम्हें देखकर भाग जायगा यदि ज़रा भी भयभीत हुए बिना तुम उससे आंख मिला लो। सांप तुम्हें कभी काट नहीं सकेगा, यदि तुम लेशमात्र भी भय अनुभव किये बिना उसकी दृष्टि में दृष्टि गढ़ा सको। केवल कांपते घुटनों के साथ उसे देखने से तो कुछ नहीं बनेगा। तुम्हारे अन्दर ज़रा भी व्याकुलता नहीं होनी चाहिए। तुम्हें शान्त और समाहृत रहना चाहिए, जब तुम उससे आंख मिलाओ और वह तुम्हें तुच्छ भय से विमोहित करने के लिए अपना फण हिला रहा हो। पशुओं को पता है कि मनुष्य की आंखों में एक ऐसा प्रकाश है, जिसे वे सह नहीं सकते, यदि वह उनकी ओर ठीक ढंग से डाला जाय। मनुष्य की दृष्टि में, यदि यह स्थिर और निर्भय हो, एक ऐसी शक्ति है जो उन्हें पराभूत कर देती है।

अतएव संक्षेप में दो बातें स्मरण रखो : कभी मत डरो, कभी भी मत डरो और सभी परिस्थितियों में यथार्थ सहायता के लिए पुकार करो। इससे तुम्हारी सामर्थ्य सैकड़ों गुणा बढ़ जायगी।

१२

"'थोड़ी देर बाद' का रास्ता और कल की सड़क हमें केवल 'कुछ नहीं' के दुर्ग की ओर ही ले जाते है।"

रास्ते के दोनों ओर खिले रंग-बिरंगे फूल आंखों को लुभा रहे हैं। छोटे-छोटे पेड़ों की गठीली डालियों पर लाल फल चमक रहे हैं और सुदूर खेतों में दैदीप्यमान सूर्य अन्न की पकी बालों को सुनहला बना रहा हैं।

एक युवा पथिक प्रातःकाल की निर्मल वायु में सुखपूर्वक श्वास लेता हुआ सावधान पगों से आगे बढ़ रहा है। वह प्रसन्नचित्त प्रतीत होता है—भविष्य के बारे में बिल्कुल निश्चिंत। जिस रास्ते पर वह चल रहा है वह एक चौराहे पर समाप्त होता है। वहां से कई मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओं में फट जाते हैं।

युवक को सर्वत्र पदचिन्ह दृष्टिगोचर हैं, जो एक-दूसरे को काटते हुए चारों ओर निकल गये हैं। आकाश में सूर्य लगातार चमक रहा है। पेड़ों पर पक्षी चहचहा रहे हैं। दिन निश्चय ही अत्यन्त सुन्दर है। बिना सोचे-विचारे पथिक सबसे निकट का मार्ग पकड़ लेता है और वह उसे अधिक सुगम भी प्रतीत होता है। एक क्षण के लिए वह सोचता है कि वह कोई और मार्ग भी तो चुन सकता था, पर फिर वह कहता है कि यदि इस रास्ते ने उसे कहीं न पहुंचाया तो वापस मुड़ने का समय तो सदा ही रहेगा। एक ध्वनि उससे ऐसा कहती प्रतीत होती है :

"लौट आ, वापस लौट आ, तू ठीक रास्ते पर नहीं है।" परन्तु चारों ओर का वातावरण उसे आकर्षक और सुखद लगता है। उसे कुछ समझ में नहीं आता कि वह क्या करे। बिना कुछ निश्चय किये वह चलता जाता है। तत्क्षण के सुख का वह आनन्द लेता रहता है। ध्वनि को वह उत्तर देता है :

"थोड़ा और, थोड़ा और। मैं फिर सोचूंगा, अभी तो बहुत समय है।" उसके चारों ओर की जंगली घास उसके कान में फुसफुसाती है :

"हां, थोड़ी देर बाद।"

थोड़ी देर बाद, हां थोड़ी, देर बाद। अहा, इस सुगंधित वायु में श्वास लेना कितना सुखप्रद है जबकि सूरज अपनी उष्ण किरणों से हवा में एक मीठी गरमाहट ला रहा है। थोड़ी देर बाद, थोड़ी देर बाद। यात्री अभी भी चलता जाता हूं। रास्ता लम्बा हो रहा है। दूर से आवाजें सुनाई पड़ती हैं :

"अभागे ! तू कहां जा रहा है ? तुझे सूझता नहीं कि तू विनाश के पथ पर है ? तू युवक है। हमारी ओर आ, सत्य की ओर आ, शिव की ओर आ, सुन्दर की ओर आ। आसान और लुभावने पथ के फेर में न पड़। वर्त्तमान में ही न सो जा, भविष्य की ओर बढ़।" "थोड़ी देर बाद, थोड़ी देर बाद।" यात्री उन अप्रिय ध्वनियों को एक ही ही उत्तर देता है। फूल उसकी ओर मुस्कराते हैं और बार-बार कहते हैं, "हां, थोड़ी देर बाद।" मार्ग लम्बा होता जा रहा है। सूर्य चोटी पर पहुंच गया है। दिन लुभावना है। रास्ता एक चौड़ी सड़क में बदल गया है।

सड़क सफेद और धूमिल है। किनारों पर लम्बे और पतले चीड़ के पेड़ खड़े हैं। पास में एक छोटी नदी के बहने का मंद स्वर सुनाई दे रहा है। वह व्यर्थ ही चारों ओर खोजता है। उस अनन्त पथ का कोई सिरा उसे दिखाई नहीं पड़ता।

युवक को अब एक अस्पष्ट व्याकुलता-सी अनुभव होने लगती है, वह चिल्ला पड़ता है, "मैं कहां हूं ? कहां जा रहा हूं ? पर कोई हर्ज नहीं। क्यों सोचूं, क्यों कुछ करूं ? आज तो इस कभी समाप्त न होनेवाले पथ पर चलने दो, बढ़ने दो; सोचूंगा कल।"

वे छोटे पेड़ भी अब अदृश्य हो गये। सड़क के किनारों पर अब बलूत के वृक्ष हैं। दोनों ओर की संकरी घाटी नाला-सी बन गई है। यात्री को थकावट का नामोनिशान नहीं; वह अचेतन-सी अवस्था में आगे बढ़ता जाता है।

घाटी और गहरी हो गई है। बलूत के वृक्षों का स्थान अब सनोवर ने ले लिया है। सूर्य ने नीचे उतरना शुरू कर दिया है। यात्री व्याकुल भाव में चारों ओर देखता है। घाटी में लोटती हुई, सनोवर के पेड़ों, ढालू चट्टानों और जमीन से बाहर निकली जड़ों के साथ चिपटी हुई मानुषी आकृतियों की ओर उसकी दृष्टि उठती है। उनमें से कुछ ऊपर उठने का बहुत प्रयत्न कर रही हैं, पर ऊपर पहुंचते ही वे अपना सिर घुमा लेती हैं और फिर नीचे गिर पड़ती हैं। मंद ध्वनियां यात्री से अब भी कह रही हैं :

"इस स्थान से बच निकल; वापस उसी चौराहे पर पहुंच जा। अभी भी समय है। युवक कुछ दुविधा में पड़ता है, फिर उत्तर देता है—"कल," वह अपना मुंह हाथों से ढंक लेता है, जिससे वह घाटी में लोटती हुई मूर्तियों को न देख सके और पथ पर दौड़ पड़ता है। एक अदम्य प्रेरणा उसे आगे ही लिये जा रही है। वह यह भी नहीं जानना चाहता कि उसे कुछ प्राप्ति होगी या नहीं। माथे पर सिलवटें पड़ गई हैं, वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये हैं, पर वह अंधाधुंध भागता ही जाता है। अन्त में जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि वह उस भयावने स्थान से बहुत आगे निकल गया है तो वह अपनी आंखें खोल लेता है। अब सनोवर के पेड़ भी नहीं हैं। सर्वत्र रूखी-नंगी चट्टानें धूल-धूसरिता-सी पड़ी हैं। सूर्य क्षितिज के पार अदृश्य हो चुका है। रात्रि का आरम्भ है। सड़क एक असीम मरुभूमि में विलीन हो गई है। निराश यात्री, अपनी लम्बी दौड़ से हारा-थका, अब ठहरना चाहता है, पर उसे आगे ही बढ़ना है। उसके चारों ओर उजाड़ खंडहर पड़ता है। कुछ दबी-घुटी आवाजें सुनाई पड़ रही हैं। उसके पैर कंकालों से ठोकरें खा रहे हैं। दूर में घना कुहासा, भयावने रूप धारण कर रहा है। उसके सामने बड़े-बड़े काल खण्डों के खाके बन-बिगड़ रहे हैं। किसी भद्दी और अशुभ बात के होने का आभास मिल रहा है। यात्री चलकर नहीं, दौड़कर उस लक्ष्य की ओर बढ़ता है, जो उसे सामने ही

प्रतीत होता है, पर पकड़ाई में नहीं आता। भयंकर चीख-पुकार उसके पगों को धकेल रही है। वह प्रेत-छायाओं के साथ टकरा रहा है।

अन्त में उसे सामने एक बड़ा-सा गढ़ दिखाई पड़ता है—अंधेरा, उजाड़ और मनहूस। ऐसे मकानों के बारे में ही लोग दुःख से कहा करते हैं, "यह तो भुतहा मकान है।" पर वह युवक उस स्थान की उदासी के बारे में नहीं सोचता, उसकी काली भयंकर दीवारें भी उसपर कोई प्रभाव नहीं डालतीं। वह धूसरित जमीन और भयावने बुर्ज भी उसे कम्पायमान करने में समर्थ नहीं हो पाते। उसके मन में केवल एक विचार है कि वह लक्ष्य पर पहुंच गया है। वह अपनी थकावट और उदासी भूल जाता है। गढ़ के पास पहुंचकर वह एक दीवार के साथ टकराता है, जो फौरन ढह जाती है। उसी समय उसके चारों ओर का सबकुछ ढेर हो जाता है, बुर्जियां, मुंडेरें और चारों ओर की दीवारें सब भूमिसात् हो जाती हैं। उनका मलवा जमीन पर पहले की मिट्टी के ऊपर जमा हो जाता है।

सर्वत्र उल्लू, कौए और चमगादड़ कर्कश आवाज करते हुए उड़ रहे हैं। कभी-कभी तो वे पथिक के सिर के ऊपर ही मंडराने लगते हैं, जो चकित-सा म्लानमुख, हारा-थका मानों जमीन के साथ चिपक गया है। हिलने-डुलने की शक्ति भी उसकी जाती रही है। इतने पर ही बस नहीं, अकस्मात् वह अपने सामने अब भयानक आकृतियां देखने लगा—विनाश, नैराश्य और जीवन के प्रति घृणा। और तो और, खंडहरों के बीच में भी उसे गहरे गढ़े के ऊपर खड़ी हुई, अंधेरी और धुंधली आत्म-हत्या की मूर्त्ति दिखाई दी। इन सब प्रेतात्माओं ने उसे घेर लिया और उससे वे चिपट गईं। वे उसे खुली ढालू घाटी की ओर धकेलती जा रही थीं। बेचारा पथिक उस अदम्य शक्ति का सामना करने का प्रयत्न करता है। अब वह पीछे हटना, वहां से भाग निकलना चाहता है। वह अब उन अदृश्य बाहुओं से, जो उसे चारों ओर से जकड़े हुए हैं, अपने-आपको छुड़ा लेने का प्रयास करता है, पर अब बहुत देर हो चुकी है। वह लगातार उस विनाशकारी गढ़े की ओर बढ़ रहा है। वह उससे खिंचा, मंत्रित-सा अनुभव करता है। वह पुकारता है। कोई आवाज उसकी पुकार का उत्तर नहीं देती। वह उन आकृतियों को जोर से पकड़ता है, पर वे सब उसके पास ही ढेर हो जाती हैं। उसकी विक्षिप्त फटी-सी आंखें चारों ओर के शून्य को निहारती हैं। वह पुकारता है, विनती करता है; उत्तर में एक अशुभ और भयंकर हँसी गूंज उठती है।

पथिक अब गढ़े के किनारे पर है। उसके सारे प्रयत्न विफल हो चुके हैं। एक घोर छटपटाहट के बाद वह गिर पड़ता है—अपनी खाट के नीचे।

एक युवा विद्यार्थी को अगले दिन के लिए एक लेख लिखना था। दिन के काम से वह थका हुआ था। घर लौटने पर उसने कहा, "यह थोड़ी देर बाद लिखूंगा।" कुछ देर पश्चात् उसने सोचा कि यदि मैं जल्दी सो जाऊं, तो जल्दी ही उठ बैठूंगा और तब मैं अपना काम थोड़ी देर में समाप्त कर लूंगा। सो उसने कहा, "अब तो मैं सोता हूं, कल मैं अधिक अच्छी तरह काम करूंगा। रात्रि एक अच्छी परामर्शदात्री भी है।" उसकी बात इतनी सत्य सिद्ध होगी, उसे विश्वास न था। उपर्युक्त भयानक दुःस्वप्न ने उसकी नींद में व्याघात पहुंचाया और वह खाट से गिर पड़ने पर चौंककर जाग पड़ा। स्वप्न में जो कुछ उसने देखा था, उसपर विचार करते हुए वह चिल्ला पड़ा, "पर यह है खूब सरल। यह रास्ता 'थोड़ी-देर-बाद' का रास्ता है। यह सड़क 'कल' की सड़क है और यह बड़ा मकान, यह दुर्ग 'कुछ नहीं' का दुर्ग है।" अपनी होशियारी से वह प्रसन्न हुआ और तुरन्त काम में लग गया। तभी उसने मन में पक्का निश्चय किया कि जो काम वह आज कर सकता है उसे वह कल पर नहीं छोड़ेगा।

मैं फरिश्ता नहीं, छोटा-सा सेवक हूं

मनुबहन गांधी

नोआखाली-यात्रा के समय की बात है। गांधीजी चलते-चलते एक गांव में पहुंचे। वहां किसी परिवार में नौ-दस वर्ष की एक लड़की बहुत बीमार थी। उसके मोतीभरा निकला था। उसीके साथ निमोनिया भी हो गया था। बेचारी बहुत दुर्बल हो गई थी। मनु को साथ लेकर गांधीजी उसे देखने गये। लड़की के पास घर की और स्त्रियां भी बैठी हुई थीं। गांधीजी को आता देखकर वे अन्दर चली गईं। वे पर्दा करती थीं।

बेचारी बीमार लड़की अकेली रह गई। झोंपड़ी के बाहरी भाग में उसकी चारपाई थी। गांव में रोगी मैले-कुचैले कपड़ों में लिपटे गंदी-से-गंदी जगह में पड़े रहते। वही हालत उस लड़की की थी। मनु स्त्रियों को समझाने के लिए घर के भीतर गई। कहा, "तुम्हारे आंगन में एक महान संत पुरुष पधारे हैं। बाहर आकर उनके दर्शन तो करो।"

लेकिन मनु की दृष्टि में जो महान पुरुष थे, वे ही उनकी दृष्टि में दुश्मन थे। उनके मन में गांधीजी के लिए रंचमात्र भी आदर नहीं था। स्त्रियों को समझाने के बाद जब मनु बाहर आई तो देखा, गांधीजी ने लड़की के बिस्तर की मैली चादर हटाकर उसपर अपनी ओढ़ी हुई साफ चादर बिछा दी है। अपने छोटे से रूमाल से उसकी नाक साफ कर दी है। पानी से उसका मुंह धो दिया है। अपना शाल उसे उढ़ा दिया है और कड़ाके की सर्दी में खुले बदन खड़े-खड़े रोगी के सिर पर प्रेम से हाथ फेर रहे हैं।

इतना ही नहीं, बाद में दोपहर को दो-तीन बार उस लड़की को शहद और पानी पिलाने के लिए उन्होंने मनु को वहां भेजा। उसके पेट और सिर पर मिट्टी की पट्टी रखने के लिए भी कहा।

मनु ने ऐसा ही किया। उसी रात को उस बच्ची का बुखार उतर गया। अब उस घर के व्यक्ति, जो गांधीजी को अपना दुश्मन समझ रहे थे, अत्यन्त भक्तिभाव से उन्हें प्रणाम करने आये। बोले, "आप सचमुच खुदा के फरिश्ते हैं। हमारी बेटी के लिए आपने जो कुछ किया, उसके बदले में हम आपकी क्या खिदमत कर सकते हैं?"

गांधीजी ने उत्तर दिया, "मैं न तो फरिश्ता हूं और न पैगम्बर। मैं तो एक छोटा-सा सेवक हूं। इस बच्ची का बुखार उतर गया, इसका श्रेय मुझे नहीं है। मैंने इसकी सफाई की। इसके पेट में ताकत देनेवाली थोड़ी-सी खुराक गई, इसीलिए शायद बुखार उतरा है। अगर आप बदला चुकाना चाहते हैं तो निडर बनिये और दूसरों को भी निडर बनाइये। यह दुनिया खुदा की है। हम सब उसके बच्चे हैं। मेरी यही विनती है कि अपने मन में तुम यही भाव पैदा करो कि इस दुनिया में सभीको जीने-मरने का समान अधिकार है।"

गांधीजी का रामराज्य

काका कालेलकर

आजकल असंख्य अमरीकी लोग भारत में आते हैं, चन्द लोग सेवा के हेतु आते हैं, चन्द केवल भारत को समझने आते हैं। वे समझ गये हैं कि यूरोपीय संस्कृति ही केवल एकमात्र संस्कृति नहीं है। यूरोपीय संस्कृति का वैज्ञानिक संस्करण भी संपूर्ण मानव-संस्कृति नहीं है। दुनिया में दूसरी भी महाप्रजाएं हैं, जिन्होंने अपने-अपने ढंग से संस्कृति का विकास और विस्तार किया है। अमरीका के मनीषी अब अपनी आंखों से भारतीय संस्कृति के भले-बुरे स्वरूप को देखना चाहते हैं। इन लोगों की जल्दबाजी सब जानते हैं। धन चाहे जितना खर्च करेंगे, किन्तु समय खर्च करने की इनकी हिम्मत ही नहीं होती। थोड़े ही समय में सबकुछ देख लेना, समझ लेना, पा लेना, यही होती है उनकी कोशिश। कभी-कभी मैं इन लोगों को कहता हूं कि हम भारतीय लोग धन-दरिद्री हैं, साधन-दरिद्री हैं, लेकिन आपका समय-दारिद्रय देखकर मुझे सचमुच दया आती है।

गांधीजी को समझने की कोशिश करनेवाले चंद अमरीकी लोगों ने एक दफे मुझसे पूछा, "गाँधीजी का यह रामराज्य क्या है?" उन लोगों ने अंग्रेजी में राम-कथा पढ़ी थी। रामायण का ख्याल उन्हें कुछ था। इसीलिए मुझे उनको थोड़ा विस्तार से समझाना पड़ा।

मैंने कहा—राम प्राचीन काल के एक लोकमान्य राजा थे। अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र, जनक राजा की लड़की सीता से उनका विवाह हुआ था। विमाता कैकेयी ने उन्हें चौदह वर्ष का वनवास दिलवाया। वह दक्षिण के जंगलों में जाकर रहे। वहां लंका के राजा रावण ने सीता का अपहरण किया। राम ने दक्षिण के आदिवासियों की मदद से एक फौज खड़ी की। रावण को हराया। अपनी पत्नी को छुड़ाकर अयोध्या लौटे और अपनी संस्कृति के आदर्श के अनुसार राज्य चलाया। ऐसे उस राम पर समस्त प्रजा इतनी खुश थी कि लोग अपनी कल्पना के आदर्श राज्य को रामराज्य कहने लगे। महाकवि वाल्मीकि ने अपने ढंग से राम-कथा का वर्णन किया। उसका नाम है रामायण। यह महाकाव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि लोगों ने उस काव्य को धर्मग्रन्थ की प्रतिष्ठा दी और हर एक राजा के सामने राम का आदर्श रखा। 'प्रजा के आदर्श के अनुसार राज्य चलाना, अपने सुख-दुःख को भूल जाना और कहीं भी अन्याय को प्रश्रय नहीं देना', यह था रामायण का आदर्श। लोग मानने लगे कि राज्य में अगर कहीं भी अन्याय रहा तो वह दोष राजा का ही है।

वाल्मीकि के बाद जितने बड़े-बड़े कवि हुए, सभीने राम-कथा अपने जमाने के अनुसार गायी है। उत्तर भारत में तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' लिखा, जो वाल्मीकि की रामायण से बहुत-कुछ भिन्न भी है। लेकिन चूंकि तुलसी रामायण उस जमाने की लोक भाषा में लिखी हुई थी और उस जमाने के आदर्श राजा का वर्णन उसमें था, इसलिए लोगों ने वाल्मीकि-रामायण से भी तुलसी-रामायण को अधिक अपनाया।

दोनों रामायणों को जाननेवाले लोग जनता को समझाने लगे कि भगवान ने जब राम का अवतार लिया तब राजा रामचन्द्र जीये वाल्मीकि रामायण के अनुसार; उन्होंने अपना अवतार-कार्य बराबर वैसा ही किया जैसा वाल्मीकि ने लिखा है।' लेकिन चूंकि तुलसीदास हनुमान के अवतार थे, इसलिए भगवान ने तुलसीदास को आशीर्वाद दिया कि कलियुग में तुलसी रामायण का प्रचलन होगा और लोग उसी पर विश्वास करेंगे।

आजकल पश्चिमी ढंग के इतिहास-संशोधकों में दो पक्ष हैं। कोई कहते हैं राम जैसा कोई राजा हुआ ही नहीं।

वाल्मीकि ने जनश्रुति के आधार पर एक आदर्श राजा का चित्र खड़ा किया। वह इतना लोकप्रिय हुआ कि लोगों ने काल्पनिक राम की ऐतिहासिक हस्ती मान्य की। आज भी लाखों लोग मानते हैं कि 'वाल्मीकि ने प्रथम रामायण को रचा। बाद में भगवान ने राम का जन्म लेकर उसीके अनुसार अवतार-कार्य किया !'

दूसरा पक्ष कहता है—राम को काल्पनिक मानने का कोई कारण नहीं है। राम एक ऐतिहासिक पुरुष था। उसने जनक राजा से खेती की विद्या सीख ली। सीता कहते हैं 'हल के द्वारा जमीन में जो लकीर होती है', राम ने यह खेती की कला दक्षिण में फैलाई। जिस जमीन ने कभी 'हल' को देखा नहीं था (इस वास्ते जो अहल्या थी) उसका राम ने उद्धार किया। बाद में राम लंका तक गये। वहांपर आर्य संस्कृति का प्रचार किया इत्यादि।

आर्यों के ऐसे कुछ सांस्कृतिक पराक्रम को लेकर कवियों ने ऐतिहासिक महाकाव्य लिखे। आज जो भी रामकथा पायी जाती है अक्षरशः ऐतिहासिक नहीं है। ऐतिहासिक राम-कथा को लेकर उसके इर्द-गिर्द अपने-अपने जमाने के आदर्श को कवि लोग वर्णित करते हैं। इस आखिरी बात में दोनों पक्ष एकमत हैं।

इस तरह 'रामराज्य' भारतीय संस्कृति का एक चलनी शब्द है। महात्माजी भारतीय जनता के लिए बोलते थे, लिखते थे, इसलिए 'अपने दिल के आदर्श राज्य' को रामराज्य कहना उनके लिए स्वाभाविक था। अगर मैं आपकी अमरीका में आऊं तो हिसाब-किताब डालर में रखूंगा, ब्रिटेन जाऊं तो पाउन्ड, शिलिंग पेंस में, जापान जाऊं तो येन में और भारत में रुपये-पैसे की भाषा बोलूंगा। इसी तरह 'सत्य, अहिंसा, संयम और सेवा' के आदर्श का स्वीकार करके चलनेवाले राज्य को गांधीजी ने रामराज्य कहा है। ऐतिहासिक राम ने सीता का त्याग किया, उसका समर्थन शायद आज हम नहीं करेंगे। ऐतिहासिक राम ने ब्राह्मणों के कहने पर लाचार होकर शूद्र मुनिशंबूक का वध किया होगा उसका समर्थन करने की भी आवश्यकता नहीं है। आज हम न वाल्मीकि के दिनों की राज्य-व्यवस्था चलाना चाहते हैं, न तुलसीदास के दिनों की। हमारा राम ऐतिहासिक राम की आज की नई आवृत्ति होगी। इसमें हम इतिहास पर अत्याचार नहीं करते। सनातन काल से भारतीय महाकवि (और छोटे-मोटे कवि भी) राम की नई-नई आवृत्ति निकालते आये ही हैं। राम के बारे में जिसने कुछ भी लिखा नहीं, ऐसा भारतीय कवि मिलना मुश्किल है। बंगाल में कृत्तिवास का रामायण चलता है। उत्तर भारत में तुलसीदास का। महाराष्ट्र में तो अनगिनत रामायण चलते हैं। एकनाथ का भावार्थ-रामायण। श्रीधर का रामविजय। अकेले मेरोपंत ने अलग-अलग एकसौ साठ रामायण लिखे हैं। दक्षिण में कबन का रामायण आज भी चलता है। गुजरात, कर्नाटक हरेक प्रान्त की राम-कथा की आवृत्ति आपको मिलेगी ही। ठीक सुदूर जावा में भी वहां के लोगों ने अपनी रामकथा चलाई है। आपको दिलचस्पी हो तो स्पेन के एक ईसाई जेस्युट फादर कामिल बुल्के की किताब जरूर पढ़िये। उन्होंने वेदकाल से लेकर आज तक की रामकथाओं का विशाल इतिहास उसमें प्रस्तुत किया है।

और एक बात कहूं ? आर्य संस्कृति और इस्लामी संस्कृति का समन्वय करनेवाले एक संत कवि उत्तर भारत में हो गये हैं—कबीर। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनको अपनाते हैं। इन कबीर ने दक्षिण भारत के संत रामानन्द से दीक्षा ली थी। कबीर राम-भक्त बना। लेकिन एकेश्वरी कबीर ने राम के साथ सीता का नाम नहीं रखा। कबीर का राम ऐतिहासिक राम नहीं था। भारतीय संस्कृति का आदर्श राजा और ईश्वरी अवतार राम को ही कबीर ने माना है और गाया है। काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और सिंध से लेकर आसाम के पूर्व सिरे तक सारे भारत ने कबीर को अपनाया है। यह है हमारी राम-भक्ति और यही है हमारा रामराज्य। हिन्दू मुस्लिम आदि सब धर्मों का समन्वय करने की कोशिश करनेवाले गांधीजी की हत्या जब संकुचित आदर्शवाले एक हिन्दू ने की तब गांधीजी के मुंह से अन्तिम शब्द निकला 'हे राम !'

जिस सार्वभौम आध्यात्मिक सत्य की महात्माजी ने उपासना की उसी सत्यनारायण को गांधीजी राम के नाम से पहचानते थे। उसीके राज्य को वह रामराज्य कहते थे। इसमें ऐतिहासिक राम का, वाल्मीकि के राम का,

तुलसीदास के राम का या गुजरात के गिरधर के राम का इन्कार नहीं है। सबका स्वीकार है। इन्कार है केवल संकुचितता का, मर्यादा के बंधन का। ऐतिहासिक राम ने जिस आदर्श का चिंतन और पालन किया उसीका विकास करने का काम भारतीय जनता करती आई है। आदर्श राम नित्य वर्धमान सनातन राम है, न वह वाल्मीकि के वचनों से बद्ध हो सकते हैं, न तुलसीदास के वचनों से ! और मैं कहूंगा कि न गांधीजी के वचनों से भी। इन सबके राम पूर्ण परब्रह्म परमात्मा ही हैं, जिसका पूर्ण आकलन तो परमात्मा को ही हो सकता है।

यह पैसा भी तो मेरा ही है

गांधीजी यरवदा-जेल में थे। उनके स्वास्थ्य को देखते हुए यह निश्चित किया गया कि उन्हें मक्खन खाना चाहिए। गांधीजी बोले, "मैं केवल बकरी के दूध का मक्खन ले सकता हूं।"

वह कोई बहुत कठिन काम नहीं था, लेकिन मक्खन आने पर प्रश्न उठा कि उसे किस चीज के साथ लिया जाय ? गांधीजी बोले, "मुझे थोड़ा आटा दीजिये।"

आटा आ गया, लेकिन वह मोटा था। गांधीजी उसे पचा नहीं सकते थे। उन्होंने कहा, "मुझे बारीक आटा चाहिए।"

दस सेर बारीक आटा आ गया। इतना आटा लेकर करते भी क्या ? कुछ समय बाद उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें न आटे की आवश्यकता है, न मक्खन की। उन्होंने कहा, "यह आटा ले जाइये और मक्खन भी बन्द कर दीजिये।"

लेकिन जो दिया गया था, वह वापस नहीं लिया जा सकता था। अधिकारियों ने सोचा कि हो सकता है, गांधीजी बाद में आवश्यकता अनुभव करें, लेकिन गांधीजी ने उन्हें शान्त भाव से समझाते हुए कहा, "जितनी चिन्ता मुझे अपने पैसे की है, उतनी ही सार्वजनिक धन की भी है। यह पैसा भी तो मेरा ही है।"

सरकारी अधिकारियों ने पूछा, "सरकारी खजाने में आपने कब और कितना पैसा जमा कराया ?"

गांधीजी ने नम्रता से उत्तर दिया, "आप सरकार से जो वेतन लेते हैं उसका कुछ भाग खजाने में देते हैं, लेकिन मैं तो अपना सबकुछ देता हूं। मेरा श्रम, मेरी बुद्धि, मेरा सर्वस्व।"

वैष्णव का साम्यवादी आचार

बलदेव उपाध्याय

आचार और विचार का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। आचार विचार के चिन्तन से अपना पोषक द्रव्य ग्रहण करता और विचार आचार के रूप में अपनी परिणति प्राप्त करता एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। जो आचार विचार के द्वारा पुष्ट नहीं किया जाता वह अधूरा है, आधारहीन है; अपनेको स्थिर रखने की क्षमता का उसमें नितान्त अभाव है। वह विचार भी दिमागी कसरत से बढ़कर नहीं हो सकता है, जो अपना पर्यवसान या अन्तिम लक्ष्य आचार के माध्यम से पुष्ट नहीं कर सकता। तथ्य तो यह है कि विचार की परिणति आचार के रूप में ही होती है। इस तथ्य का प्रतिपादक एक प्राचीन प्रख्यात पद्य है, जिसमें 'पण्डित' की परिभाषा ज्ञानवान होने की अपेक्षा आचारवान होने में ही बतलाई गई है—

> **शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा,**
> **यस्तु क्रियावान पुरुषः स विद्वान्।**
> **सुचिन्तितं चौषधमातुराणां,**
> **न नाममात्रेण करोत्यरोगम्॥**

अनेक शास्त्रों को पढ़कर भी मनुष्य मूर्ख होता है। वही पुरुष विद्वान कहलाता है, जो क्रियावान हो, आचारवान हो, जो पढ़ी वस्तु को क्रियात्मक रूप देता है। उदाहरण से इसे समझिए। रोगी लोगों को सुचिन्तित भी औषध या उसके नाम लेने मात्र से रोगहीन बना डालती है? कभी नहीं। उसके लिए आवश्यक है औषध का निर्माण, निर्मित औषध की प्राप्ति और प्राप्त औषध का विधिवत् सेवन। क्रिया के द्वारा ज्ञान की सफलता है। नहीं तो वह ज्ञान भार बन जाता है—ढोने की चीज जिसका उपयोग ही नहीं हो पाता। **"ज्ञानं भारः क्रियां विना"** इस शास्त्रीय वचन का यही परिनिष्ठित तात्पर्य है।

वैष्णव विचार का स्वरूप क्या है? भगवान के प्रति भक्ति-भावना का आदर्श तो उसके रग-रग में व्याप्त है। उसका सामाजिक आदर्श क्या है? समाज के प्रति, जिसमें वह अपना दैनन्दिन जीवन बिताता है, उसका क्या लक्ष्य है? इन प्रश्नों का उत्तर गम्भीरता से विचारने योग्य है। **उत्तम भागवत** का लक्षण शास्त्रों में नाना दृष्टियों से दिया गया है। सामाजिक दृष्टि से उत्तम वैष्णव का लक्षण इस प्रकार है—

> **न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।**
> **सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥**
> **(श्रीमद्भागवत, ११सं०, २।५२)**

श्लोक का तात्पर्य मननीय है। साधारणतया जीवों में तथा वित्त में—धन में—भेद-भाव का ही बोलबाला है। यह मेरा लड़का है, यह दूसरे का है। यह सम्पत्ति मेरी है, यह दूसरे की है—यही तो हमारा दैनन्दिन का अनुभव है। परन्तु उत्तम वैष्णव इसमें भेदभाव नहीं रखता। वह स्व और पर का इन विषयों में भेद नहीं मानता। अपने परिश्रम से कमाई सम्पत्ति में भी अपना ही पूर्ण अधिकार नहीं मानता। समाज में रहकर वह उसे कमाने में समर्थ होता है, फलतः वह समाज के मानवों को भी उस सम्पत्ति में हकदार मानता है। वह सब भूतों से बराबर का व्यवहार करता है तथा जो कामनाओं के द्वारा अशान्त न होकर संतोष से अपने में शान्ति बनाए रखता है—वह होता है भागवतों में अर्थात् भगवान के सेवक भक्तों में उत्तम (श्रेष्ठ वैष्णव)।

कांचन के व्यवहार में शुचि होना ही वास्तव में शुचिता की कसौटी है। रुपयों के मामले में बड़ों-बड़ों को फिसलते हुए हम नित्य देखते हैं। एषणा के विविध रूपों में **धनैषणा अपनी प्रमुखता** रखती ही है। ऐसी दशा में **जो व्यक्ति अपने धन को** स्वयं ही भोज्य न मानकर दूसरे

के लिए भी निष्ठापूर्वक रखता है, उससे बढ़कर किस व्यक्ति का शुद्ध व्यवहार हो सकता है ? **यो वै अर्थशुचिः शुचिः।** अर्थ में शौच ही वास्तव में शौच है। फलतः वैष्णव जन का आदर्श इसी तथ्य को मानकर प्रवृत्त होता है। श्रीमद्भागवत पुराण साम्यवाद के मूल मनन को इस पद्य में उद्घोषित करता है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

समस्या है—धन में प्राणियों का अधिकार कितना ? मीमांसा है—जितने से प्राणी का पेट भरता है, उतने ही धन में उसका स्वत्व है—अपनापन है—स्वकीय कहने का अधिकार है। उससे अधिक में जो व्यक्ति अपना अधिकार मानता है, वह स्तेन—चोर है। सामाजिक दृष्टि से दूसरे के स्वत्व को चुरानेवाला है और इस प्रकार वह दण्ड के योग्य है, सम्मान के योग्य नहीं। भागवत का यह सामाजिक आदर्श तभी चरितार्थ हो सकता है, जब प्रजा पूर्वोक्त वैष्णवता के तथ्य को मानने के लिए कृत संकल्प हो। **सर्वभूतसमता** अर्थात् **साम्यवाद** ही वैष्णव धर्म का आदर्श है और इसका पालन करनेवाला व्यक्ति ही यथार्थतः परम शुचि हो सकता है।

'वैष्णव जन तो तेने कहीये जो पीड़ पराई जानै रे'—नरसी का यह प्रख्यात लक्षण पूर्वोक्त आदर्श की ही आधारभूमि पर खड़ा है। यह दशा कब चरितार्थ होगी ? जब भागवत के अनुसार प्राणी स्व और पर जीवों में किसी प्रकार का भेद नहीं जानेगा। स्वार्थ का इतना बड़ा साम्राज्य है इस जगती-तल पर कि हम आत्मीय के अतिरिक्त परकीय के प्रति अपना ध्यान ही आकृष्ट नहीं करते। जब देखो, तब अपने में ही लगे रहते हैं—

अशनं मे वसनं मे दारा मे बन्धुवर्गो मे।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ॥

अशन (भोजन) मेरा ही है, वसन, दारा तथा बन्धुवर्ग सब तो मेरे ही हैं। इस प्रकार मेरा-मेरा करते हुए व्यक्ति को काल खा जाता है, ठीक उस भेड़िये के समान, जो मैं-मैं करनेवाले बकरे को फाड़कर खा जाता है। 'मम' ही तो बन्धन है **'न मम'** ही तो छुटकारा है। वैष्णव जन का तो यही आदर्श है—'न मम' 'न आत्मनि भिदा।

अहिंसा वैष्णव धर्म का प्राण है। 'सर्वभूतसमः' 'सर्वभूतहितेरतः' आदि विशेषण वैष्णवजन के लिए शास्त्रों में आते हैं। सब प्राणियों को बराबरी की दृष्टि से देखनेवाला व्यक्ति 'सर्वभूतसमः' (सर्वेसु भूतेसु सम.) होता है और इसी प्रकार सब भूतों के हित में निरत रहनेवाला व्यक्ति वैष्णव की महनीय पदवी को धारण कर सकता है। वैष्णव होना कोई साधारण-सी बात नहीं है। जबतक वह व्यक्ति सब प्राणियों के प्रति समत्व की तथा हितकामना की भावना नहीं रखता, तबतक वह वैष्णव होने की योग्यता ही नहीं रखता। 'सर्वभूतसमः' प्राणी क्या किसीसे द्वेष कर सकता है ? क्या वह कभी किसीका अनिष्ट चिन्तन कर सकता है ? क्या वह किसीकी बुराई करने पर तैयार हो सकता है ? नहीं, कभी नहीं। विष्णु ठहरे सत्त्व-प्रधान देवता, विश्व के पालन-पोषण करनेवाले देवता। उनकी भक्ति में निमग्न होनेवाला व्यक्ति कभी हीनता की भावना से दुःखित नहीं होता। वह जानता है कि भगवान् लक्ष्मी की, उनके याचक राजाओं की तथा देवों की परवाह नहीं करते, परन्तु वह अपने भक्तों के पराधीन रहते हैं। ऐसी दशा में कृतज्ञ वह भक्त भगवान् को कैसे छोड़ सकता है ?

श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च,
द्विपदपतीन् विसुधांश्च यः स्वपूर्णः।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः,
कथममुम् उद्विसृजेत् पुमान् कृतज्ञः।

तात्पर्य यह है कि सच्चा वैष्णव जन-जन के भीतर भगवान का ही विग्रह देखता है, वह समस्त विश्व को आत्मीय समझता है, तब उसका सामाजिक व्यवहार असन्तुलित कैसे हो सकता है ? व्यवहार में शुचिता की मर्यादा रखना वैष्णव खूब जानता है। वह स्वयं शुचि होता है, भीतर से और बाहर से। बाह्य शौच तथा आन्तरिक शौच से सम्पन्न होनेवाला विष्णु-भक्त कभी भी अन्याय का, अनीति का तथा दुराचार का पल्ला नहीं पकड़ता। वह सबसे समरस बर्ताव करता है। ऊपर आरम्भ में ही कहा गया है कि विचार की परिणति आचार में ही होती है। फलतः विष्णु की भक्ति से सम्पन्न **व्यक्ति अपने आचार में सदा उदार रहता है; दूसरों के दुःख से दुःखी**

होकर वह सहानुभूति से स्निग्ध रहता है तथा आचार की पवित्रता का पूर्णतः पालन करता है। पाठकों से प्रार्थना है कि वैष्णव के इस सामाजिक व्यवहार की पवित्रता का मूल्यांकन करना सीखें और सच्चा वैष्णव बनने का अपने पूर्ण प्रयत्न करें। तीव्र कामना अवश्यमेव फलवती होती ही है। स्मरण करने पर भगवान् भक्त के हृदय में प्रवेश कर उसके पापों को दूर कर देते हैं तथा उसे निर्मल बना देते हैं जिससे उसका व्यवहार स्वजनों तथा परजनों के साथ समरस होता है।

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य,
त्यक्त्वान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित्,
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

—भागवत ११।५।४२

सच्चा गहना

नेकीराम गुप्त

श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर बंगाल के एक बहुत बड़े नेता हुए हैं। वह बचपन से ही बड़े दयालु थे। कोई भी याचक उनके दरवाजे से खाली नहीं गया। एक दिन जब वह कहीं बाहर जाने को तैयार थे तो एक बहुत ही दीन व्यक्ति उनके घर पर मांगने आया। उन्हें उस याचक पर बड़ी दया आई और वह तुरन्त घर में से कुछ लाने गये। उनकी माता ने कहा, "बेटा, इस समय घर में पैसा कोई नहीं। मैं क्या दे सकती हूं। जो कुछ थोड़ा-बहुत जमा होता है, वही तुम दीन-दुखियों में बांट देते हो। अब इस समय मैं कुछ नहीं दे सकती।"

श्री ईश्वरचन्द्र बहुत दुखी हुए, परन्तु निराश नहीं। उन्हें अपनी मां के हाथ में एक सुनहरी कंगन दिखाई दिया। बड़ी नम्रता से प्रार्थना की, "मां, तुम मुझे यह कंगन दे दो। मैं इसे बेचकर पैसे ले आऊंगा। बड़ा होकर मैं तुम्हारे लिए तुम्हारी पसन्द के गहने बनवा दूंगा।"

मां बेटे के दिल की बात को समझ गई और सहर्ष कंगन उतारकर दे दिया। ईश्वरचन्द्र को शान्ति मिली। बड़े होने पर एक दिन उन्होंने अपनी मां से कहा, "मां, तुम्हें याद है, मैंने तुमको वचन दिया था कि तुम्हारी इच्छानुसार गहने बनवा दूंगा।"

मां बोली, "बेटा, जो मैं चाहती हूं, क्या बनवा पाओगे। उस सबके लिए बहुत धन चाहिए।"

ईश्वरचन्द्र ने कहा, "मां, तुम्हारी इच्छापूर्ति में मेरा सब-कुछ चला जाय, तो भी मैं मुंह न मोड़ूंगा। सिर्फ तुम्हारी आज्ञा की आवश्यकता है।"

मां ने कहा, "सबसे बड़ा जेवर ज्ञान है, देश के अनेक भाई-बहन अज्ञानता के गड्ढे में पड़े हैं। इनमें शिक्षा का प्रचार करने के लिए, ज्ञान की रोशनी फैलाओ, विद्यालय खोलो और निःशुल्क शिक्षा का प्रचार करो। यह मेरे लिए सबसे बड़ा गहना होगा।

"देश के अनेक भाई-बहन रोगों के जाल में फंसे हैं। उनके लिए दवा-दारू की सुविधा नहीं है। वे बहुत गरीब हैं। जहांतक हो सके, ऐसे साधनहीन रोगियों के लिए मुफ्त दवाखाने खोलो। यह मेरा दूसरा गहना होगा।

"तीसरे, बहुत-से भाई-बहन भरपेट खाना भी नहीं खा सकते। इन सबकी सहायता के लिए सदाव्रत भोजन-भण्डार खोलो। बेटा, मेरा आशीर्वाद है।"

मां की बात विद्यासागर के मन में समा गई और जीवन-पर्यन्त वह इसी प्रकार के सेवा-कार्यों में लगे रहे।

श्रीराम : धर्म के सनातन स्तम्भ

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

●

विश्व के इतिहास में प्रत्येक राष्ट्र किसी विशेष विचार का प्रतीक रहा है, जिसे उसने अपनी जनता के जीवन में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार यूनान के लोगों ने सौन्दर्य का विचार रखा, रोमन लोगों ने कानून का विचार रखा, स्पार्टा के लोगों ने शक्ति को प्रमुखता दी तथा अंग्रेजों का चरित्र वैधानिक शासन के आधार पर निर्मित हुआ है, इसी प्रकार यूनानी तथा रोमन लोगों से बहुत पहले, हमने भारत में अपने जीवन को धर्म के नियमों के अनुसार चलाने का निश्चय किया था, जिसके अन्तर्गत वे सब चीजें आ जाती हैं, जिनसे आदर्श मानवता निर्मित होती है।

सनातन सत्य वेदों और उपनिषदों में थे, परन्तु उनको आम जनता के लिए व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक था। सत्य को पृथ्वी पर अवतरित होना था और वह श्रीराम के रूप में अवतरित हुआ, जो कि लोकरंजक बने।

भारतीय संस्कृति का मुख्य शब्द धर्म है। इसके अन्तर्गत जीवन की दृष्टि तथा पद्धति आती है और यह मानव के भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन में समन्वय करता है। इसमें मानवीय पूर्णता रहती है, जो जीवन के सभी पक्षों को स्पर्श करती है, जिसमें व्यक्तिगत उत्थान तथा विश्व-कल्याण होता है।

जलाना आग का स्वाभाविक कार्य है। यह उसका स्वभाव है। अन्य प्राणियों के लिए जो स्वभाव है, वह मनुष्य के लिए स्वधर्म बन जाता है। स्वधर्म को छोड़ने से मानव के नष्ट होने का खतरा है। जो आग जलाती नहीं या जो बिच्छू डंक नहीं मारता, वह अपने स्वभाव को छोड़ देता है। अतः वह आग या बिच्छू नहीं रहता। इसी प्रकार मनुष्य को अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिए, अन्यथा वह पशु बन जायगा। सामाजिक भाषा के अनुसार वह अपनी जाति से भ्रष्ट हो जायगा।

मनुष्य का स्वधर्म एक पूर्णता के आदर्श की शाखा है। वह सर्वोच्च धर्म है, जो मानव की समस्त क्रियाओं में व्याप्त रहता है। यही कारण है कि स्वधर्म छोड़ा नहीं जा सकता, अन्यथा वह पूर्णता की प्राप्ति में बाधक होगा। यदि कोई अपने जीवन को इस उच्चतर धर्म के अनुसार बनाये तो इसका प्रत्येक पहलू पूर्ण हो जायगा और उसे शान्ति तथा सुख प्राप्त होगा। परीक्षाएं तथा कष्ट सतह पर रहते हैं, परन्तु वे उस जीवन की बुनियाद को नहीं हिला सकते, जिसकी जड़ें धर्म में रहती हैं।

रामायण के श्रीराम मनुष्यों के जीवन में धर्म के औचित्य के सनातन आदर्श हैं। उनकी दृष्टि में धर्म अत्यन्त प्राचीन है तथा उसका प्रभाव विश्वव्यापक और सनातन है। स्वयं कठोरता से धर्म का पालन करते हुए श्रीराम अन्य लोगों से भी धर्माचरण की आशा करते थे। दिये हुए वचन को पुत्र के प्रति प्रेम के कारण तोड़ना वह उचित नहीं मानते थे। अपनी माता को उन्होंने समझाया कि उसका स्वधर्म अपने पति को धीर बंधाना था, जिनका चित्त कैकेयी के बाण लगने से व्याकुल था। उनके भाई ने जब आमरण अनशन की धमकी दी तो उन्होंने उसे डांटा कि उपवास करना ब्राह्मण का स्वधर्म है, क्षत्रिय का नहीं।

बाल्मीकि ने गूढ़ सिद्धान्तों का वर्णन नहीं किया है। उन्होंने सत्य का वर्णन लौकिक तथा उदार स्तर पर किया है, जिस रूप से वह जनसाधारण के दैनिक जीवन पर लागू होता है, उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, भौतिक जीवन पर तथा युद्ध और शान्ति, साध्य और साधन तथा बन्दर, रीछ, गिलहरी इत्यादि अन्य प्राणियों पर वह जिस

रूप में लागू होता है उसी धर्म का वर्णन वाल्मीकि ने किया है।

महर्षि वाल्मीकि ने श्रीराम के लिए दो विश्लेषणों का प्रयोग किया है, जो महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने श्रीराम को सत्यवाक्य तथा धृतव्रतः कहा है। सत्य धर्म का आधार है। सत्य से विश्व की स्थिरता का बोध होता है तथा मानवी जीवन और व्यवहार में ऋत की अभिव्यक्ति सत्य के रूप में होती है। यदि लोग सत्य को छोड़ दें तो सृष्टि छिन्न-भिन्न हो जायगी। यही कारण है कि गांधीजी ने एक बार भूकम्प को मनुष्य के पाप का ईश्वरीय दण्ड बताया था। मेरा ख्याल है कि तमिल कवि कम्बन ने लिखा है कि हनुमान ने श्रीराम को विश्वास दिलाया कि रावण जब सीता को ले गया तब उसने उनका स्पर्श नहीं किया, यदि वह स्पर्श करता तो 'आसमान से तारे टूटकर गिर पड़ते तथा सागर अपने तट द्वारा सीमित न रहता।' इससे स्पष्ट है कि सृष्टि का आधार नैतिकता है और जब लोग धर्म छोड़ देते हैं तो उनपर कष्ट आते है।

श्रीराम कभी दो बातें नहीं बोलते थे। स्वयं कैकेयी ने कहा था 'द्विर्नाभिभाषते।' सत्य श्रीराम के जीवन का आधार था। जब सीता ने उनसे अनुनय की कि वह दण्डकारण्य के राक्षसों से संघर्ष न करें, तो उन्होंने उत्तर दिया कि ऋषियों के दिये हुए वचन को तोड़ा नहीं जा सकता। वह स्वयं अपना या सीता का जीवन दे सकते हैं, परन्तु अपने वचन से नहीं मुकर सकते हैं। जब लक्ष्मण ने इन्द्रजीत पर शक्ति छोड़ी थी तो उसके साथ उन्होंने वह शक्ति संयुक्त कर दी थी, जो उन्होंनें सत्य के पालन से प्राप्त की थी।

लोगों के जीवन में सत्य की स्थापना के लिए वह हर प्रकार के बलिदान करने को तैयार थे। उन्होंने अपने पिता को अपने वचन का पालन करने को विवश किया, यद्यपि यह दबाव में दिया गया था। सत्य के पालन के लिए राज्य को त्यागने में उनको ज़रा भी देर नहीं लगी, क्योंकि धर्म के सिक्के का एक पक्ष सत्य और दूसरा त्याग है। धर्मपालन के श्रीराम के दृढ़ संकल्प के सामने भरत तथा ऋषि जाबालि के सब तर्क बेकार रहे। इसी प्रकार की त्यागभावना से उन्होंने निन्दा करनेवालों की जबान बन्द करने के लिए सीता को त्याग दिया था। उनके सतीत्व के विषय में कानाफ़ूसी की सम्भावना मात्र से उन्होंने उनकी अग्नि-परीक्षा कराई थी। यह उस सिद्धांत के अनुसार हुआ कि मनुष्य को अपने जीवन में सही होना ही नहीं चाहिए बल्कि दुनिया को भी विश्वास दिलाना चाहिए कि वह सही है। जगत् को धर्म के पथ पर चलाने यही मार्ग है।

इस प्रकार श्रीराम धर्म के सनातन स्तम्भ हैं। उनके उदाहरण तथा प्रेरणा पर ही हमारी प्राचीन संस्कृति टिकी हुई है। सत्य तथा त्याग के रूप में धर्म उनमें पूर्ण रूप से व्यक्त हुआ था, अतः उनको विग्रहवान् धर्मः कहा गया। धर्म हमारी इस जीवन-पद्धति का अनोखा घटक है, जो पूर्वजों से हमें प्राप्त हुई। समस्त कालों तथा समस्त राष्ट्रों के लिए धर्म ही आदर्श है।

वर्तमान युग में जबकि अनैतिक शक्तियां हमारे जीवन को छिन्न-भिन्न कर रही हैं, हमारे दृष्टिकोण तथा बुनियादों को विकृत कर रही हैं, सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है कि श्रीराम की वाणी सुनें, जो उन्होंने अपने कार्यों में व्यक्त की, जिनमें हमारे सनातन धर्म के सनातन आदर्श प्रतिबिम्बित हुए।

आप ईश्वर और धन दोनों की एक साथ पूजा नहीं कर सकते।

—मो० क० गांधी

वैष्णव जनों की कुछ बोध-कथाएं

कु० राज्यश्री जोशी

तुकाराम

१

एक बार संत तुकाराम अपना माल बेचकर वापस आ रहे थे। रास्ते में एक बूढ़े ने उनके पांव पकड़ लिये और सहायता की भीख मांगी। उस बूढ़े का जवान लड़का मर गया था और उसकी जमीन साहूकार के कब्जे में चली गई थी। उसकी कहानी सुनकर तुकाराम महाराज पसीज गये और उन्होंने अपने पास के पचास रुपये उसको देकर कहा, "यह लो, इससे अपना खेत छुड़वा लेना।' जब तुका-राम खाली हाथ घर लौटे, उनकी पत्नी जीजाबाई ने उनकी खूब खबर ली। पर तुकाराम के जीवन में ऐसी घटनाएं हमेशा होती रहती थीं।

२

संत तुकाराम को बदनाम करने के लिए एक बार एक बदचलन औरत को एकांत में उनके पास भिजवा दिया गया, मगर उसकी एक न चली। तुकाराम महाराज ने कहा, "हमारे लिए दूसरे की स्त्री तो रखुमाई, देवी के समान है। यह बात मन में पक्की हो गई है। ऐ मां! तू चली जा, कोई प्रयत्न मत कर। हम विष्णुदास ऐसे निष्कृष्ट नहीं हैं। तेरा यह पतन मुझसे देखा नहीं जाता। तू अपने मुंह से ऐसी गन्दी बातें मत निकाल। (तुकाराम कहते हैं) अगर तुझे पति ही चाहिए तो क्या दुनिया में आदमियों की कमी है?"

तुकाराम के हृदय की यह पवित्रता देखकर वह स्त्री लज्जा से जमीन में गड़ गई और अन्त में उनकी भक्त बन गई।

३

उसी युग में छत्रपति शिवाजी ने पूना जिले में स्व-राज्य की नींव डालने का काम आरंभ कर दिया था। उन्होंने जब तुकाराम महाराज की कीर्ति सुनी तो उनके सम्मान के लिए पालकी, छत्र, घोड़ा, आफताबी सैंकड़ों मुहरों आदि का नजराना भेंट दिया, मगर तुकाराम ने यह कहकर वह सब लौटा दिया :

दिवय्या छत्री घोड़े,
हे तो बन्यांत न पड़े।

—पलीते, छत्र, घोड़े आदि चीजों से कोई भलाई नहीं होगी।

४

इसके बाद शिवाजी महाराज स्वयं तुकाराम के दर्शन करने गये। शिवाजी कई बार उनका कीर्तन सुनने भी जाते थे। एक बार मुसलमानों को इसका पता लग गया और उन्होंने कीर्तन के समय शिवाजी महाराज को घेर लिया। तुकाराम ने यह देखकर ईश्वर को पुकारना शुरू किया :

न देखवे डोडा ऐसा हा अकान्त,
परपीड़े चित्त दुःखी होते।।

—यह सब हमसे देखा नहीं जाता, दूसरों की पीड़ा से हमारा मन दुःखी होता है।

इसपर भगवान की करामात देखिए कि घेरा डालने-वाले मुसलमानों को कीर्तन सुननेवाला हर आदमी शिवा-जी महाराज जैसा ही दिखाई देने लगा। वे चक्कर में पड़ गए और इस बीच शिवाजी महाराज वहां से निकल गये।

ज्ञानेश्वर

१

एक बार ज्ञानेश्वर नहाने के लिए नदी की ओर निकले। इतने में एक स्त्री ने आकर उनको प्रणाम किया। उन्होंने हमेशा की तरह आशीर्वाद दिया, "मां तुम्हारा सुहाग सदा बना रहे!"

उनके मुंह से यह बात सुनकर वह स्त्री हँस पड़ी और आंखों से आंसू पोंछते हुए बोली, "आपने शायद अगले जन्म की बात कही है।"

ज्ञानोबा चौंक पड़े। उन्होंने इधर-उधर देखा तो सामने ही एक अर्थी दिखाई दी। वह झट समझ गये कि यह अर्थी उस स्त्री के पति की है। उन्होंने लोगों से पूछा, "इनका नाम क्या है ?"

"इन्हें सच्चिदानन्द कहते थे !" लोगों ने बताया।

"सच्चिदानन्द ? फिर वह कैसे मर सकते हैं ?" इतना कहकर वह अर्थी के पास गये और बोले, "देखो, सच्चिदानन्द बाबा, इतनी देर से क्यों सोये हो ? उठो जल्दी !"

और सचमुच सच्चिदानन्द बाबा उठ बैठे और उन्होंने ज्ञानेश्वर महाराज के पैर पकड़ लिये। इन्हीं सच्चिदानन्द बाबा ने संत ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' लिखने का काम किया।

२

गोदावरी नदी के किनारे चांगदेव नाम के एक बड़े योगी रहते थे। उनकी उम्र चौदहसौ वर्ष की थी। उन्होंने ज्ञानेश्वर की कीर्ति सुनी तो बड़े अचम्भे में पड़ गये। उन्होंने सोचा कि ज्ञानेश्वर को एक पत्र लिखना चाहिए। इसलिए वह पत्र लिखने बैठ गये। सवाल यह उठा कि शुरू में क्या लिखें। अगर छोटा जानकर चिरंजीवी लिखते तो ज्ञान में वह बड़े थे और अगर बड़ा जानकर लिखते तो उम्र में बहुत छोटे थे। आखिर उन्होंने कोरा कागज ही ज्ञानेश्वर के पास भेज दिया।

वह कागज देखकर ज्ञानेश्वर की बहन मुक्ताबाई बोलीं, "भैया, यह बूढ़े बाबा अबतक कोरे ही रहे हैं।"

मगर ज्ञानदेव ने उस कोरे कागज में भी अर्थ देख लिया और उसके उत्तर में पैंसठ ओवियां (साखियां) लिखीं। यही 'चांगदेव पासष्टी' हैं। इसमें बहुत ही सुन्दर ढंग से ज्ञानदेव ने अद्वैत दर्शन का विवेचन किया है। 'ज्ञानेश्वरी' का सार 'अमृतानुभव' में और 'अमृतानुभव' का सार 'चांगदेव पासष्टी' में आया है, ऐसा माना जाता है।

३

इन ओवियों को पढ़कर चांगदेव को ज्ञानेश्वर से मिलने की इच्छा हुई। साथ ही उनको ऐसा लगा कि अपने योग की कुछ झलक ज्ञानेश्वर को दिखानी चाहिए। इसलिए वह बड़े भयावने शेर पर सवार हो गये और एक काले नाग को चाबुक की तरह हाथ में पकड़कर वह बड़ी शान से आलंदी पहुंचे।

उस समय ज्ञानेश्वर अपने भाई-बहनों के साथ एक टूटी दीवार पर बैठकर धूप खा रहे थे। जब उन्होंने चांगदेव को शेर पर सवार होकर आते देखा तो उनको लगा कि हमें भी उन्हींके ढंग से उनकी अगवानी करनी चाहिए। इसलिए उन्होंने दीवार से कहा, "चलो हम लोगों को इसी तरह लेकर तुम आगे बढ़ो।"

और सचमुच वह दीवार चलने लगी। जब चांगदेव ने वह करिश्मा देखा तो उनकी आंख खुल गईं और ज्ञानेश्वर के पैर पकड़कर उन्होंने क्षमा मांगी। चौदहसौ बरस का यह बूढ़ा सोलह साल के बच्चे का शिष्य बन गया।

नामदेव

१

संत नामदेव का हृदय बड़ा ही कोमल था। सभी प्राणियों के बारे में उनके मन में दया-भाव था। एक दिन वह खाना खाने की तैयारी में थे। इतने में एक कुत्ता वहां आया और उनकी थाली से रोटी लेकर भागने लगा। वह रोटी सूखी थी। नामदेव को लगा कि बेचारे कुत्ते को उससे परेशानी होगी, इसलिए वह घी का कटोरा लेकर उसके पीछे दौड़ने लगे। कुत्ता डर के मारे जोर से भागने लगा। आखिर नामदेव ने उसे पकड़ ही लिया और उसके मुंह की रोटी पर घी चुपड़कर वह उसे बहुत प्रेम से खिलाई।

२

संत नामदेव भारत के सभी मुख्य-मुख्य तीर्थ-स्थानों की यात्रा करते हुए जब आवंढया नागनाथ पहुंचे तो वहां के लोगों ने उनसे आग्रह किया कि वह शिवजी के मन्दिर में कथा-कीर्तन करें। नामदेव ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और वह कीर्तन करने लगे। उस मन्दिर के पुजारी ब्राह्मण थे। उन्हें यह बात खटकी कि एक अब्राह्मण आकर वहां कीर्तन करे। इसलिए वह मन्दिर में गये और नामदेव से बोले, "यह क्या शोर मचा रखा है ? यह शिवजी

का मन्दिर है। पंढरपुर का विट्ठल मन्दिर नहीं है। यहां विष्णु का गुणगान नहीं किया जा सकता। तुम लोग निकल जाओ यहां से।"

इसपर नामदेव ने श्रोताओं से कहा, "भाइयो, चलिए हम लोग मन्दिर के पिछवाड़े जाकर भगवान का भजन करें।" और वह पीछे की ओर चले गये।

इतने में एक चमत्कार हुआ। सारा मन्दिर घूम गया और उसका दरवाजा पूरब से पश्चिम की ओर हो गया, मानों स्वयं शिवजी नामदेव का कीर्तन सुनना चाहते थे। वह चमत्कार देखकर ब्राह्मण देवताओं की आंखें खुल गईं और उन्होंने नामदेव से क्षमा मांगी।

एकनाथ

१

सन्त एकनाथ के गुरु जनार्दन-स्वामी ने एकनाथ को हिसाब-किताब रखने का काम सौंप दिया था। एकनाथ यह काम बड़ी होशियारी से करते। एक दिन हिसाब जांचते समय उन्होंने देखा कि हिसाब में कहींपर एक पाई की भूल हो गई है। उन्होंने काफी जांच-पड़ताल की, मगर भूल का पता न लगा। एकनाथ बड़े बेचैन हो गये।

आखिर रात को जब जनार्दन स्वामी सो गये तो एकनाथ चुपके-से उठे और दूसरे कमरे में दीया जलाकर हिसाब की बहियां जांचने लगे। चार, पांच, छः बार उन्होंने सारे हिसाब जांचे, मगर भूल थी कि हाथ नहीं आती थी। सारी रात इसीमें बीत गई। एकनाथ की सुध-बुध खो गई। बस, उसी एक पाई की खोज में वह खो गये।

आखिरकार भूल का पता लग गया। एकनाथ ने खुशी से ताली बजाई।

"क्यों बेटा किस बात की खुशी हुई है तुम्हें ?" जनार्दन स्वामी ने उनसे पूछा। वह अपनी नींद पूरी हो जाने के बाद वहां जा पहुंचे थे और एकनाथ की तल्लीनता देख रहे थे।

एकनाथ ने शरमाते और सकुचाते हुए सारा हाल उन्हें कह-सुनाया। स्वामीजी बोले, "जो आदमी एक पाई की भूल को खोज निकालने के लिए धेले का तेल खर्च करे और सारी रात जागता रहे, उसके लिए भगवान का दर्शन बिल्कुल असम्भव नहीं है। मेरा आशीर्वाद है कि तुम्हें भगवान के दर्शन शीघ्र ही होंगे।

२

एक रोज एकनाथ गोदावरी में नहाकर घर आ रहे थे। इतने में एक मुसलमान ने उन्हें देखा और उनके बदन पर थूक दिया। एकनाथ कुछ नहीं बोले। वह चुपचाप लौट गये और फिर नहा आये। उस आदमी ने फिर उनके शरीर पर थूक दिया। नाथजी फिर नहा आये। फिर थूका। फिर नहाये। इस तरह एकसौ आठ बार हुआ। आखिरी बार वह नहाकर आये और इन्तजार करने लगे कि वह मुसलमान कब थूकता है। पर उस आदमी को बड़ा पछतावा हुआ और वह अपने ही हाथों से अपने गालों पर थप्पड़ लगाता हुआ बोला, 'महाराज, आप तो मुरशिद हैं, मौला हैं। मैं बड़ा गुनहगार हूं, आप मुझे माफ करें।"

३

एक बार एक हरिजन लड़की हठ पकड़ बैठी कि मैं अपने घर, अपने हाथों, एकनाथ महाराज को भोजन कराऊंगी। उसे सभीने बहुतेरा समझाया, मगर वह किसी तरह न मानी। आखिर जब यह बात एकनाथ के कानों तक पहुंची तो वह हँसकर बोले, "इसमें कौन कठिन बात है। मैं उस लड़की के घर जरूर भोजन करूंगा।"

और सचमुच वह उस अछूत के घर बड़े प्रेम से भोजन कर आये।

रामदास

१

एक दिन समर्थ रामदास नदी में खड़े होकर जप कर रहे थे। उसी समय कोई ब्राह्मण स्त्री सती होने जा रही थी। उसने रामदास को देखा तो पास जाकर उनको प्रणाम किया। रामदास अपने जप-जाप में मग्न थे। उन्होंने हमेशा की आदत के अनुसार आशीर्वाद दिया, "अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव !"—तुम्हारा सुहाग सदा बना रहे और तुम्हारे आठ लड़के हों ! मगर तुरन्त ही उनके ध्यान में अपनी भूल आ गई और उन्होंने लोगों से उस स्त्री के पति के शव को अपने पास लाने को कहा। जब वह शव उनके

पास लाया गया तो उन्होंने भगवान राम का स्मरण करके गोदा मैया का जल उसके मुंह में डाला। वह आदमी जीवित हो गया और रामनाम जपने लगा। इस स्त्री के जो पहला बेटा हुआ उसे उसने रामदास के चरणों में समर्पित कर दिया। यही आगे चलकर उद्धव गोस्वामी के नाम से मशहूर हुआ और रामदास का प्रधान शिष्य माना जाने लगा।

२

लोगों को नसीहत देने का रामदास का ढंग बड़ा रोचक होता था। एक बार कोई किला बन रहा था। हजारों मजदूर काम कर रहे थे। उनको देखकर छत्रपति शिवाजी महाराज के मन में विचार आया, "मैं कितना महान हूं कि इतने लोगों को रोजी देता हूं।"

उनके मन में यह विचार आना था कि इतने में उन्होंने रामदास की आवाज सुनी, "जय-जय रघुवीर समर्थ !"

शिवाजी ने आगे बढ़कर रामदास के चरण छुए। स्वामीजी मुस्कराये। बोले, "शिवबा, कितने गर्व की बात है कि तुम्हारे कारण इतने लोग जी रहे हैं !"

"महाराज, यह तो आपकी कृपा है।" शिवाजी बोले।

इतने में एक बड़े-से पत्थर पर रामदास की निगाह पड़ी। उन्होंने संगतराश को बुलाकर कहा, "इस पत्थर को बीचोंबीच से काट दो।"

संगतराश ने वैसा ही किया। देखते क्या हैं कि उस पत्थर से थोड़ा-सा पानी और एक जिन्दा मेंढक निकला। रामदास ने शिवाजी की तरफ देखा और मुस्करा दिये, मानो वह कहना चाहते थे, "देखो शिवबा इस पत्थर में यह मेंढक कैसे जीवित रहा ? क्या इसका भी पालन-पोषण तुम्हीं करते थे ?"

शिवाजी महाराज अपनी भूल को समझ गये और फिर कभी घमण्ड के चंगुल में न फंसे।

३

एक बार शिवाजी महाराज ने अपने सारे राज्य का दान-पत्र लिखकर रामदास की झोली में डाल दिया। शिवाजी की यह गुरु-भक्ति देखकर वह बड़े गद्गद् हुए और उन्होंने कहा, "शिवबा, तुमने अपना राज तो मुझे दे दिया। अब तुम क्या करोगे ?"

"महाराज, मैं आपकी सेवा करता रहूंगा।"

रामदास ने कहा, "राजन्, राज्य चलाना तो क्षत्रियों का काम है। यह तो तुमको ही करना होगा !"

आखिर जब शिवाजी ने बहुत जिद की तो बोले, "अच्छा, तुम मेरी तरफ से राजकाज चलाओ और दुनिया पर यह प्रकट करने के लिए कि यह राज संन्यासी का है, तुम अपना झण्डा भगवा कर दो।"

शिवाजी ने उसी दिन से अपने राष्ट्रीय झण्डे का रंग भगवा कर दिया।

सत्य एक विशाल वृक्ष है। ज्यों-ज्यों उसकी सेवा की जाती है, त्यों-त्यों उसमें से अनेक फल पैदा होते दिखाई देते हैं। उसका अन्त ही नहीं होता, हम जैसे-जैसे गहराई में आ रहे हैं, वैसे-वैसे इसमें से अधिक रत्न मिलते जाते हैं, सेवा के अवसर प्राप्त होते रहते हैं।

—मो० क० गांधी

साधनामय जीवन

इन्द्रसेन

साधनामय जीवन के सामने सदा ही एक साध्य होता है और वह उसमें सिद्धि प्राप्त करने के लिए यत्नवान होता है। निरुद्देश्य जीवन ही साधनाहीन जीवन है और जहां उद्देश्य है, जहां यत्न है, जहां उत्तरोत्तर प्राप्ति है, वहां जीवन में संतोष , आनन्द और रस होंगे ही। अथवा जहां उद्देश्य नहीं, यत्नशीलता नहीं, लक्ष्य की उत्तरोत्तर प्राप्ति नहीं, केवल सामान्य खाना-पीना, सोना-जागना, थोड़ी मेहनत-मजदूरी और जीवन-यापन है वहां संतोष, आनन्द और रस के लिए क्या अवकाश होगा ?

फिर आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिए साध्य प्रकाश रूप तथा आनन्दमय आत्मा और परमात्मा हैं। इनकी हृदय-गत जिज्ञासा अपने-आपमें ही अत्यन्त संतोषप्रद होती है। पूर्ण आनन्द की हृदय-प्रेरित कल्पना ही कितना आनन्द दे देती है। उस पूर्ण आनन्द का स्पर्श तो जीवन के रोम-रोम को आह्लादित कर देनेवाली वस्तु होगी। आत्मा, परमात्मा, परमानन्द, प्रेम, अमरत्व, पूर्णता, शोक, दुःख से नितांत निवृत्ति, ये सब पर्याय हैं। ये सब-के-सब अद्भुत उद्देश्य हैं, सच्चे और उच्चकोटि के। इनकी कल्पना, इनका चिंतन-मनन, इनके लिए सतत पुरुषार्थ, अद्भुत रूप में आनन्ददायक है। और जहां गंभीर भाव का कुछ पुरुषार्थ होता है, वहां थोड़ी-थोड़ी उपलब्धि भी आवश्य होती है। तब जीवन में रस स्रवित होने लगता है और वह साधना-मय बन जाता है।

साधारण जीवन में लोग धन, पद, यश आदि उद्देश्यों के लिए खूब यत्न करते हैं और प्रत्यक्ष ही वे इसमें रस अनुभव करते हैं, परन्तु ये उद्देश्य मनुष्य को धोखा दे देते हैं। वे सब-के-सब नाशवान और परिवर्तन-शीत हैं तथा दुविधा-युक्त या द्विपक्षीय हैं। मनुष्य इन्हें अजर-अमर-सा मानकर उनका अनुशीलन करता है और निराश होता है।

साधनाहीन जीवन तो समय काटनेवाला जीवन है। उसके लिए समय प्रायः भार-सा अनुभव होता है। उसमें जड़ता बहुत होती है। मोह, भय, और चिंता अधिक रहते हैं। कुछ सामान्य-सी क्रियाओं और चेष्टाओं को वह दोह-राता रहता है। उसमें उत्साह, प्रेम, आनन्द, ज्ञान-वृद्धि आदि के लिए मानव-चेतनता अथवा जागरूकता ही नहीं होती।

मानव में, वैसे जगत-मात्र में, सबसे अधिक चेतनता तथा जागरूकता है। कोई भी अन्य प्राणी इतना सजग नहीं, मनुष्य में ही वास्तव में यह सामर्थ्य है कि वह विभिन्न उद्देश्यों को विवेचन-पूर्वक देख-भाल सकता है। छोटे-बड़े, सत्य-असत्य, नाशवान तथा शाश्वत उद्देश्यों में विवेक कर सकता है तथा स्वेच्छा-पूर्वक अपने चुने हुए उद्देश्य का अनुशीलन एवं उसकी उपलब्धि साधित कर सकता है। वह सामान्य द्वंद्वमय मानव-जीवन से द्वंद्वातीत सतत आनन्द के दिव्य जीवन को प्राप्त कर सकता है।

ऐसा सजग विकास केवल मानव को प्राप्त है। परन्तु वैसे यदि हम विस्तीर्ण अर्थ में सारे जगत को देखें तथा मानव-प्रकृति की रचना को निहारें तो हमें यह अद्भुत संस्कार मिलता है कि सत्ता मात्र विकासमय है। जगत में हम पृथ्वी, सूर्य, तारे-सितारे, नदी, पर्वत, जलवायु आदि असीम जड़-अचेतन तत्वों को देखते हैं। फिर विशाल वन, खेत, फल-फूल के अत्यन्त विविधतापूर्ण क्षेत्र को पाते हैं और फिर असंख्य कीट-पतंग तथा छोटे-छोटे पशुओं की योनियों को देखते हैं। अन्त में मनुष्य को, जो चिंतनशील है, सृजनशील है, भूत और भविष्य की कल्पना करता है तथा आत्मा, परमात्मा और पूर्ण ज्ञान और परम आनन्द की जिज्ञासा करता है।

यह सब क्या एक विकास-क्रम का रूप नहीं है ?

निर्जीव से प्राणमय, तथा चेतन तथा आत्म-सजग तथा पूर्ण ब्रह्म-ज्ञान, कितना स्पष्ट और सुन्दर है विकास का मार्ग। इसमें मानों कुछ संकेत है ही। फिर तम, रजस और सत्व स्पष्ट विकास को जतलाते है। तमस मंदता है, अन्धता है, अचेतनता है। रजस् चेष्टा है, गति है, संघर्ष है, राग-द्वेष है। सत्व सम-स्वरता है, सन्तुलन है, सुख है, प्रकाश है, सद्भाव है। कितना सुन्दर है यह सारा विकास का मार्ग। सत्व की स्थिति बड़ी ही सुन्दर है, परन्तु है फिर भी आधार-भूत में द्वन्द्वमय। आत्म-स्थिति मूलगत भाव में एकत्तत्व-मय होती है, अतः तम, रज और सत्व की द्वन्द्वात्मक अवस्थाओं से परे है द्वन्द्वातीत आध्यात्मिक स्थिति।

भारतीय जीवन की व्यक्तिगत तथा सामाजिक अवस्था भी विकासात्मक तथ्य पर ही आधारित थी। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, बानप्रस्थ और संन्यास तथा शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार ध्येय तथा अधिकारभेद का व्यापक विचार, ये सब-के-सब जीवन के समष्टि-भाव तथा व्यष्टि-भाव को अद्‌भुत रूप में समन्वित करते हैं। इन सब अवस्थाओं का उद्देश्य केवल यह है कि व्यक्ति तथा समष्टि उत्तरोत्तर यथासंभव अधिक-से-अधिक विकास को उपलब्ध कर सकें और इस विकास का स्वरूप यही है कि हमारी जागरूकता सदा बढ़ती जाय अथवा हमारी मंदता कम होती जाय।

वस्तुतः भगवान ने सारे जगत को साधनामय भाव दिया है, फिर भारतीय संस्कृति के निर्माताओं ने व्यक्ति और समष्टि को साधनामय कल्पित किया था। ऐसे जगत और ऐसे सांस्कृतिक वातावरण में रहते-रहते हम कैसे साधनामय न बनें। साधनामयता हमारे स्वभाव में, हमारे संस्कारों में है और यही हमारे जीवन की परिपूर्णता और तृप्ति की मांग भी है। जड़ता में पड़ना किसी तरह भी अभीष्ट नहीं। सचेतनता, सजगता, प्रकाशमयता, स्वर-समता, शांति, आनन्द, सशक्तता ही ध्येय है और इन्हीं-का अनुशीलन हमें सहज भाव से करना चाहिए।

अब हमारी जानने की जिज्ञासा यह होगी कि यह अचेतन से अधिकाधिक सचेतन बनने का अभ्यास किया जाय तो कैसे ?

उपाय वस्तुतः स्पष्ट और सन्देह-मुक्त है। वह यह कि पहले तो हमारे अन्दर इसके लिए उत्कट जिज्ञासा होनी चाहिए। यह जिज्ञासा तथा अभीप्सा तथा चाह तथा लगन कि हम अधिकाधिक सचेतन होते जायं। यह चाह और लगन दिन-रात और हर क्षण की हो जानी चाहिए, सहज और स्वाभाविक हो जानी चाहिए, स्वप्न में भी यह भाव प्राप्त हो जाना चाहिए। इसके लिए अपने-आपमें अभ्यास करना होगा। परन्तु चाह और लगन सच्ची, गंभीर और व्यापक हो जाने पर शेष कुछ प्रश्न रहता ही नहीं। क्या पूजा करनी चाहिए, क्या और कैसे ध्यान करना चाहिए, अथवा ज्ञान, कर्म और भक्ति की किन प्रक्रियाओं का अनुशीलन करना चाहिए, ये सबकुछ भी प्रश्न नहीं रहता। मानव की सच्ची लगन के उत्तर में हृदय-निहित भगवान तथा आत्मा साधक को स्वयं अपना पथ-प्रदर्शन प्रदान करने लगते हैं और वह अपनी उपयुक्त साधना का मार्ग अपने-आपसे स्पष्ट देखने लगता है। प्यासा पानी खोज निकालता है, उसे पानी मिलता ही है, उसकी प्यास ही उसे वह एकाग्रता प्रदान कर देती है कि वह पानी की खोज में सफल हो जाता है।

व्यक्ति की लगन उसके लिए अनुकूल वातावरण खोज निकालती है, पथ-प्रदर्शन ढूंढ़ देती है, पठन-पाठन की दिशा दिखा देती है, उसके हृदय में भक्ति-भाव प्रेरित कर देती है, उसे सेवा और समर्पण का क्षेत्र सुझा देती है। श्रीअरविन्द की परिभाषा में इसे हम 'अभीप्सा का विधान' कहेंगे। यह विधान साधक के लिए प्रथम वस्तु है तथा उसके लिए सफलता की अचूक कुंजी है। यह होने पर कभी कोई साधक असफल नहीं होता। जहां जितनी अभीप्सा में कमी होती है, वहीं तथा उतनी ही उसकी असफलता रहती है है।

कितना सुन्दर है यह तथ्य। अपने हृदय की चाह बढ़ाना ही सारा काम है। बाकी सब अपने-आप होता जायगा।

हमारी अभीप्स होनी चाहिए, चेतना के विकास के लिए, इसके लिए कि हम अधिकाधिक सचेतन हो जायं। हमारी सामान्य चेतना स्वार्थों द्वारा अत्यन्त सीमित और संकीर्ण बन जाती है, उसमें महानता और विशालता नहीं होती। जो चेतना जितनी संकर्ण होगी, उतनी ही उसमें

चिंता-शीलता होगी। अब चेतना के विकास का अर्थ है कि उसे विशाल बनाया जाय, उसे सर्वहित के अनुशीलन का अभ्यास कराया जाय, हम अपना काम करते हुए भी यह अनुभव करें कि यह सर्व-हित का ही मन्त्र है। इस प्रकार सर्वहित अधिकाधिक हमारे मन-प्राणों में बसने लगे तथा चेतना को उत्तरोत्तर गहरा बनाता जाय। साधारणतया हमारी चेतना वस्तुओं को ऊपर-ऊपर से देखती है तथा तात्कालिक लाभ को ही अनुभव करती है। इसके स्थान पर उसे अभ्यास यह कराया जाय कि वह वस्तुओं को उनके आन्तरिक तथा स्थायी भाव में देखे, किसी व्यक्ति को मानों उसके तात्कालिक क्रोध के रूप में ही न देखे, बल्कि उसके समग्र स्वभाव तथा शान्त आत्मा के रूप में देखे। तीसरी, हमारी चेतना में महानता आनी चाहिए, वह वस्तुओं तथा व्यक्तियों को सर्वोपरि सत्ता, भगवान की दृष्टि से देख सके। पिता को अपने सारे बच्चे प्रिय होते हैं, बच्चों में आपस में चाहे जितना ही राग-द्वेष क्यों न हो। भगवद्भाव में वस्तुओं को देखने के अभ्यास से व्यक्ति में अद्भुत महानता आती है। महानता केवल है ही उस दृष्टि में।

साधनामय जीवन का प्रथम रहस्य है—अभीप्सा। अभीप्सा साधना का सार है। अभीप्सा के बिना साधना साधना ही नहीं। वह फलप्रद नहीं होती। साधनामय जीवन का दूसरा आनन्ददायक रहस्य है कि जीवन का प्रत्येक कर्म साधना-रूप बन सकता है। खाना-पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना, मिलना-जुलना, सब-के-सब पूजा-अर्चना तथा ध्यान का रूप बन सकते हैं। वह कैसे ? इस तरह कि वे सब-के-सब अधिकाधिक सजगता को बढ़ानेवाले बनें। हम जो कुछ भी करें, खूब सजगता से करें, उसे अच्छे-से-अच्छे रूप में करें, विशाल, सर्वहित और गम्भीर स्थायी तत्व की दृष्टि से करें, पूर्णत्व के भाव को लेकर करें। ऐसा करने से हमारी चेतना सतत् भाव में अन्तर्मुखता, ऊर्ध्व-मुखता और विस्तीर्णता में साक्षात् बढ़ती अनुभव होने लगेगी तथा हमें जीवन में वृद्धि और लाभ की आन्तरिक अनुभूति होने लगेगी।

कितना सुन्दर और सरल है साधना का यह क्रम। मनुष्य जो भी करे, वह सजगता से करें, प्रेम से करें, आनन्द से करें, सर्वहित में करें, भगवद्रूप में करें, विशाल और उदात्त भाव से करें। इस प्रकार उसके सारे कर्म आत्मोपलब्धि और भगवद्-प्राप्ति के साधन बन जायंगे। घण्टे-दो-घण्टे के ध्यान, स्वाध्याय, पूजा-पाठ में वस्तुतः वह बल नहीं, जो इस प्रकार किये गए सामान्य कर्मों में है, क्योंकि इस प्रकार तो साधना चौबीसों घण्टे की वस्तु बन जाती है।

ध्यान, स्वाध्याय, पूजा-पाठ, विशेष एकाग्रता के विकासात्मक कर्म होने से बराबर उपयोगी हैं, परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि वे उपयोगी तभी तथा उतनी ही मात्रा में होते है, जितने वे सजगतापूर्वक, प्रेम तथा आनन्द-पूर्वक किये जाते हैं। यांत्रिक रूप में किया हुआ जप चेतना के विकास का कारण कैसे बन सकता हैं ?

अन्त में हम साधनामय जीवन का सार इस प्रकार कहेंगे। विकासमय जगत में निवास करते हुए मानव का स्वरूप साधक का ही है और उसे तब सजगतापूर्वक अपनी चेतना अधिकाधिक बढ़ानी चाहिए। सर्व-चेतन भगवान उसका लक्ष्य है, उनका वह स्मरण करे, उनकी अभीप्सा जगाये और सतत् भाव में अचेतनता का त्याग करे और सचेतनता को परिवर्द्धित करे। अपनी चेतनता में विशालता लाये, गम्भीरता जुटाये तथा महानता पैदा करे। वह जीवन में कृतकार्य होगा, आत्मा तथा परमात्मा को उप-लब्ध करेगा।

हर्ष-शोक का बंटवारा

नारायण देसाई

जीवन के पहले सात-आठ साल के प्रसंग मनुष्य को कहां-तक याद रह सकते हैं ? किन्तु इन्हीं सात-आठ वर्षों में भावी जीवन के अधिकांश संस्कारों की छाप मानस-पट पर अंकित हो जाती है। इन वर्षों की छाप कृष्ण पक्ष की रात-सी होती है। उसमें किसी एक चन्द्र की प्रभा नहीं होती, पर लाख-लाख तारकों की आभा बनी होती है। उसे देखकर हमारी आंखों में चन्द्र की चमक नहीं झलकती, लेकिन सारे तारकों की मिलकर बनी हुई रांगोली होती है।

मेरे जीवन में आरम्भ के सात-आठ सालों (१९२४ से १९३२) में मेरे मानस पर जो छाप पड़ी है, वह भी कृष्ण पक्ष के नभोमण्डल जैसी ही है। हां, उसमें कहीं-कहीं बापू-बा जैसे सूर्य-चन्द्र की तेजस्विता है, कहीं मेरे पिताजी या नरहरिभाई के-से गुरु-शुक्र की-सी स्वतन्त्र चमक भी है। परन्तु उन सबसे कहीं अधिक उसमें हैं अनजाने तारे और निहारिकाओं की आकाश-गंगाएं जो बापू के नभोमण्डल में सदा शोभती थीं। उसमें कोई एक विशेष पात्र तारा नहीं है। किन्तु अनगिनत तारों की उसमें डिजाइन बनी है और जब आपस में घुली-मिली इन रातों के चित्रों को मैं अलग-अलग पंक्ति में रखने का प्रयत्न करता हूं तो उसमें दो रंग विशेष रूप से निखरते हैं। मानस-सृष्टि के दो सनातन रंग—एक आनन्दोल्लास का रंग और दूसरा गहरे विषाद का। ये दोनों छाप हैं—बापू के आश्रम में अनुभव किये हुए एक-से प्रसंगों की मिश्रित छाप। कई बार तो यह हर्ष और विषाद की छाप भी मिश्रित-सी मालूम होती है, किन्तु सुविधा की दृष्टि से यहां उसे अलग-अलग कहता हूं।

हर्ष की छाप के प्रतीक बनते हैं आश्रम के उत्सव, विषाद की छाप के प्रतीक बनते हैं उस काल में देखे हुए मरण के प्रसंग।

शैशव स्वयं ही जीवन के प्रत्येक दिवस में हर्ष का कुमकुम घोल दे सकता है; फिर यहां तो बीसों बच्चों का कलरव, कलकल करती हुई साबरमती नदी और जीवन का आनन्द लूटते और लुटाते काकासाहब जैसे आचार्य और सत्याग्रह के शुष्क वातावरण में भी 'चित्रांगदा' और 'विदाय अभिशाप' को गुजराती में अनूदित करनेवाले बुजुर्गों की गोद और मानो भक्ति और संगीत ने मिलकर अवतार लिया हो—जैसे पंडितजी (खरे) के स्वर मिले थे। फिर पूछना ही क्या था ?

आश्रम के उत्सवों की याद आते ही तो सारा बाल्य-काल एक अखण्ड उत्सव बनकर आंखों के सामने खड़ा हो जाता है। लेकिन उसमें भी विशेष निखरते हैं : एक, गोकुल अष्टमी, जब सारा आश्रम मिलकर भगवद्गीता का सह-पारायण करता है, हमसे पांच-सात बड़े बच्चों की टोली—राम भाऊ, मधुरी, कनु, इंदु वगैरह साथ मिलकर एक सुर से शंकराचार्य-रचित गोविन्द पंचकम् के श्लोक गाकर हमें चौंका देते हैं, सिर पर लाल रंग की पगड़ी और कमर पर छोटी-सी सफेद धोती पहने हम नंगे बदन बछिया चराने निकलते हैं और लौटते समय दही-मक्खन के बदले हमारे मुंह गोशाला के पेड़ों से भरे होते हैं।

और स्मृति-पट पर गोकुल अष्टमी के पास ही खड़ी है रामनवमी : तुलसीकृत रामायण के सुरों से गूंजती। उसके प्रमुख पात्र हैं पण्डित तोतारामजी, जो उत्तर प्रदेश की खेती का विकास ठेठ फीजी द्वीप तक पहुंचाकर अन्त में साबरमती-आश्रम की खेती संभालते हैं। आम दिनों में उनसे हमारा सम्बन्ध तब आता जब प्रेमाबहन खाना बन्द कराती। उनके (यानी आश्रम के) खेतों से टमाटर, गाजर, मूली या मोगरी तोड़कर खाना और 'चोर' न कहलाने के लिए उनके मकान की मोरी की नली में मुंह डालकर जोरों से 'तो...ता' कहकर चिल्लाकर उन्हें सूचना देकर

अपनी चोरी को डकैती का रूप देने का, कभी-कभी उनके हाथ फंस जाने पर कमरों में बन्द होने का और यदि उसी कमरे में गलती से टमाटर की टोकरी रखी हो तो उसपर धावा बोलने का और उसका हर्ष आवश्यकता से अधिक जल्दी प्रकट कर उस कमरे से निकालकर दूसरी खोली में बन्द होने का तथा अन्त में क्रन्दन की शरण ले मुक्ति पाने का था। लेकिन रामनवमी के दिन आश्रम की उस परम मंगल विभूति की आध्यात्मिक खेती के फल हम बिना मांगे, बिना समझे चखते जिसकी मिठास उन टमाटर और गाजर से भी कहीं अधिक गहरी और स्थायी थी, यह तो आज समझ में आता है। और उसी प्रकार की एक रामनवमी के दिन सूत्र-यज्ञ करते समय (हर उत्सव को बापू सूत्र के धागे से अवश्य बांधेंगे) एक घड़ीभर में ही विनोबा की आंखों से भक्ति-अश्रु टप-टप-टप टपकने लगे थे।

परन्तु स्मृति के पट पर ऐसे अनेक धार्मिक और सामाजिक उत्सवों को पीछे रख देनेवाली स्मृति है चरखा द्वादशी की। बापू के आश्रम में बापू ही के जन्म-दिन का उत्सव। यह कहां का शिष्टाचार ? लेकिन इस वर्षगांठ को बापू ने अपनी वर्षगांठ माना ही नहीं था। यह तो थी चर्खे की वर्षगांठ। इसलिए बापू भी उसमें हमारी तरह ही उमंग से शरीक होते थे। उनको उस दिन लोगों से बचने के लिए कहीं दूर भाग जाना नहीं पड़ता था, और न उनको बनना पड़ता था उस दिन के नाटक के मुख्य पात्र। उस दिन बापू एक सामान्य आश्रमवासी ही रहते। हमारी दौड़ की स्पर्धा में समय नोट करते, हमसे बड़ों के कबड्डी के खेल में कभी-कभी वह शामिल होते। साबरमती नदी में हम लोगों के साथ तैरते (यदि नदी में बाढ़ न हो तो !), शाम को खाते समय हमें परोसते और रात को नाटक के समय वह भी अधिकांश लोगों की तरह प्रेक्षक बन जाते। उस दिन का मुख्य पात्र तो चरखा ही था। चर्खा-द्वादशी का दिन गांधी-जयन्ती का दिन है, इसका तो हमें दो-चार चर्खा-द्वादशी मनाने के बाद ही पता चला था !

आज चर्खा द्वादशी के दिन बापू की झोपड़ी या उनके नाम का मन्दिर बनता है। उनकी फोटो की विविध प्रकार से पूजा होती है और सूत से अधिक प्रदर्शन होता है सूत की छीजन का। मगर उन दोनों की जो तस्वीर मेरी आंखों के सामने है उनमें कहीं मैं बापू की फोटो नहीं देखता हूं। अखण्ड चर्खे तब भी चलते थे। उसमें अलग प्रकार के विक्रम (रेकार्ड) करने में हम बच्चों को अपूर्व आनन्द और उत्साह होता था। कोई लगातार आठ घण्टे कातता था, कोई दो मिलकर चौबीस घण्टे निकाल देते। रात को प्रार्थना के बाद अपने-अपने काते हुए सूत के तार लिखवाने की प्रतियोगिता होती है और कातते समय चलती थी अंत्याक्षरी। आरम्भ अचूक 'रघुपति राघव राजाराम' की धुन से होता। उन दिनों 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम' का समावेश उस धुन में नहीं हुआ था। एक पद पूरा होने से पहले ही दूसरा शुरू हो जाता। 'आश्रम भजनावली' का खजाना तो हमारे पास था ही। अधिक चालाक लड़के गीता के ऐसे सभी श्लोक जानते थे जिसके अन्तिम अक्षर से सामनेवाले को कोई कठिन अक्षर दिया जा सके। श्लोकों में शंकराचार्य और भर्तृहरि के श्लोक विशेष रूप में चलते। एक बड़ा भण्डार था रामायण के दोहे, चौपाइयों का। और इन सबके साथ मिल जाते सत्याग्रह की लड़ाई के साथ कदम मिलाकर बढ़नेवाले आन्दोलन गीत। इन गीतों में :

यह सिर जावे तो जावे,
पर आजादी घर आवे।
यह जान फना हो जावे,
पर आजादी घर आवे।

या

चलाओ लाठी, चलाओ डंडा,
फहरायेंगे हम अपना झंडा।
रक्त हमारा नहीं है ठंडा,
बल्कि अग्नि-तरंग—
हमारा शुरू हुआ है जंग।

या

अटूट एक, सूत का धागा अटूट है।
हां, सारी फौलादी बेड़ियां भी टूटें।
अटूट एक, सूत का धागा अटूट है।

जितनी ही सहजता से जलियांवाला बाग का स्मरण करानेवाला रतन बा का गरबा भी गाया जाता है और बापू ने स्वयं भले ही अहिंसा प्रयोग किया हो, लेकिन उनके आश्रम

के गीतों में भगतसिंह का गौरव तनिक भी कम नहीं था।

आज जब ऐसे बच्चों को देखता हूं जो बिना सिनेमा के गीतों के अन्त्याक्षरी कैसे खेली जाय यह समझ ही नहीं पाते, तब मुझे अपने पर ही ईर्ष्या होती है।

मुझपर ऐसा असर है कि इन उत्सवों में आश्रम के भाइयों से भी अधिक हिस्सा बहनों का रहता था। यह नहीं कहा जा सकता है, हर उत्सव में उनकी रसोई पकाने की कला को अधिक मौका मिलता था। चर्खा-जयन्ती के दिन तो एक ही बार खाना होता था। (यद्यपि हमारे घर में पिताजी जरूर मिष्ठान्न कराते—"आज के दिन तो भाई हम अच्छी तरह खायंगे, हमें वैसा कठोर जीवन नहीं चाहिए।") शाम को सोमनाथ छात्रालय के बीच के मैदान में सब इकट्ठे होकर खाने बैठते, तब भी फलाहार ही मिलता था। पर केले, मूंगफली और खजूर परोसने में भी आश्रम की बहनों का उत्साह अनोखा दिखाई देता था। रात को नाटक में लड़कों जितनी ही संख्या लड़कियों की होती थी और रास में दोनों साथ होते थे। लेकिन गरवे उनके अपने ही होते थे। परन्तु इससे भी अधिक असर है मुझपर बड़ी बहनों की भक्ति का। वह भक्ति उत्सव स्थान के सुशोभन की हरेक विधि में प्रकट होती। सवेरे से ही लक्ष्मीबहन खरे के यहां पारिजातक के फूल के ढेर लग जाते और फिर उसके हार गूंथे जाते। आश्रम की बहनों में एक की मूर्ति आंखों के सामने खास रूप से खड़ी होती है। वह काशीबहन गांधी की। काशी का नाम उच्चारण करते ही एक सनातनी हिन्दू के मन में जितनी पवित्र भावनाएं जगती हैं, उतनी ही पवित्र भावनाएं मेरे मन में काशी मौसी का स्मरण करने से जगती हैं और बुढ़ापे में भी गाये हुए उनके गीत के वे सुर याद आते हैं जिनका सहज माधुर्य वायव्य सरहदी सूबे के 'पेर' फलों-सा था।

ठुमुकि चलत रामचन्द्र, बाजत पैंजनियां

मुझे पक्का विश्वास है कि गीत गाते समय काशी मौसी किलककर चलनेवाले और लटपटाकर गिरने-पड़ने-वाले भगवान रामचन्द्र की बालमूर्ति का दर्शन अपने मानस मन्दिर में करती होंगी, क्योंकि हम बच्चों ने भी अपनी छाती में उनसे कौशल्या सा स्नेह ही अनुभव किया है।

काशी मौसी की तरह ही दूसरी याद है बड़ी गंगा-बहन (वैद्य) की जिनकी यूनानी दवाइयों से भी अधिक असर हमपर उनकी मधुर वाणी का होता था। एक दिन आश्रम में बंगाल के संकटग्रस्त लोगों के लिए सबने श्रम करके दान किया था। मैं था सबसे छोटा। मुझे कौन काम देता? तब गंगाबहन ने अपनी बोतलें धोने का काम देकर मुझे दो आने दिये थे। मेरे जीवन की वह प्रथम श्रम की कमायी थी। उस समय दूसरों की तरह मैंने भी यह माना था कि मेरे काम से कहीं अधिक मजदूरी मुझे गंगाबहन के लाड़ के कारण मिली थी।

मृत्यु मेरे पास प्रथम आयी मेरे लंगोटिये साथी वसंत खरे के मरण के रूप में। अगर उसके पिता पंडितजी बचपन में हमारे लेखक थे तो वसंत हमारा पाठक था। था तो वह मुझसे सिर्फ ग्यारह महीने ही बड़ा, लेकिन पढ़ने की दिशा में उसने बहुत प्रगति की थी। इसलिए रोज वह मुझे पास बैठाकर 'ईसपनीति' से कहानियां पढ़कर सुनाता था। इस बीच एक दिन उसे बुखार आ गया। बुखार तो बहुतों को आता था। और उस समय भी कइयों को आया था। लेकिन औरों को उसमें से चेचक निकले, किन्तु उसको चेचक बाहर निकलने के बदले छाती में ही समा गई, और वह भगवान की छाती में समा गया। हम तो कुछ समझ ही नहीं पाये। पंडितजी ने अपनी वेदना प्रार्थना के भजनों में बहा दी। आयी (लक्ष्मीबहन खरे) को वैसा करने की भी छूट नहीं थी, क्योंकि उसी समय उनकी बेटी मधुरी भी चेचक से पटकनी खा गई थी और हमने न भजन गाये, न रोये। लेकिन वह मृत्यु छाती में ऐसी घुस गई कि आज भी जब कभी मृत्यु देखता हूं तब वसंत मेरे सामने आकर खड़ा हो जाता है।

उस समय चेचक ने आश्रम के तीनों बच्चों का भोग लिया—पंडितजी का वसंत, मथुरादासभाई का मेघजी और भगवानजी भाई की गीता। पूज्य इमामसाहब का इन्तकाल भी इसी अर्से में हुआ था। मगनलाल काका और रसिक गांधी उनसे पहले चल बसे थे। ऐसे प्रसंगों पर पंडितजी जैन संत आनंदघन का "अब हम अमर भये, न मरेंगे।" यह भजन गाते या फिर "मंगल मंदिर खोलो।" प्रार्थना के बाद बापू कुछ बोलते भी थे। लेकिन उस प्रव-

चन से भी अधिक महत्वपूर्ण था बापू का मरनेवालों के स्वजनों के समीप जाकर बैठना। जब मगनलाल काका गुजर गये तब तो शायद बापू ने अपना मौन भी तोड़ा था। इस प्रकार उन्होंने एक दूसरी बार भी अपना साप्ताहिक मौन तोड़ा था—लेकिन वह प्रसंग कालक्रम के अनुसार बाद में पड़ता है, अभी नहीं।

लेकिन बापू मरनेवालों के स्वजनों को समीप ले मानों उनकी सारी वेदना को अपनी बना लेते। यदि वे बाहर जाते तो बापू रोज उनको पत्र लिखते।

और बापू अकेले ही क्यों ? उनके आश्रम में किसीका दु:ख अकेले का रहता ही नहीं था। इमामसाहब के जाने के बाद अमीना बहन मेरी मां की अधिक लाड़ली बन गई थी। वसंत के जाने के बाद पंडितजी की गोद में और मधुरी के पास सिर में तेल डलवाते वसंत का स्थान मुझे ही मिला, ऐसा मुझे मालूम हुआ था। अरे ! आश्रम के 'लंकापति' कुत्ते के मरने का शोक भी हममें से कइयों को हुआ था।

आश्रम के उत्सव और मरण-प्रसंग और सब तरह तो दो सिरे के ध्रुव की तरह अलग थे, किन्तु एक मामले में दोनों समान थे। वहां हर्ष और विषाद, सुख और दु:ख दोनों का सबके बीच बटवारा होता था।'

'संत सेवतां सुकृत वाधे' पुस्तक से

गीता-ज्ञान-सार

गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर'

अमर-आत्मा-अनश्वर, नश्वर-नर,
युग-युग यह क्रम नियति का, निश्चित, निस्सन्देह।

आत्म-शुद्धि हित चाहिए, गुरु-गीता का ज्ञान;
जिससे जग-जीवन बने, सार्थक सिद्ध समान।

इन्द्रिय, तन, मन, बुद्धि पर, रखकर पूर्ण प्रभुत्व;
समझें जन-जन योग से, आत्म-शुद्धि के तत्व।

ईश्वर केवल एक है, भिन्न-भिन्न हैं नाम;
दृढ़ रहकर निज इष्ट पर, साधक साधे काम।

उठें न उर अविवेक वश, अहंकार, अविचार;
परोपकार उत्तम यही, यही ज्ञान का सार।

ऊंच-नीच की भावना, रखना घोर अनर्थ;
जग-जन-जन में एक ही, है वह ब्रह्म समर्थ।

ऋण ले जितना जगत से, दे दूना कर दान;
उऋण रहे जिससे सदा, यही उच्चतर ज्ञान।

एक ब्रह्म सबमें रमा, रखते जो यह ध्यान;
करें नहीं वह अन्य का, अनहित या अपमान।

ऐच्छिक फल पाता वही, जो साधक मति धीर;
अन्तरात्मा से द्रवै, देख पराई पीर।

अवगुण अपने देखकर, करता उनको दूर;
बनता साधक सिद्ध तब, गुण-गण से भरपूर।

मानवता के पुजारी

जवाहिरलाल जैन

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की चर्चा करते हुए एक बार गांधीजी ने कहा था कि उनको जिस पहलू से देखा जाय, वह सुन्दर थे। "मोर को जिधर से देखो, वह सुन्दर लगता है।" गांधीजी के बारे में भी सोचते हैं, तो लगता है कि जिस पहलू से गांधीजी को देखा जाय, वह महान थे। जिस प्रकार रवीन्द्रनाथ और सबकुछ होकर भी सबसे अधिक कवि थे, उसी प्रकार गांधीजी की महानताएं भी विविध होते हुए भी उनकी सबसे बड़ी विशेषता मानवता थी। अलग-अलग पहलुओं से इसे वैष्णवता कह सकते हैं, अहिंसा कह सकते हैं, प्रेम कह सकते हैं, दरिद्रनारायण की सेवा-भावना कह सकते हैं या जनता-जनार्दन के प्रति निष्ठा भी कह सकते हैं।

गांधीजी में बहुत सारी कमियां थीं, आखिर कमियां किस इन्सान में नहीं होती। और गांधीजी चाहे और कुछ हों या न हों, निपट इन्सान तो थे ही। गांधीजी में रवीन्द्रनाथ की काव्य-भक्ति नहीं थी, मोतीलाल नेहरू की तरह शान और दबंगपन नहीं था, लाला लाजपतराय की तरह भाषण-शक्ति नहीं थी, लोकमान्य तिलक की-सी विद्वत्ता नहीं थी, सुभाष बोस की-सी तीव्रता नहीं थी, वल्लभभाई पटेल की-सी कार्यकुशलता नहीं थी, जवाहरलाल की-सी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि और राजगोपालाचारी जैसा बुद्धि का पैनापन नहीं था, फिर भी सबसे कहीं अधिक बढ़कर उनकी सचाई और मानवता थी, जिससे वह अपनी पीढ़ी के एक से एक बढ़कर योग्य तथा अधिक-से-अधिक विभिन्नतापूर्ण महापुरुषों को एक सूत्र में बांध सके, बांधकर अपने साथ रख सके और एक महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने पीछे चला सके। यह इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि उनके देहावसान के बाद जो भी बड़े बचे थे, वे करीब-करीब सभी बिखर गये और जो बाहर से दीखने में नहीं बिखरे, वे अन्दर से बिखर गये। गांधीजी मानवता का एक ऐसा पारस मात्र थे, जिसने हजारों-लाखों लोगों को छुआ और उन्हें सोना कर दिया। गांधीजी की यह मानवता जीवन की छोटी-छोटी बातों में प्रकट होती थी। दर असल कोई भी वास्तविक गुण रंगमंच पर प्राय: प्रकट नहीं होता। सार्वजनिक जीवन का मंच तो एक मुखौटा है, जो वास्तविक जीवन को छिपाने का सबसे सामान्य और जाना-पहिचाना उपकरण है, जिसका दुनिया में शायद सबसे ज्यादा दुरुपयोग भी किया गया है।

गांधीजी के अपने सिद्धान्त और विचार थे, जिनपर वह अत्यन्त दृढ़ता से कायम थे। वह स्वयं उनपर कड़ाई से चलते थे और दिल से चाहते थे कि सब लोग उनपर चलें। वह उन्हें लोगों को समझाने और उनपर लोगों को चलाने का कोई अवसर नहीं छोड़ते थे। फिर भी वह जानते थे कि बहुत-से लोग उनपर नहीं चल सकते थे, सम्भवत: नहीं भी चलना चाहते थे, इसलिए वह अपने सिद्धान्तों और विचारों के पालन में व्यक्तिगत रूप से दृढ़ रहते हुए भी दूसरे लोगों की उनकी अपनी-अपनी पसन्द, अपनी-अपनी आदत और अपनी-अपनी मूर्खता की भी पूरी हार्दिकता के साथ कद्र करते थे और अपने पास आनेवाले मेहमानों और मित्रों की उन व्यक्तिगत पसन्दों की पूरी जागरूकता और तत्परता से चिन्ता और व्यवस्था करते थे। पैंट पहननेवाले भाई के लिए कुर्सी की, विदेशी भाई-बहनों के लिए कमोड की, चाय-काफी पानेवालों के लिए चाय-काफी की, सिगरेटवालों के लिए सिगरेट की व्यवस्था तो करते ही थे, बल्कि मांसाहारी मित्रों के लिए मांसाहार तक की चिन्ता उन्हें रहती थी। उन्हें नेता, वकील, डाक्टर, उद्योगपति, मजदूर, व्यापारी, संन्यासी—इन सबके भीतर छिपे इन्सान के प्रति सबसे अधिक ममता और सहानुभूति

रहती थी और वह अपनापन उनके मन, वाणी और शरीर —तीनों से निरन्तर अभिव्यक्त होता था, जो विभिन्न स्तरों के देशी, विदेशी, पड़ोसी, दूर के सभी लोगों को स्पर्श कर जाता था, चाहे वह गांधीजी के व्यक्तिगत सम्पर्क में प्रत्यक्ष में आये हों या पत्र-व्यवहार आदि के द्वारा परोक्ष में।

मानवता के इस सजीव और हार्दिक स्पर्श ने गांधीजी के ज्ञान और रुचि के विषयों को आश्चर्यजनक रूप से व्यापक बना दिया था। उन्हें सम्भवतः दुनिया के हर विज्ञान और कला में रुचि थी। राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, स्वास्थ्य यिज्ञान, चित्रकला, पाककला, काव्य-कला, दर्शन किसमें उनकी रुचि नहीं थी, पर वह सब सामान्य मानव को अधिक स्वस्थ और सुखी बनाने के प्रयत्न में जितने सहायक हों उतनी ही उनके लिए इन सबकी सीमा थी, इसीलिए वह 'कला कला के लिए' या 'ज्ञान ज्ञान के लिए', इस इस सिद्धान्त से कभी सहमत नहीं हुए। उनकी सोयाबीन से लेकर वायसराय से वार्ता तक में समान रुचि और गति थी। उन्हें परचुरे शास्त्री के आराम की जितनी चिन्ता रहती थी, उतनी ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर के स्वास्थ्य की होती थी।

सैंकड़ों लोग प्रतिदिन गांधीजी से मिलने आते थे और गांधीजी को लोगों से मिलने के अलावा सभा-सम्मेलनों, दौरों, चर्चाओं आदि में भी बहुत समय और शक्ति लगानी पड़ती थी। अपने समय के वह अत्यन्त व्यस्त लोगों में से थे, पर फिर भी जिनसे वह मिलते थे, उनसे काम की बात के अलावा व्यक्तिगत और पारिवारिक जानकारी अवश्य करते थे और प्रत्येक व्यक्ति की अपनी चिन्ता कष्ट, कठिनाई और उलझन पर उनकी सदा निगाह रहती थी। मानवता के इस स्पर्श ने, जनता-जनार्दन की इस अनन्य भक्ति ने उनकी स्मरणशक्ति को इतना तीव्र बना दिया था कि जब भी वह किसी व्यक्ति से दुबारा मिलते या पत्र-व्यवहार होता तो उस कठिनाई के बारे में वह अवश्य पूछते थे। गांधीजी के विचार और काम के साथ सब व्यक्तियों का मेल खाता हो या न खाता हो, पर इस व्यक्तिगत स्नेह और आत्मीयता के आगे हरेक आदमी का दिल मोम का हो जाता था और गांधीजी के साथ वह श्रद्धा और स्नेह में बंध जाता था।

हजारों लोगों से गांधीजी का पत्र-व्यवहार था। देश-देश के कोने-कोने से लोग उन्हें पत्र लिखते थे। विदेशों से भी बहुत-से लोग उन्हें पत्र लिखते थे। गांधीजी देश की बड़ी समस्याओं में उलझे रहते थे तब भी वह हजारों पत्र लिखनेवाले परिचित-अपरिचित लोगों की घरेलू समस्याओं को सुलझाने में रुचि लेते थे।

गांधी के निकट के बड़े लोग अक्सर नाराज होते थे कि बापू का बहुत-सा समय और शक्ति छोटे-छोटे कामों में बेमतलब बरबाद होती है, लेकिन वे बेचारे कहां समझते थे कि वास्तविक महानता सामूहिक व्यवसाय और कार्य में नहीं, व्यक्ति की आत्मा के साथ हार्दिक सहानुभूति और संवेदना के धागे से बंधने में ही है। गांधीजी ऐसे हजार धागों से बंधे हुए थे, इसीलिए वह सबसे अधिक मुक्त थे और एक ही क्षण में 'हे राम' कहकर वह उसी राम में—प्रत्येक चेतन कण में व्याप्त राम में—समा गये, जिसका स्पर्श उन्होंने अपने प्रबुद्ध जीवन के प्रत्येक क्षण में पाया था।

इसी स्पर्श ने गांधीजी को विश्व-भारती के फूलों और पत्तों की कलापूर्ण सजावट से युक्त स्वागत को अधिक समय तक सहन न करने को बाध्य कर दिया। उन्होंने उसे हटाकर अपने चर्खों और खादी को वहां सजा दिया और बोले, "मेरे मन में इन गुलाब के फूलों से ज्यादा कीमत देश के गरीब-से-गरीब और मैले-कुचैले बच्चों की है, जिनके लिए मैंने खादी को अपनाया है, क्योंकि मैं उनके सूखे गालों पर इन गुलाब के फूलों जैसा गुलाबीपन देखना चाहता हूं।"

इसी स्पर्श ने उड़ीसा की अकाल पीड़ित अधनंगी बहन का कष्ट और अभाव देखकर गांधीजी को अधनंगा रहने पर बाध्य कर दिया।

मानवता का यह कोमल, संवेदनापूर्ण और हार्दिक स्पर्श ही मनुष्य का सबसे बड़ा वैभव है। इसी कारण गांधीजी अपने युग के शायद सबसे अधिक वैभवशाली मानव थे। इसीने उन्हें बुद्ध और ईसा की पंक्ति में ले जाकर बिठाया और इसीके कारण आगे आनेवाला मानव उन्हें कभी नहीं भूलेगा। ●

सच्चा धर्म

रामनारायण उपाध्याय

धर्म क्या है? जिसमें मनुष्य का हित हो, वही सच्चा धर्म है। वेद व्यास ने अठारह पुराणों का सारांश केवल दो पंक्तियों में प्रस्तुत कर दिया है—"परोपकार ही पुण्य और परपीड़ा ही पाप है।" परोपकार की परिभाषा करते हुए वैष्णव कवि नरसिंह मेहता ने बहुत ही सुन्दर बात कही है: "सच्चा वैष्णव वह है जो दूसरों के दर्द को पहचाने, उसे मिटाने का उपाय करे और फिर भी मन में अभिमान न लाये।"

किसीके दर्द को पहचाना और उसे मिटाने का उपाय नहीं किया, कोरी सहानुभूति बताकर रह गये तो दर्द को क्या पहचाना? उस दर्द को मिटाने का उपाय किया और मन में अभिमान आ गया, अनुभव हुआ कि मैंने कुछ किया है और उस करने के बोझ से सामनेवाले को दबा दिया तो क्या भलाई की? जो दूसरे के दर्द को पहचाने, उसे मिटाने का उपाय करे और फिर भी मन में अभिमान न आने दे वही सच्चा वैष्णव है।

भलाई करना मनुष्य का उसी तरह सहज स्वभाव है, जिस तरह कुए में से एक बालटी जल निकालने पर बिना हो-हल्ला किये सब ओर का जल दौड़कर उस गढ़े को, उस दर्द को, दूर देता है। जैसे हम सांस लेते हैं और हमें कुछ करने का भान नहीं होता, उसी तरह सहज भाव से सेवा करना मनुष्य का धर्म है।

सेवा विनम्रतापूर्वक ही की जा सकती है। सूर्य का धर्म सब जगह प्रकाश पहुंचाना है। लेकिन जिन घरों का दरवाजा बंद होता है वहां वह दस्तक देकर, दरवाजे को ठोक-पीटकर, प्रकाश नहीं पहुंचाता। वह तो विनम्रता से दरवाजे की देहलीज पर खड़ा रहता है। और जैसे ही दरवाजा खुला कि अन्दर पहुंच जाता है। दरवाजा देर से खुले तो उसे शिकायत नहीं। अपने खड़े रहने की उसे कोई तकलीफ नहीं। प्रकाश पहुंचाना ही उसका धर्म है। यही सच्चे सेवक का लक्षण है।

मनुष्य का जो कर्तव्य है, वही उसका धर्म है। जो भी आदमी ईमानदारी से अपने कर्तव्य का पालन करता है वह सच्चा धार्मिक है। किसान का धर्म खेती करना है। जो किसान हल की मूठ पकड़कर खेतों, मैदानों में काम करता है, भगवान मिट्टी में से अनाज उत्पन्न कर उसकी मदद करते हैं।

कबीर ने ईमानदारी से कपड़ा बुना, भगवान को ग्राहक बनकर उसकी मदद को आना पड़ा; सकूबाई ने ईमानदारी से चक्की चलाई, भगवान को चक्की का हत्था पकड़कर उसकी सहायता करनी पड़ी। जहां भी दो हाथ काम में लगे वहां हजार हाथों से भगवान को उनकी मदद करनी पड़ती है।

भगवान का यह नियम है कि जो भी उसे सच्चे मन से पुकारता है वह उसके पास पहुंच जाता है। द्रौपदी ने जब सच्चे मन से पुकारा तो उन्हें उसके लिए वस्त्र बनकर आना पड़ा। परतन्त्र भारत ने जब उन्हें सच्चे मन से पुकारा तो उन्हें उसके लिए स्वतन्त्रता बनकर आना पड़ा और आज जबकि स्वतन्त्र भारत के सामने रोटी का प्रश्न है, भगवान को उसके लिए रोटी बनकर भी आना पड़ेगा।

कहते हैं, भगवान के सहस्र नाम हैं लेकिन सहस्र ही क्यों, दुनिया में जितने प्राणी हैं, भगवान के उतने नाम हैं। रवीन्द्रनाथ ने तो एक जगह गाया है:

"अरे, तू आंखें बन्द कर किसका ध्यान कर रहा है?
वह तो वहां है, जहां किसान खेतों में हल चला रहा है।
मजदूर सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहा है।"

कहते हैं, स्त्रियों के लिए वेद पढ़ना मना है। क्यों? इसलिए कि जो सुबह से शाम तक भगवान की पूजा करने

की तरह घर के कार्यों में जुटी रहे उसके पास अलग से वेदों को पढ़ने के लिए समय ही कहां रहता है ! जिसका जीवन ही यज्ञ बन चुका, वह और कौन-सा यज्ञ करे ? जिसके हाथ में काम और हृदय में नाम है, उसके साथ सदा राम रहते ही हैं ।

हमने तो पाषाण में भी भगवान के दर्शन किये हैं । जो पत्थर जैसी कठोर वस्तु में भी हो सकता है वह मनुष्य में तो होना ही चाहिए । दुर्भाग्य से हमने मूर्ति में तो भगवान के दर्शन किये, पर मनुष्य में उसे भुला दिया ।

कहते हैं, एक बार भगवान मनुष्य बनकर मनुष्य के पास आये तो मनुष्य ने उन्हें नहीं पहचाना । इस घटना से वह स्तब्ध होकर मूर्तिवत् खड़े रह गये । अब आदमी है कि उन्हें मन्दिरों में खोज रहा है ।

भगवान की पूजा का अर्थ है त्याग में से फल-प्राप्ति के रहस्य को समझना । हम उन्हें फूल चढ़ाते हैं, इसलिए कि हम वृक्ष पर से उन्हें तोड़ें तो ऐसा न हो कि उन्हें एकदम अपनी नाक से लगा लें । पहले उन्हें हमें किसीके चरणों पर समर्पित कर फिर उनका उपयोग करना चाहिए । हम जब भोजन करते हैं तो पहले भगवान को नैवेद्य लगाते हैं । वह इसलिए कि हमारे सामने जब भोजन की थाली आये तो ऐसा न हो कि हम कौर तोड़ें और खाने लग जायं । हम देखें कि हमारे आसपास कोई भूखा तो नहीं हैं । हमारा कौर पहले भगवान को अर्पित होकर तब मुंह तक जाय । हमारे यहां तो दक्षिणा भी भिगोकर देने का नियम है, वह इसलिए कि हम जो कुछ दें वह हृदय से दिया जाना चाहिए, उसे स्नेह से गीला होना चाहिए ।

धर्म का उद्देश्य मनुष्य को किसी मत या पन्थ से बांधना नहीं है, वरन् जो सब तरह के बन्धनों से मुक्ति दिलाये वही सच्चा धर्म है । शंकराचार्य ने कहा —"आग ठण्डी है, ऐसा सौ श्रुतियां भी कहें तो भी नहीं मानना चाहिए । अपने प्रत्यक्ष अनुभव में से ज्ञान प्राप्त करो ।"

कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया और अन्त में कहा, "जो तुम्हें उचित लगे वही करो" ।

नारद ने तो यहांतक कहा कि वेद को भी गंगा में समर्पित कर दो, फिर सोचो और जो तुम्हें ठीक मालूम हो, उसे स्वीकार करो । गुरु का कार्य तो ज्ञान की दहलीज तक पहुंचाना है । शेष रास्ता तो साधक को अपने पांवों से चलकर तय करना है ।

जिस तरह शिक्षक विद्यार्थियों को भूगोल, इतिहास और गणित आदि का पर्चा देकर परीक्षा लेता है, उसी तरह भगवान भी आदमी को गरीबी, अमीरी, निर्बलता और बल का पर्चा देकर उसकी परीक्षा लेता है । जो आदमी अपने धन का उपयोग गरीबों को सताने में करता है, बल का उपयोग निर्बल को दबाने में करता है, वह असफल होता है । पर जो अपने धन का उपयोग गरीबों की मदद में करता है और बल का उपयोग सेवा में करता है, वह भगवान के दिये पर्चे में उत्तीर्ण हो जाता है । इसके अतिरिक्त भगवान में हरेक आदमी को प्यार करने का एक और पर्चा दिया है । उसमें उत्तीर्ण होनेवाला ही सच्चे धर्म के मर्म को पहचानता है ।

व्यक्ति की पूजा के बजाय गुण की पूजा करनी चाहिए । व्यक्ति तो गलत साबित हो सकता है और उसका नाश तो होगा ही, गुणों का नाश नहीं होता ।

—मो० क० गांधी

हरि के प्यारे : हरिजन सारे

नवारुण वर्मा

●

"दूर हटो, दूर हटो, मारो, मारो।"

मैदान में यही आवाज गूंज रही थी। एक कोने में खड़े हुए कुछ काले-काले-से लोगों के प्रति सजे-धजे लोगों में उत्तेजना फैल गई थी। सैंकड़ों लोग उनपर टूट पड़े थे।

कोई चीख रहा था—मारकर हड्डी-पसली तोड़ दो। इन कम्बख्तों की ऐसी हिम्मत कैसे हुई ?

और भीड़ अन्धी होती है। उन लोगों पर मार पड़ने लगी। शोर बढ़ गया था।

क्या था इनका अपराध ? क्या ये चोर-गिरहकट थे ? नहीं, वे अछूत थे, जो बड़े ही आग्रह से सभा में भाषण सुनने आये थे। उसके दर्शन करने आये थे, जो भारत का उद्धारक है। दुखी लोगों का त्राण करनेवाला है।

उनपर मार पड़ रही थी और वे लगातार चीख रहे थे—भाइयो, हमने तो कोई बुरा काम नहीं किया है। हम तो सिर्फ महात्माजी का भाषण सुनने आये हैं।

ऊंचे वर्ण के लोगों के साथ भाषण सुनने आये हैं ये ? इतनी हिम्मत इनकी ? यही तो इनका सबसे बड़ा अपराध है। लोग आपस में बातें कर रहे थे।

अचानक शोर थम गया। लोग पुकार उठे—महात्मा-जी आ गये।

परन्तु दूसरे ही क्षण समूचा दृश्य बदल गया। महात्मा-जी मंच पर से उतरकर उन्हीं लोगों के बीच आकर खड़े हो गये, जिन्हें लोग मारकर भगा देने का उपक्रम कर रहे थे।

उनकी गम्भीर वाणी गूंजी—"इन्हें क्यों मारा जा रहा था ?"

कोई कह उठा—"क्योंकि ये अछूत हैं ! इन्हें सभा में उच्च वर्णवाले लोगों के साथ रहने का कोई अधिकार नहीं।"

क्षणभर सन्नाटा ! इसके बाद गांधीजी की सीधी आवाज फिर गूंजी—तब तो मैं भी अछूत हूं। मैं इन्हीं लोगों के बीच रहना चाहता हूं। जो लोग दूसरे मनुष्यों को अछूत समझते हैं, वे खुद अछूत हैं।

लोग हैरत में पड़े हुए थे। अछूत अपने प्यारे गांधीजी को पाकर पुकार उठे—महात्मा गांधी की जय।

अस्पृश्यता या छुआछूत की भावना को गांधीजी सम्पूर्ण मानवता के लिए गम्भीर अभिशाप मानते थे। यह कितनी विचित्र स्थिति है कि भगवान ने मानव को केवल मानव के रूप में ही उत्पन्न किया है, परन्तु मानवी दम्भ ने श्रेष्ठता और नीचता के कृत्रिम व्यवधान रचकर घृणा के प्राचीर खड़े कर लिये हैं।

मानव मानव में अन्तर की भावना स्वाभाविक नहीं है, ऊपर से ओढ़ी गई या लादी गई है, इसीलिए शिशु के कोमल अन्तर में उसके समझदार (?) माता-पिता ही विभेद का अंकुर उगाते हैं, उसे सिखाया जाता है, यह बड़ा है, यह छोटा है। परन्तु प्रारम्भ में क्या शिशु अन्तर उसे स्वीकार करता है ? धीरे-धीरे ज्ञान (?) वृद्धि के साथ ही जब वह अपने में श्रेष्ठता का आरोपण करने लगता है तभी तो घृणा का बीज लहलहाते पौधे का आकार धारण कर लेता है। जहां अन्तर निर्मल होता है, चिन्तनशील होता है, वहां ऐसे बीज को पनपने का अवसर ही नहीं मिल पाता।

गांधीजी का परिवार परम परम्परावादी वैष्णव मत का अनुयायी था। जिस उदार वैष्णव परम्परा ने जन-जन में भक्ति-भावना का संचार किया था, धर्म-चेतना को मुट्ठी-भर लोगों के हाथ से मुक्तकर शोषित, निराश जनता को नवीन मार्ग-दर्शन किया था, वह भी भारतीय समाज के रग-रग में पैठी हुई भेद-विभेद और अस्पृश्यता की भावना

का मूलोच्छेद नहीं कर सकी। बल्कि उलटे स्वयं संकीर्णता का शिकार हो गई। बालक गांधीजी को इसका आभास बचपन में ही मिल गया था। उनके पिता वैष्णव होने पर भी ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि सभी धर्मों के लोगों से मिलते-जुलते। उनसे विचार-विनिमय करते। गांधीजी की माता पुतलीबाई भी उदार महिला थीं। परन्तु उच्च वर्ग-सुलभ संकीर्णता से वह भी सर्वथा मुक्त कहां हो पाई थीं? उनके यहां जो भंगी लड़का सफाई के लिए आता उसे छूने की मनाही थी। परन्तु गांधीजी का अन्तर उस निषेधाज्ञा का समर्थन नहीं करता था। वह उस भंगी बालक को छू लेते और इस अपराध का दण्ड भी भोग लेते थे। उनका अन्तर प्रतिवाद कर उठता—मनुष्य को स्पर्श करने में भला कौन-सा अपराध हो जाता है? बचपन का यही चिन्तन आगे चलकर उनके जीवन और कर्म में पल्लवित हुआ।

कर्म-क्षेत्र के अनुभव ही मानव के यथार्थ शिक्षक होते हैं। शैशव की भावनाएं अनुकूल परिवेश पाकर इसी काल में पुनर्जाग्रत होती हैं। गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में जाकर अस्पृश्यता के दूसरे रूप—वर्ण-भेद की उत्कटता देखी। भारत में जन्मगत अस्पृश्यता जितनी भयावह है, अन्य देशों में वर्ण-भेद-मूलक अस्पृश्यता उससे कम भयावह नहीं; परम सत्यान्वेषक गांधीजी को कई बार उत्कट वर्ण-द्वेष का शिकार होना पड़ा था। उनके सम्मुख स्पष्ट प्रतिभास हो गया था, भारत में उच्च वर्ण के लोग अछूतों से जैसा बर्ताव करते हैं, भारत के बाहर उन्हीं लोगों को वैसे ही व्यवहार मिलता है। निन्दा और घृणा सीमित नहीं होती, व्यापक और संक्रामक होती है। इनकी परिधि निरंतर अधिक विस्तृत होती जाती है। कवि-गुरु रवीन्द्रनाथ ने इसीलिए चेतावनी दी है :

हे मोर दुर्भागा देश, यादेर करेछ अपमान।
अपमाने हते हबे ताहादेर सबार समान॥

गांधीजी ने इसी मनुष्यता के अपमान को मिटाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होकर जीवन-संकल्प कर लिया।

गांधीजी के महान् संघर्ष के दो स्पष्ट पहलू हैं, एक राजनैतिक बन्धन-मुक्ति का और दूसरा सामाजिक विषमताओं के अन्त का, बल्कि अधिक सचाई तो इस बात में है कि गांधीजी राजनैतिक बन्धन-मुक्ति की अपेक्षा सामाजिक विषमताओं के अन्त के लिए अधिक प्रयत्नशील थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि सामाजिक विषमताओं के अन्त के बिना राजनैतिक बन्धन-मुक्ति व्यर्थ है। यही कारण है कि उन्होंने विषमताओं के शिकार अछूतों को केवल समानता का अधिकार दिलाने का महान् संघर्ष ही नहीं आरम्भ नहीं किया, युग-युग से निराशा-ग्रस्त, दैन्य-पीड़ित, अन्धविश्वासों में निःस्वत्व निम्न वर्ग के जीवन्मृत लोगों को 'हरिजन' नाम से अभिहित कर उनमें अपूर्व आत्म-विश्वास का मन्त्र भी फूंका।

कोई राष्ट्र तबतक सम्पूर्ण रूप से स्वाधीन नहीं कहा जा सकता जबतक उस राष्ट्र में एक भी वर्ग या एक भी मनुष्य अपनेको निपीड़ित अनुभव करता हो। गांधीजी ने भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन को इसीलिए विश्व-मुक्ति का आन्दोलन भी कहा था, क्योंकि वह इसके जरिये केवल मनुष्य की राजनैतिक बन्धन-मुक्ति का स्वप्न ही नहीं देखते थे अपितु उनकी आदर्श कल्पना थी कि यह आगे चलकर विश्व की निपीड़ित मानवता का आन्दोलन बन जायगा। गांधीजी के जीवन-काल में उनके अनुरागियों में भी आन्दोलन की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में मतभेद था, वहीं यह भी प्रमाणित हो गया था कि सम्पूर्ण विश्व-मानवता उससे कितना अधिक अनुप्राणित हो सकती है। इसीलिए संशय-ग्रस्त भारतीय मानस जहां अफ्रीकी देशों में गांधीजी के आदर्शों के दुहराने की चर्चा सुनता है, वैभवपूर्ण अमरीका के वंचित जन-मानस में गांधीजी की वाणियों की ध्वनि सुनता है, तो क्षणभर के लिए उस विराट प्रभापुंज के चरणों में अवतरित हुए बिना नहीं रहता। जितने दिन जा रहे, आणविक संत्रास से उच्चकित मानव-मात्र को गांधीजी के सन्देशों की यथार्थता उतना ही अधिक आकर्षित कर रही है।

गांधीजी खण्ड के नहीं, सम्पूर्णता के पुजारी थे। हरिजनों को उन्होंने केवल हिन्दू-समाज के एक अंग के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे विराट विकसनशीत मानवता का अभिन्न अंग माना। सामाजिक विखंडन के वह सर्वथा विरोधी थे। वह नहीं चाहते थे कि मानव को कुछ वर्गों की खण्डित इकाइयों में बांट दिया जाय। हिन्दू, मुसलमान,

सिख, ईसाई, बौद्ध आदि सभी धर्मों को वह एक ही विराट सत्य का विभिन्न अंग कहा करते थे और इनमें विरोध का बीज बोनेवाले प्रयासों के विरुद्ध थे। अक्सर कहा जाता है कि गांधीजी ने हरिजनों को हिन्दू समाज से पृथक हो जाने की नीति के विरोध में आमरण अनशन किया था और ऐसा कहकर गांधीजी के विराट आदर्श को संकीर्णता के सूत्र में सीमित करने का प्रयास किया जाता है कि उन्हें विघटित होनेवाले हिन्दू समाज की रक्षा का ही अधिक ध्यान था। परन्तु गांधीजी के आदर्श कभी किसी वर्ग में सीमित नहीं रहे। उनके अथक प्रयास के बावजूद जब भारत में फूट फैलानेवाली शासक गोष्ठी ने हिन्दू-मुसलिम पृथकता कानून बना दिया और हरिजनों को भी अलग करने का दुष्प्रयास होने लगा, शासक-गोष्ठी की कूटनीति के शिकार डाक्टर अम्बेडकर जैसे नेता भी होते जा रहे थे, उस समय गांधीजी को यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि वर्गीय विभाजन की यह प्रक्रिया केवल यहीं सीमित नहीं होगी, बल्कि इसका स्वरूप और अधिक विकृत होता जायगा। जाति, वर्ण, वर्ग, भाषा आदि अनेक रूपों में समाज को शतधा खण्डित किया जायगा और मानव-मुक्ति-आन्दोलन का भविष्य अन्धकारपूर्ण होगा। खण्डित, शक्तिहीन वर्गों में वैमनस्य का सुयोग लेकर स्वार्थी तत्व उनपर अपना शिकंजा सख्त करते जायंगे। केवल हिन्दू समाज या हरिजनों को ही गांधीजी ने यह नहीं सिखाया कि मुक्ति-आन्दोलन अखण्डता से ही सम्भव है, बल्कि उन्होंने विश्व को अपने सीमित स्वार्थों से ऊपर उठकर चिन्तन का भी महान् सन्देश दिया, जिससे संसार पर पशुता का नहीं, अन्ततः मानवता का प्रेम-साम्राज्य स्थापित हो।

मानव-मात्र समान है, ब्राह्मण और शूद्र में कर्मों के सिवा और और अन्तर नहीं; गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास था। उच्च वर्गों और निम्न वर्गों के बीच का कृत्रिम अन्तर मिटाने के प्रयास में उन्हें अपने परिवार में विरोध का सामना करना पड़ा था, उसी प्रकार सामाजिक बाधाएं भी उनके सम्मुख आई थीं। वह जानते थे, मानव-कल्याण के मार्ग में बाधाएं आती हैं और जो व्यक्ति मानव-कल्याण जितना अधिक करना चाहता है, उसे उतनी ही बड़ी बाधाओं का सामना करना पड़ता है। परन्तु सत्य को ही वह भगवान मानते थे और पूर्ण निर्भयता से सत्य-संकल्प लेकर बाधाओं का सामना करते थे। अपने आश्रमों में वह कभी छुआछूत की भावना को प्रश्रय नहीं देते थे। साबरमती में जब उन्होंने आश्रम खोला, बहुत-से लोग उनकी मदद करने को तैयार थे। परन्तु आश्रम में हरिजनों को स्थान देने की वजह से वे लोग असन्तुष्ट हो गये थे। इससे आश्रम के संचालन में कठिनाई उत्पन्न हो गई। गांधीजी ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था—मेरे लिए तो हरिजन ही सबसे पहले हैं। अगर कोई मुझे हरिजनों को छोड़कर भारत का स्वराज्य भी देना चाहे तो ऐसा स्वराज्य भी मुझे कभी स्वीकार नहीं होगा।

गांधीजी के विचार से स्वराज्य अपने में साध्य नहीं है, बल्कि वह मानवता की प्राप्ति का एक प्रमुख साधन है। उन्होंने अपनी कल्पना से देखा था, भारत स्वतन्त्र होनेपर ही अपनी विषमताओं को मिटाने में तत्पर हो सकेगा और तभी भारत के आदर्शों पर चलकर विश्व के अन्य देशों में भी सर्वात्मिक मुक्ति का आन्दोलन पनप सकेगा। जबतक सम्पूर्ण मानवता की मुक्ति नहीं होती तबतक केवल राजनैतिक स्वराज से पूरा कल्याण सम्भव नहीं है। गांधीजी के विचारों की सत्यता आज के एशिया, अफ्रीका, यूरोप के तथाकथित स्वतन्त्र राष्ट्रों की परिणति में हम स्पष्ट देखते हैं कि उनकी स्वतन्त्रता की ओट में किस तरह साम्राज्यवादी और तानाशाही हथकण्डे चल रहे हैं, जिसमें बेचारी जनता बुरी तरह पिस रही है। वह सोचने को मजबूर सो रही है, क्या यही स्वतन्त्रता है? एक के बाद एक आन्दोलन, क्रान्तियां स्वतन्त्रता के नाम पर हो रही हैं, परन्तु जनता को केवल एक विराट शून्य के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं आता। सामाजिक और वैचारिक विषमताओं की मुक्ति के बगैर राजनैतिक स्वतन्त्रता एक मखौल बनकर रह जाती है।

हरिजनों की गिरी हुई अवस्था से गांधीजी को असीम वेदना होती थी और वह सर्वशक्ति से उनका उन्नयन चाहते थे। युग-युग से दलित इन हरिजनों ने इस घोर आत्मपरायण युग में गांधीजी की आश्वासन-वाणी सुनी। वह उच्चकित हुए—कौन आ गया यह देवदूत? क्योंकि उनको तो उच्च वर्ण के लोगों से उपेक्षा, घृणा ही मिलती थी,

मन्दिरों के पट उनके लिए सदैव बन्द थे। समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित होने के कारण उनके अन्तर में भी असीम कुण्ठा घर कर गई थी। अतः गांधीजी को ऐसे लोग अपना उद्धारक यहांतक कि भगवान् भी मानने लगें तो आश्चर्य ही क्या ? परन्तु गांधीजी अपनी पूजा नहीं चाहते थे। यह उस नकली ब्राह्मणत्व के घोर विरोधी थे, जो आदर्श को जड़ बनाकर, फूल-मालाओं से लादकर, घण्टा-शंख बजाकर नाम-जप में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मानता है। इसीलिए लाखों लोगों की भीड़ जब उनके चरण छूने के लिए उमड़ पड़ती, वह उससे दूर, निर्विकार रहने का प्रयास करते। इसी सन्दर्भ में वह घटना स्मरणीय है, जब गांधीजी उड़ीसा भ्रमण कर रहे थे। बालासोर के पास के एक गांव में वह अपने साथियों के साथ टिके थे। एक दिन वह बैठे थे तभी देखा, एक आदमी आया। उसने दूर से ही उन्हें देखकर थोड़ी-सी घास अपने सिर पर रखी और भूमि पर लेटकर साष्टांग प्रणाम किया। तदुपरान्त कुछ कहे बिना ही हाथ जोड़े मुड़कर चल पड़ा। गांधीजी उसकी सारी हरकतें विस्तार से देखते रहे। जब वह जाने लगा तो उसे संकेत से अपने पास बुलाया। पूछा, "आखिर तुम यहां आये क्यों थे ?"

भोले-भाले उस आदमी का उत्तर था, "मैंने सुना है कि गांधीजी भगवान के अवतार है, मैं उनका दर्शन करने आया था।"

"तो फिर तुमने अपने सिर पर घास क्यों रखी ? घास तो जानवर खाते हैं।"

उसने सिर झुकाये उत्तर दिया, "हमें तो बड़े आदमियों को इसी तरह प्रणाम करना पड़ता है। हम तो नीच हैं।"

गांधीजी के हृदय में करुणा उमड़ आई। आदमी स्वयं मनुष्य होकर भी अपनेको नीच समझे, यह विडम्बना नहीं तो क्या है ? उन्होंने कहा—नहीं, तुम नीच नहीं। तुम मनुष्य हो ! मनुष्य मनुष्य सभी समान हैं।

वह बेचारा गांधीजी की ओर देखता रह गया। क्या सुना, क्या समझा, कुछ पता नहीं। वह तो अपनेको कृतार्थ मान रहा था, उसने गांधीजी के दर्शन ही नहीं किये, उनसे बातें भी कीं। वह अपनेको सराह रहा था। तभी गांधीजी ने फिर कहा—अच्छा, तुमने दर्शन तो कर लिये, अब बताओ, तुम चाहते क्या हो ?

यही प्रश्न तो मनुष्य के सम्मुख बार-बार होता है ? उसे क्या चाहिए ? और यहीं तो वह धोखा खा जाता है बार-बार। रवीन्द्रनाथ ने इसी स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है :

याहा चाइ ताहा भुल करे चाइ
याहा पाइ ताहा चाइ ना।

(जो चाहते हैं, वह गलत चाह होती है। जो मिलता है, उसे हम नहीं चाहते।)

परन्तु बुद्धिमान तो वही है जो 'चाह' की झंझटों से बचा रहे। वह भोला-भाला, सरल हरिजन भी चूका नहीं। कहा, "मुझे आपका दर्शन हो गया और कुछ नहीं चाहिए।"

गांधीजी मुग्ध हो गये। उन्होंने कहा, "अच्छा, तो मैं ही तुमसे कुछ मांग रहा हूं। क्या मुझे दे सकोगे ?"

गांधीजी मांग रहे हैं उससे ? बेचारा अचरज में था। जिसके दर्शन के लिए लाखों की भीड़ उमड़ती है, वह ही उसके जैसे नगण्य आदमी से मांग रहे हैं ! उसने सकुचाते हुए कहा, "मेरे पास जो कुछ है, मैं जरूर दे दूंगा।"

"तो फिर मैं तुमसे यही मांगता हूं कि आज से तुम न शराब पिओ और न मरे जानवर का मांस खाओ।"

"लेकिन", वह आदमी संकोच में पड़ गया, "ऐसा करने पर तो मुझे जातिवाले जाति से निकाल देंगे।"

"तो भी तुम अपनी बात पर अटल रहना और जो भी मुसीबत आये, स्वीकार कर लेना।"

वह हरिजन युवक हृदय में दृढ़ संकल्प लेकर चला गया।

छोटी-छोटी घटनाएं व्यक्तित्व की विशिष्टताएं सूचित करती हैं, क्योंकि इन्हींके जरिये मानव का स्वरूप उघड़कर सामने आ जाता है। उपर्युक्त घटना गांधीजी से विशिष्ट व्यक्तियों की मुलाकातों की अपेक्षा बाह्य दृष्टि से नगण्य हो सकती है, परन्तु इसीमें बापू की चिन्तनेधारा की महानता उद्भासित होती है।

कहा तो था संतों ने, पर सुनें हम भी

सीता सक्सेना

उस संसार का सौदा

"मां मैं सौदा करके आ गया।"

"कौन-सा सौदा इतनी जल्दी कर आये, बेटा ? सामान तो तुम्हारे पास दिखाई नहीं देता।"

"सामानवाला सौदा इस संसार के लोग करते हैं। उस संसार के सौदे के लिए सामान की आवश्यकता नहीं पड़ती और वही सौदा मैं करके आया हूं।"

"कैसे ?"

"सारे रुपयों का अनाज गरीबों को बांट आया। मां वे बहुत भूखे थे। उनकी भूख मुझसे देखी नहीं गई।

"खैर, अब कैसे भी अपने घर का काम चल ही जायगा। इतनी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है !"

मां बेटे के सौदे पर गद्‌गद हो गई। दूसरों के दुःखों को अपना दुःख माननेवाला वह बालक नानक था। आगे चलकर यही नानक सिख-धर्म के प्रवर्तक बने।

जुलाहे का लोटा

प्रातः का समय था। भक्त लोग गंगा-स्नान कर रहे थे। कुछ ब्राह्मण भी गंगा-स्नान करने आये। पानी काफी गहरा था। अतः घुसकर स्नान करने का साहस न हो रहा था। पात्र कोई नहीं था। एक किनारे पर सन्त कबीर स्नान कर रहे थे। उन्होंने देखा तो उनसे न रहा गया। उन्होंने अपना लोटा मांज-धोकर एक व्यक्ति को दिया और कहा कि जाओ ब्राह्मणों को दे आओ, ताकि वे भी सुविधा से स्नान कर लें।

कबीर का लोटा देखकर ब्राह्मण चिल्ला उठे, "अरे, जुलाहे के लोटे को दूर रखो। इससे स्नान करके तो हम अपवित्र हो जायंगे।"

"भाइयो, इस लोटे को कई बार मिट्टी से मांजा और गंगाजल से धोया, फिर भी साफ न हुआ, तो यह मानव-शरीर, जो दुर्भावनाओं से भरा है, गंगाजी में स्नान करने से कैसे पवित्र होगा ?"

कबीर के ये शब्द सुनकर ब्राह्मण एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे।

तीसरा कलंक

स्वामी रामतीर्थ की ओजस्वी वाणी तथा विद्वत्ता से प्रभावित होकर अमरीका के अठारह विश्वविद्यालयों ने मिलकर उन्हें एल.-एल. डी. की उपाधि देने का प्रस्ताव किया। जब स्वामीजी को मालूम पड़ा तो उन्होंने धन्यवाद-सहित उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा, " 'स्वामी' और 'एम. ए.' ये दो कलंक हैं, जो मेरे नाम के आगे-पीछे लगे हुए हैं। अब यह तीसरा कलंक मिलने-वाला है, इसे मैं कहां लगाऊंगा ?

प्रतिष्ठा, प्रशंसा, यश, कीर्ति और मान-बड़ाई के चक्कर में पड़कर सन्तों में अहं की भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे सच्चे उद्देश्य की पूर्ति में कठिनाई होती है। अतः सच्चे सन्त ऐसे सम्मानों से सदैव बचने का प्रयत्न किया करते हैं।

सेवा-कार्य में बाधा

महात्मा गांधी के आश्रम में एक प्रसिद्ध संन्यासी पधारे। आश्रम की गतिविधियों को देखकर संन्यासी को बड़ी प्रसन्नता हुई और वह वहीं ठहर गये। आश्रम के निवासियों ने उन्हें अतिथि की तरह रखा। एक दिन उन संन्यासी ने गांधीजी से भेंट की और कहा, "महात्माजी, मेरी इच्छा है कि मैं आपके आश्रम में रहूं। मेरा यह शरीर यदि राष्ट्र के कार्य आयगा तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

गांधीजी उनकी बातों को सुनकर बोले, "साधुओं के निवास के लिए ही आश्रम होते हैं। आपकी हार्दिक इच्छा जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। हां, एक बात है कि यहां

रहने से पूर्व आपको इन गेरुये वस्त्रों का त्याग कर देना चाहिए ।"

गांधीजी की यह बात संन्यासी को पसन्द न आई। वह मन-ही-मन क्षुब्ध हुए। क्षोभ को दबाकर बोले, "गांधीजी, मैं संन्यासी हूं, गेरुआ वस्त्र कैसे उतार सकता हूं ?"

गांधीजी ने उन्हें समझाते हुए कहा, "मैं कब कहता हूं कि आप संन्यास को छोड़ दीजिये। आप इस ओर खूब प्रगति कीजिये। मेरा परामर्श तो केवल गेरुये वस्त्र छोड़ने का था। गेरुये वस्त्रों को पहना देखकर भारतवासी आपकी सेवा और पूजा शुरू कर देंगे और आपको सेवा करने का अवसर नहीं मिलेगा। गेरुये वस्त्र पहने देखकर लोग आपकी सेवाओं को स्वीकार ही न करेंगे। अत: सेवा-कार्य में जो वस्तु बाधक बने उसे त्यागने में कोई हर्ज नहीं है। संन्यास का सम्बन्ध वस्त्रों से नहीं, वरन् मन से है। यदि आप ऐसे कपड़े पहने रहेंगे और सफाई का कार्य करना शुरू करेंगे तो आपके हाथ से लोग झाड़ू छीन लेंगे।"

महात्मा गांधी की बात का प्रभाव उस संन्यासी पर इतना पड़ा कि बिना आगे कुछ कहे हुए उन्होंने गेरुये वस्त्र त्याग दिये।

गौतमी का बोध

गौतमी के केवल एक पुत्र था। वह भी चल बसा। बेचारी बड़ी परेशान रोती-चिल्लाती भगवान बुद्ध के पास गई। उसे आशा थी कि भगवान उसके बालक को जीवन दे सकते हैं।

भगवान बुद्ध ने उसे धैर्य बंधाते हुए कहा, "जाओ, किसी ऐसे घर से थोड़ा जल ले आओ, जहां कभी किसीकी मृत्यु न हुई हो। उस जल से तुम्हारे पुत्र का अभिसिंचन कर जीवित कर दूंगा।"

गौतमी बच्चे की निर्जीव काया को वहीं छोड़कर जल प्राप्त करने गई। द्वार-द्वार घूमी, पर ऐसा कोई घर न मिला, जहां कभी किसीकी मृत्यु न हुई हो। निराश होकर लौट आई।

गौतम बुद्ध ने कहा, "तुमने स्वयं जाकर अभी देखा कि कोई परिवार ऐसा नहीं है जिसमें किसी-न-किसीकी मृत्यु न हुई हो। ध्यान रखो, संसार में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं, जिसे एक-न-एक दिन मौत के मुंह में न जाना पड़े। फिर मृत्यु पर शोक करने की क्या आवश्यकता है ?"

तथागत के शब्दों से गौतमी का बोध जाग उठा। वह अपने मृत पुत्र का संस्कार कर घर चली गई।

सबको कुरते चाहिए

एक बार गांधीजी एक स्कूल देखने गये। उन दिनों वह लंगोटी पहनने लगे थे। कन्धे पर एक चादर डाल लेते थे। उन्हें इस रूप में देखकर एक बच्चे ने कुछ कहा, परन्तु शिक्षक ने उसे रोक दिया। गांधीजी सबकुछ देख रहे थे उस बच्चे से बोले, "तुम कुछ कहना चाहते हो ?"

वह बच्चा बोला, "आपने कुरता क्यों नहीं पहना ? मैं अपनी मां से कहूंगा, वह आपके लिए कुरता सीं देंगी। आप पहनेंगे न ?"

गांधीजी बोले, "जरूर पहनूंगा, लेकिन एक शर्त है, बेटे, मैं अकेला नहीं हूं।"

बच्चे ने पूछा, "तब आपको कितने कुरते चाहिए ? दो। मां से कहूंगा, वह आपके लिए दो कुरते सीं देंगी।"

गांधीजी ने उत्तर दिया, "दो नहीं, मेरे चालीस करोड़ भाई-बहन हैं। उन सबको कुरते चाहिए। क्या तुम्हारी मां चालीस करोड़ कुरते सीं सकेगी ?"

वह बच्चा शायद कुछ समझ नहीं सका। गांधीजी उसकी पीठ थपथपा कर चले गये, लेकिन शिक्षकों ने तो सबकुछ समझ ही लिया था।

निन्दा का त्याग

अगरचन्द नाहटा

●

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसकी प्रशंसा हो। कोई भी व्यक्ति अपनी निन्दा सुनने को तैयार नहीं, पर दूसरों की निन्दा करने में हर व्यक्ति तैयार मिलता है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—इस महान आदर्श वाक्य के अनुसार मनुष्य को वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति नहीं करना चाहिए, जिसे वह अपने प्रति होना नहीं चाहता। अर्थात् जब हम दूसरों द्वारा की गई अपनी निन्दा को बुरा समझते हैं, सहन नहीं कर सकते, तब हमें भी दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। जैन आगमों में निन्दक के लिए कहा गया है कि वह पीठ का मांस खानेवाला है अर्थात् पीठपीछे दूसरों की बुराइयों को कहकर वह उनके दिल दुखानेवाला है। अतः निन्दा एक तरह से हिंसा का ही एक प्रकार है; क्योंकि तन, मन, वचन से किसी का भी किसी तरह से दिल दुखाना, दिल को या शरीर को चोट पहुंचाना हिंसा है।

संसार में जितने भी प्राणी है, सभीमें कुछ गुण और कुछ दोष रहते हैं। सर्वथा निर्दोष तो परमात्मा या परमेश्वर माना जाता है। शेष सभीमें गुणों के साथ दोष भी रहे हुए हैं। किसीमें गुणों का आधिक्य है, तो किसीमें दोषों का। जिसे हम एकदम दोषों का भण्डार कहते हैं, उसमें भी कोई-न-कोई गुण या विशेषता खोज करने पर या ध्यान देने पर अवश्य मिलेगी। इसलिए ज्ञानियों ने कहा है कि निन्दा या आलोचना करनी हो तो अपने दोषों की करो, जिससे वे दोष कम हो जायं या नष्ट हो जायं। दोषों के प्रति अरुचि होना, दोषों को दोष के रूप में समझना और दोषों के निवारण में प्रयत्नशील होना—यही गुणवान् बनने का सरल उपाय है। जितने-जितने अंशों में दोष कम होंगे, उतने ही अंशों में गुण प्रकट होंगे। मनुष्य गुणी बनना चाहता है, जिससे लोग उसकी प्रशंसा करें, पर दुर्व्यसनों और दोषों से छूटने का पुरुषार्थ नहीं करता, यही उसकी सबसे बड़ी कमी है।

इतना ही नहीं, मनुष्य इससे विपरीत मार्ग पर भी चलता है। वह अपनी आलोचना या निन्दा न करके दूसरों की निन्दा करता है, जिससे उसे तनिक भी लाभ नहीं होता; अपितु बहुत बड़ी हानि होती है। जिसकी भी निन्दा की जाती है, उससे स्वाभाविक वैर-विरोध बढ़ता है, प्रीति और मैत्री टूट जाती है। वह उसे विरोधी मानकर बदला लेने का भी प्रयत्न करता हैं, फिर चाहे सुयोग न मिलने के कारण वह उसमें सफल न हो सके। निन्दक व्यक्ति को कोई भी अच्छा नहीं मानता, क्योंकि निन्दा एक बुरी आदत है। आज वह किसी एक व्यक्ति की निन्दा करता है तो कल वह दूसरे की भी निन्दा करेगा। आज किसी दोषी व्यक्ति की निन्दा करेगा तो कल वह अपनी उस बुरी आदत के कारण या स्वार्थ के वशीभूत होने से निर्दोष व्यक्ति की भी निन्दा कर बैठेगा। इस निन्दा से उस व्यक्ति के 'अहं' को ठेस पहुंचेगी, जिसकी वह निन्दा करता है। अतएव हानि तो अनेक तरह से होती ही है, लाभ कुछ भी नहीं होता। यदि किसी के वास्तविक दोषों की वह निन्दा करता है सो भी उसकी निन्दा से उस व्यक्ति के दोषों का सुधार नहीं होगा और यदि किसीकी झूठी निन्दा कर देता है तब तो महान् पाप है ही। दूसरों के दोषों की अधिक चर्चा करना, अपने में उन दोषों का प्रादुर्भाव करना है। इसलिए सभी महापुरुषों ने निन्दा को महापाप बतलाया है। सन्त कबीर कहते हैं:

दोष पराये देखकर, चल्या हसंत हसंत।
अपने च्यंति न आवई, जिनका आदि न अंत॥
जै कोउ निंदे साधु कूं, संकट आवै सोय।
नरक मांय जामें मरे, मुक्ति कबहुं न होय॥

लोक बिचारा निंदई, जिन्ह न पाया ज्ञान।
राम नाँव राता रहे, तिनहिं न भावे आन ।।
कबीर घास न निंदिये, जो पांऊ तलि होइ।
ऊड़ि पड़ै जब आँख में, खरा दुहेला होइ ।।

अर्थात्, मनुष्य दूसरों के दोष देखते हुए हँसता है, पर अपने दोषों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता, जिन दोषों का आदि-अन्त ही नहीं है। जो व्यक्ति किसी सत्पुरुष की निन्दा करता है, उसे अवश्य ही संकट मिलेगा, वह नरक में जन्मेगा और मरेगा, उसे मुक्ति कभी नहीं मिलेगी। सन्त कबीर कहते हैं कि अपने पैरोंतले पड़े घास को भी निन्दा न करें, क्योंकि वह छोटा-सा तिनका भी यदि उड़कर आंख में पड़ जायगा तो तुम्हें बहुत दुःख होगा।

बेचारे अज्ञानी जीव दूसरों की निन्दा करते हैं। वास्तव में उन्हें उसके महान् दोष का ज्ञान नहीं है। राम के नाम को रटनेवाले को तो दूसरे की निंदा कभी रुचिकर हो ही नहीं सकती।

हम दूसरों की निन्दा न करें, सन्तों ने केवल इतनी ही शिक्षा नहीं दी, इससे आगे बढ़कर उन्होंने यह भी कहा है कि अपनी निन्दा करनेवालों के प्रति भी तुम द्वेष या घृणा न करो। वे अज्ञानी व्यक्ति स्वयं ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं। अतः वे करुणा के पात्र हैं, घृणा और द्वेष के नहीं। यदि हम उनके द्वारा की जानेवाली निन्दा के प्रति ध्यान न दें तो हमारे मन में कोई बुरा भाव उत्पन्न नहीं होगा। निन्दक तो बिना कुछ लिये ही हमारे पापरूपी मैल को धोकर हमें निर्मल बनाता है। हमारी जिन बातों की वह निन्दा करता है यदि वे दोष हमारे में हैं तो उस व्यक्ति का हमें उपकार ही मानना चाहिए कि उसने हमारे दोषों को बता कर हमें सजग कर दिया, दोषों को दूर करने का हमें मौका दिया। इसीलिए सन्तों ने कहा है कि निन्दक को दूर न करके अपने नजदीक बसाओ, उससे द्वेष न कर उसका आदर करो। सन्त कबीर ने इसी भाव को नीचे पद्यों में बड़े सुन्दर ढंग से कहा है :

निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय।
बिन साबुन बिन पानियां, निरमल करै सुभाय ।।
निन्दक दूर न कीजिये, दीजै आदर मान।
निरमल तन मन सब करै, बक बक आन हि आन ।।

महाकवि 'समय-सुन्दर' ने अपने निन्दा परिहार गीत-काव्य में बड़ा ही सुन्दर प्रबोध दिया है :

(१)

निन्दा न कीजै जीव पराई,
निन्दा पापई पिण्ड भराई।
निन्दक निश्चय नरकहि जाई,
निन्दक चौथा चण्डाल कहाई।
निन्दक रसना अपवित्र होई,
निन्दक मांस भक्षक सम दोई।
'समय सुन्दर' कहई निन्दा न कर जो,
पर गुण देखि हरख मन धर जो।

(२)

निन्दा मत करज्यो कोई नी पारकी रे,
निन्दानै बोल्याँ महापाप रे।
वैर विरोध बाधहि घणा रे,
निन्दा करता न गिणै माई बाप रे ।।१।।
दूर बलती काँ देखो तुम रे,
पगमां बलती देखो सब कोई रे।
परनां मैलमा धोया लुगडा रे,
कहौ किम उजला होइ रे ।।२।।
आपु संभालो सबको आपणो रे
निन्दानी मूको पीर टेव रे।
थोड़ा घणा अवगुणै सब भरचा रे,
केहना नलिया चूयै करवा नैव रे ।।३।।
निन्दा करइ ते थाय नारकी रे,
जप तप कीधुं सब जाई रे।
निन्दा करो तो करजो आपणी रे,
जिम घुटक बारउ थाय रे ।।४।।
गुण ग्रज्यो सहुको तणो रे,
जिहं मां देखउ एक विचार रे।
कृष्ण परइ सुख पामस्यो रे,
'समय सुन्दर' कहइ सुखकार रे ।।५।।

महात्मा बुद्ध ने कहा है—"जो दूसरों के अवगुण बखानता है, वह अपना अवगुण बखानता है।" महाभारत में कहा है—"दुर्जनों को निन्दा में ही आनन्द आता है। सारे रसों को चखकर कौआ गन्दगी से ही तृप्त होता है।"

तमिल में कहा गया है—"निन्दक और जहरीले सांप दोनों के दो-दो जीभें होती हैं।" इसमाइल इब्न अबीबकर ने कहा है—"सारे संसार में विवेक भ्रष्ट वह आदमी है, जो लोगों की निन्दा में दत्तचित्त रहता है, जैसे मक्खी रुग्ण स्थानों पर ही बैठा करती है।"

अजमेर से प्रकाशित 'सविता' में निन्दा के सम्बन्ध में बहुत ही अच्छा लिखा गया है : "निन्दा एक जघन्य पाप है और है एक भयंकर अभिशाप। निन्दा से जितनी हानि स्वयं निन्दक की होती है, उतनी हानि उन व्यक्तियों की नहीं होती, जिनकी निन्दा की जाती है। वे व्यक्ति यदि उदार और समझदार हों तो निन्दक के द्वारा अपने दोषों की चर्चा सुनकर निरन्तर अपना सुधार करते रहते हैं और एक दिन नितांत निर्दोष और निष्पाप बन जाते हैं। यदि वे व्यक्ति क्षुद्राशय होते हैं तो वे बदले में अपने निन्दक की निन्दा करने लगते और स्वयं भी निन्दक बन जाते हैं। अपने-अपने निन्दकों की निन्दा कर-करके स्वयं भी निन्दक बन जाने से ही, संसार में निन्दकों की संख्या इतनी अधिक हो गई है। निन्दा कभी भी सहायता या सुधार के भाव से नहीं की जाती, अपितु क्षुद्राशयता या बदनाम करने की दृष्टि से ही की जाती है। निन्दक की दृष्टि किसी के गुणों पर नहीं, दोषों पर ही पड़ती है। निन्दक दोषों का ही दर्शन करता है, दोषों का ही बखान करता है और दोषों का ही चिन्तन करता है और जो जैसा देखता, बोलता, सुनता और सोचता है, वह स्वयं वैसा ही बन जाता है। दूसरों के दोषों का दर्शन, वर्णन श्रवन और चिन्तन करते-करते निन्दक स्वयं दोषों की खान बन जाता है, वह स्वयं दोषों से भरपूर हो जाता है।"

कुछ लोग कहा करते हैं कि "किसीके वास्तविक दोषों का वर्णन करने में क्या बुराई है ? वह तो सच्ची बात है, निन्दा नहीं।" पर यदि किसीके दोषों को सुधरवाने की हमारी भावना है तो हम उन दोषों का प्रकाशन दूसरों के आगे क्यों करें ? उसी व्यक्ति को ही एकान्त में प्रेमपूर्वक क्यों न समझायें ? यदि हम वैसा करते हैं तो वास्तव में वह एक उपकार का काम है। पर साधारणतया उस व्यक्ति के सामने उसके दोषों को कहते हमें संकोच या भय होता है और दूसरों के सामने मूल व्यक्ति के परोक्ष में बढ़ाचढ़ाकर उसके दोषों का उद्घाटन करते हैं। यह निन्दा ही है। निन्दा और समालोचना में बड़ा अन्तर है, उसे भी हमें ठीक से समझ लेना चाहिए। 'सविता' के उपर्युक्त अंक में इस सम्बन्ध में लिखा गया है कि 'निन्दा और समालोचना में बहुत अन्तर है। निन्दा व्यक्ति की की जाती है और व्यक्तिगत द्वेष के कारण की जाती है। समालोचना कृति, रचना, सिद्धांत, मन्तव्य और मान्यता की की जाती है। ईर्ष्या-द्वेष से रहित होकर सदाशयता के साथ की जाती है।"

निन्दक और समालोचक में भी अन्तर है। जो ईर्ष्या-द्वेष के वशीभूत होकर किसीकी व्यक्तिगत निन्दा करता है, वह निन्दक है और जो निष्पक्ष होकर सदाशयता के साथ शालीनता-पूर्वक किसीकी कृति, रचना सिद्धांत, मन्तव्य या मान्यता की विवेचना करता है, उसे समालोचक कहते हैं। जब समालोचक समोलोचना करता हुआ पक्षपात या द्वेष के कारण निराधार और मिथ्या दोषारोपण करके सम्बन्धित व्यक्ति के व्यक्तित्व पर आक्रमण करता है, तब वह समालोचक समालोचक न रहकर निन्दक बन जाता है। और उसकी समालोचना समालोचना न होकर निन्दा हो जाती है।

समालोचना एक परमोत्कृष्ट कला ही नहीं है, एक परम पुनीत साधना भी है। आस्तिक, धर्मात्मा, निरभिमान, अनहंकार, अनासक्त, निःस्पृह, निर्मल साधनाशील, बहुज्ञ और बहुश्रुत जन ही समालोचक के पुनीत आसन को सुशोभित कर सकते हैं। सच्चा समालोचक बनना एक कठिन साधना है, तो सच्ची समालोचना करना एक अलौकिक सिद्धि है।

संक्षेप में लिखने का सारांश यही है कि आलोचना हम अपने दोषों की करें, दूसरों के तो गुण-ही-गुण ग्रहण करें। "पराई निन्दा करना महापाप है" इस वाक्य को सदा ध्यान में रखें।

परम वैष्णव कवि नरसी मेहता ने 'वैष्णव जन तो तेने कहिए' भजन में किसी की निन्दा न करनेवाले को ही